श्रीमत्सायणाचार्यविरचिता

तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका

एवम्

ऋग्वेदभाष्यभूमिका



प्रथम संस्करण : १   डॉ० कमलनयन शर्मा

स्वामी पराङ्कुशाचार्य ग्रन्थमाला—२-३

श्रीमत्सायणाचार्यविरचिता

तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका

एवं

ऋग्वेदभाष्यभूमिका

हिन्दी व्याख्या संवलिता

प्रस्तावना—लेखक

मीमांसावेदान्तसाहित्याचार्यसाहित्यरत्न

डॉ० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, एम० ए०, पी-एच० डी०

अध्यक्षचर

धर्मशास्त्रमीमांसा विभाग, संस्कृत महाविद्यालय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५

हिन्दी व्याख्याकार

न्यायव्याकरणमीमांसावेदान्ताचार्य लब्धस्वर्णपदक

डॉ० कमलनयन शर्मा, एम० ए० पी-एच डी०

व्याख्याता (अस्थायी)

धर्मशास्त्रमीमांसा विभाग, संस्कृत महाविद्यालय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५

प्रकाशक :

कमलापति शर्मा

ग्रा०-सरवानीचक, पो०–दौलतपुर (मसौढ़ी)

पटना

वाराणसी १९७९

मूल्य : दस रुपये

मुद्रक :

केशव प्रसाद सिंह

हिन्द प्रिंटिंग वर्क्स

भदैनी, वाराणसी–१

श्रीः

आशीर्वाद

न्यायव्याकरणाचार्य
डॉ० श्रीनारायण मिश्र

एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर, कला-सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वेदभाष्यकारों में सायणाचार्य प्रमुखतम हैं। इन्होंने सभी वेदों के भाष्य के प्रारम्भ में एक-एक भूमिका लिखी है, जो अपने आप में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ से कम नहीं। इन्हीं भूमिकाओं की शृंखला में "तैत्तिरीयभाष्यभूमिका" तथा "ऋग्वेद-भाष्यभूमिका" भी है। अन्य भूमिकाओं के समान ये दोनों भी सायणाचार्य की एक पाण्डित्यपूर्ण कृति है। इनमें वेदाध्ययन तथा मीमांसा-सम्बन्धी समस्त विषयों का तथा विभिन्न शास्त्रों का यथासम्भव पूर्वपक्षीय एवम् उत्तरपक्षीय मान्यताओं से अनुस्यूत विवेचन किया गया है। अतएव ये अत्यन्त जटिल हैं; परन्तु बहुत ही उपादेय होने के कारण इनका अध्ययन वेद-मीमांसा के छात्रों के लिये परमावश्यक है। तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका की किसी व्याख्या के अभाव में इसके अध्ययन में छात्रों की कठिनाई को देखकर डॉ० कमल नयन शर्मा जी ने इसकी प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या बहुत ही स्पष्ट शैली में ग्रन्थ के आशय को प्रस्तुत करने के कारण छात्रों के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगी—यह हमारा विश्वास है।

ऋग्वेदभाष्यभूमिका की अनेक व्याख्यायें प्रकाशित हो चुकी हैं; तथापि इस व्याख्या के सर्वातिशायी होने के कारण यह छात्रों के लिये ग्राह्य होगी। इसमें ग्रन्थ के भाव को अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। बीच-बीच में कुछ कठिन शब्दों के अर्थों का भी निर्देश किया गया है। हमारा पूर्ण विश्वास है कि इससे छात्रों को अत्यन्त लाभ होगा।

हम इस सत्कार्य के लिये श्री शर्मा जी को साधुवाद देते हुए यह शुभ कामना करते हैं कि ये भविष्य में भी ऐसे ग्रन्थों की हिन्दी व्याख्या लिखकर राष्ट्रभाषा का सम्वर्द्धन एवं छात्रों का उपकार करते रहें।

श्रीनारायण मिश्र

॥ श्रीनिवासोविजयतेतराम् ॥ श्रीमते पराङ्कुशमुनये नमः ।

प्राक्कथन

जब मैं दो जनवरी उन्नीस सौ पचहत्तर को काशी हिन्दू विश्वविद्यालयीय संस्कृत महाविद्यालय के धर्मशास्त्रमीमांसा विभाग में मीमांसा के अस्थायी व्याख्याता पद पर नियुक्त हुआ, तो अध्यापन के सन्दर्भ में मेरे सामने अनेक ग्रन्थ आये। उन्हीं में से एक छोटी-सी पुस्तक "तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका" भी थी। छोटी होते हुए भी मीमांसा के उपयोगी पदार्थों के विवेचन को देखकर ही मनीषियों ने पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में इसे स्वीकार किया होगा; परन्तु अत्यधिक छोटी पुस्तक होने के कारण यह बाजार में उपलब्ध नहीं थी। प्रकाशक लोग तो अपना लाभ पहले देखते हैं जिससे कम लाभ की सम्भावना हो, तो उनकी पाण्डुलिपि सड़ते रह जाय, किन्तु उनको अवकाश कभी भी नहीं मिलता।

छात्र-बन्धु बार-बार आकर कहा करते थे कि यह पुस्तक कहीं मिलती नहीं है। अतः इसको पाठ्य-ग्रन्थ की सूची से निकाल देना चाहिए या छपवाने की व्यवस्था करनी चाहिए। मेरे मन में आया कि जो ग्रन्थ अनुपलब्ध हो . उसको उपलब्ध कराना ही समुचित मार्ग है। फलस्वरूप मैंने सोचा कि इसे हिन्दी व्याख्या के साथ प्रकाशित कराया जाय। वर्षों कई प्रकाशकों के पास सड़ते-सड़ते मेरे पास पाण्डुलिपि पुनः लौट आयी।

उसके बाद असीम करुणावरुणालय भगवान् वेङ्कटेश्वर की प्रेरणा से उसे स्वयं प्रकाशित कराने का सङ्कल्प किया; जिससे कम-से-कम छात्रों को पुस्तक मिल जाय। जब प्रकाशन की बातचीत हुई, तो मेरे मित्रवर श्री परमानन्द शर्मा, एम. ए., साहित्याचार्य ने कहा कि यह पुस्तक बहुत छोटी है। अतः इसके साथ "ऋग्वेदभाष्यभूमिका" को भी जोड़ दिया जाय, तो बहुत अच्छा होगा। मैं लाचार था; क्योंकि मेरे पास उसका अनुवाद नहीं था। लेकिन उन्होंने पुस्तक आदि के द्वारा सहयोग देने का वचन दिया और उत्साह का सम्वर्द्धन किया।

उनके कथनानुसार मैं कार्य प्रारम्भ कर दिया और प्रेस में भी कार्य प्रारम्भ हो गया, जिससे मुझे शीघ्रता करनी पड़ी। इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं, किन्तु इसको अत्यधिक उपयोगी बनाने का यथा-सम्भव प्रयास किया गया है, जिसके परीक्षक पाठक-गण होंगे। मीमांसा के ग्रन्थों को सुलभ और सुबोध बनाना ही मेरा एकमात्र उद्देश्य है। मीमांसा जैसे समाजोपयोगी दर्शन समाज से बहुत दूर

चला गया है। इसके अनेक कारणों में से एक कारण ग्रन्थों का अत्यन्त अभाव भी है। यथासम्भव इस अभाव को दूर करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

इस महान् कर्त्तव्य-पालन-पथ-प्रदर्शक भगवदनुग्रह के साथ-साथ तत्स्वरूप मेरे प्रातः स्मरणीय पूज्य आचार्य लोग भी हैं, जिनका निर्देशन ही मेरे जीवन का सम्वल रहा है। उनमें सबसे पहले मैं पूज्य गुरुवर डॉ० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर जी के चरणों में प्रणाम करता हूँ, जिनका मेरे प्रति वात्सल्य का मापदण्ड नहीं है। जिनके लिये मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि "सदाचार्यस्य नैवास्ति विशेषः पुत्रशिष्ययोः" का सिद्धान्त उनके समुदाचार का समुज्ज्वल समुद्घोष है।

पूजनीय गुरुवर डॉ० श्रीनारायण मिश्र जी रीडर, संस्कृत-पालि विभाग, का० हि० वि० वि० का उत्साह-सम्वर्द्धन मैं कभी भी भूल नहीं सकता। कितना भी कठिन कार्य सामने आ धमकता है, उसका समाधान इतने सरल तरीके से कर देते हैं कि मनुष्य कार्य-काठिन्य से पराजित नहीं हो सकता। वे छात्रों के सामने किसी भी कार्य को वहुत कठिन कभी भी नहीं कहते हैं। यह कभी नहीं कहते कि यः काम आप से नहीं हो सकता या यह आप नहीं पढ़ सकते अथवा नहीं लिख सकते। आप सब कर सकते हैं, अभ्यास करें, परिश्रम से संलग्न रहें—ऐसा उपदेश डूबते हुए को सहारा हो जाता है। उनके पास जाने पर कार्यों की सभी कठिनाइयाँ तथा उलझनें समूल विनष्ट हो जातीं हैं। उन्हीं का मार्गदर्शन मेरे जीवन का प्रज्वलित प्रदीप है। अतः उनके चरण-कमलों में शतशः प्रणाम करके अपने को धन्य समझता हूँ।

मेरे अत्यन्त निकट सहयोगी मित्रवर श्री परमानन्द शर्मा एम०ए० साहित्याचार्य के सहयोग के लिये केवल वचन-पुष्पोपहार समर्पण कर कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

उसके बाद मैं अपने मित्र श्री श्रीनिवास शर्मा के सहयोग को भी कभी नहीं भूल सकता, जिन्होंने अपना अमूल्य समय-प्रदान करके 'प्रूफ' आदि का संशोधन किया है। बीच-बीच में मैं अस्वस्थ भी हो गया, तथापि उन्होंने अपने ऊपर पूरा भार वहन कर पुस्तक-प्रकाशन-कार्य को अवाध गति से चलाया है। अतः उनकी बुद्धि-प्रतिभा की वृद्धि तथा चिरायु होने की कामना करते हुए आभार प्रकट करता हूँ।

प्रेस के प्रबन्ध-सम्पादक श्री सिंह साहब तथा सीसकाक्षरयोजक आदि उनके सभी कर्मचारियों को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिनलोगों की तत्परता से यह पुस्तक अत्यन्त शीघ्र ही प्रकाशित हो पायी है। श्री सिंह साहब एक कर्मठ व्यक्ति हैं, जिनका वृद्धावस्था का परिश्रम नौजवानों को मात कर देता है।

कमलनयन शर्मा

।। साङ्केतिकपद विवरण ।।

आप०	आपस्तम्ब
आप० परि०	आपस्तम्ब परिभाषा
आश्व श्रौ० सू०	आश्वलायनश्रौत सूत्र
ऋ० सं०	ऋग्वेदसंहिता
ऐ० आ०	ऐतरेय आरण्यक
ऐ० उ०	ऐतरेय उपनिषद्
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
का० अ०	कात्यायन अनुक्रमणी
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्
जै० न्या० मा०	जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
जै० सू०	जैमिनीय सूत्र
ता० ब्रा	ताण्ड्य ब्राह्मण
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
नि०	निरुक्त
नृ० ता० उ०	नृसिंह तापनीयोपनिषद्
पा० शि०	पाणिनीय शिक्षा
पा० सू०	पाणिनीय सूत्र
बृ० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्
बृ० उ० वा०	बृहदारण्यक उपनिषद् वार्त्तिक
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
ब्र० सू० शां भा०	ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य
मनु०	मनुस्मृति
मु० उ०	मुण्डक उपनिषद्
मै० सं०	मैत्रायणी संहिता
या० स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
वा० सं०	वाजसनेयी संहिता
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शा० भा०	शाबर भाष्य

★

तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिकायाः

विषयानुक्रमणिका

विषयाः	पृष्ठम्
मङ्गलाचरणम्	१
वेद-लक्षणम्	२
अनुबन्ध-चतुष्टयम्	५
स्त्रीशूद्रयोः धर्मज्ञानहेतुत्वप्रतिपादनम्	५
वेदापौरुषेयत्वविचारः	७
वेदाध्ययन-फलम्	११
ब्रह्महत्यादितारतम्यादिविचारः	१२
अर्थवादविचारः	१५
नैमित्तिकादिकर्मविचारः	१७
मुक्तिविचारः	१८
प्रकृत्यादिलक्षणम्	१९
दर्शपूर्णमासे[illegible] पूर्वभावित्वविवेचनम्	२०
त्रयोदशानुवाकीय-विषय-वर्णनम्	२२
वत्सापाकरणम्	२३
ऋष्यादीनां ज्ञानस्यावश्यकता	२४

ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिकायाः

विषयानुक्रमणिका

विषयाः	पृष्ठम्
मङ्गलाचरणम्	२७
यजुर्वेदस्य प्रथमव्याख्यानानौचित्यप्रतिपादनम्	३२
यजुर्वेदस्य प्रथमव्याख्यानसमर्थनम्	३७

विषयाः	पृष्ठम्
वेदानां सद्भावासद्भावविचारः	४४
मन्त्रभागस्य प्रामाण्याप्रामाण्यविचारः	५१
मन्त्राणां विवक्षितार्थत्वाविवक्षितार्थत्वविचारः	५७-५८
ब्राह्मणभागप्रामाण्यनिरूपणम्	८१
अर्थवादानां प्रामाण्याप्रामाण्यविचारः	८९
वेदानां पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वविचारः	११३
मन्त्रब्राह्मणयोः स्वरूपनिर्णयः	१२०
मन्त्रत्रैविध्यविचारः	१२९
वेदाध्ययनस्यावश्यकता	१३१
वेदाध्ययनस्य फलप्रतिपादनम्	१३४
अध्ययनस्यार्थवोधपर्यवसायित्वविचारः	१४५
अवेदर्थज्ञस्य निन्दा वेदार्थज्ञस्य च प्रशंसाप्रतिपादनम्	१५५
वेदस्यानुवन्धचतुष्टयनिरूपणम्	१७०
परापरविद्यानां भेदप्रदर्शनपूर्वकं षडङ्गानामुद्देशनिरूपणम्	१७४
शिक्षा-निरूपणम्	१७५
कल्प-निरूपणम्	१७८
व्याकरणाङ्गस्य-निरूपणम्	१८१
निरुक्ताङ्ग-निरूपणम्	२०४
छन्दोग्रन्थ-प्रयोजन-प्रदर्शनम्	२०८
ज्योतिषस्य प्रयोजननिर्देशः	२०९
पुराणादीनां वेदार्थज्ञानोपयोगित्वम्	२११
वेदविद्याग्रहणेऽधिकारिविशेषनिरूपणम्	२१३

★

॥ श्रीः ॥

प्रस्तावना

वेद्—भारतीय धर्म और संस्कृति का मूल आधारभूत ग्रन्थ 'वेद' है। यह विश्व का प्रथम वाङ्मय है। भारतीय आचार-विचार, रहन-सहन, धर्म-कर्म को समझने के लिए वेदों का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। 'वेद' शब्द की निष्पत्ति 'विद्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के जोड़ने पर होती है। 'विद्' धातु अदादि, रुधादि, तनादि, दिवादि, तथा चुरादि इन पाँच गणों में पाया जाता है। इनसे ज्ञान, सत्ता, लाभ, विचार, आख्यान आदि सभी अर्थ निकलते हैं। लाभ शब्द से जीवनरूप स्थिति को समझा जा सकता है। सत्ता शब्द से उत्पत्ति। उत्पत्ति, स्थिति दोनों ही 'विद्' धातु के अर्थ में अन्तर्भूत हैं। अतः 'वेद' शब्द के ज्ञान, ज्ञानसाधन; ज्ञानकर्म, ज्ञानाधिकरण, सत्ता; सत्तासाधन; सत्ताकर्म; सत्ताधिकरण, स्थिति; स्थितिसाधन; स्थितिकर्म; स्थित्यधिकरण आदि अनेक अर्थ बताये जा सकते हैं। किन्तु विद्वान् लोग ग्रन्थरूप वेदों में 'शब्दज्ञानसाधनत्व' रूप अर्थ को ही समन्वित करते हैं। 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' इस दृष्टि से तो शब्दों में कामदोग्धृत्व है। व्याकरण, कोष आदि के बल पर 'वेद' शब्द के अनेक विलक्षण अर्थ भी किये जा सकते हैं तथापि 'योगाद्रूढिर्बलीयसी' नियम के अनुसार 'वेद' शब्द का योगरूढ़ अर्थ करना ही स्वाभाविक है। मनोविनोद के लिये कितने ही अन्य अर्थों को भी किया जा सकता है। वह दूसरी बात है। शब्दराशिबोधक 'वेद' शब्द आद्युदात्त है, और कुशमुष्टि आदि का बोधक 'वेद' शब्द अन्त्योदात्त है। यहीं कारण है कि पाणिनि ने 'वेद' शब्द का पाठ उञ्छादिगण और ऋष्यादिगण इन दो गणों में किया है। अतः मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशि में ही मुख्यतः 'वेद' शब्द का प्रयोग किया जाता है। लौकिक पदार्थों को देखने के लिये जिस प्रकार चक्षु की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अलौकिक तत्वों के रहस्य को जानने के लिये 'वेद' की आवश्यकता है। इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपाय को बताने वाला ग्रन्थ एक मात्र 'वेद' ही है। यह वेद, प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा दुर्बोध तथा अज्ञेय उपायों

का ज्ञान स्वयं करा देता है। तात्पर्य यह है कि अलौकिक उपायों के जानने का एकमात्र साधन भारतीयों के पास 'वेद' ही है[१]। अतः वेदों का स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक तथा उपादेय है[२]। प्राचीनकाल में ऋषियों को मन्त्रदर्शन (वेद-दर्शन) का लाभ हुआ, इस कारण यह 'वेद' नाम से प्रसिद्ध हुआ। सत्, चित्, आनन्द ही ब्रह्म का स्वरूप है, इसलिये 'वेद' को ब्रह्म शब्द से कहा जाता है।

वेद का आविष्कार—वेद वाङ्मय के आविष्कार के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। तथापि प्रत्यक्ष वैदिक वाङ्मय में कुछ उल्लेख उपलब्ध होते हैं। सृष्टिक्रम के मूल की ओर दृष्टि ले जाने पर किसी स्वतःप्रमाण तत्त्व को मानना आवश्यक हो जाता है। उसी को ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर या महाभूत कहा गया है। उस महाभूत के निःश्वास ही ये 'वेद' हैं[३]। सायणाचार्य भी कहते हैं—'जिसके निःश्वास ही 'वेद' हैं, जिसने वेद के आधार पर ही सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण किया, उन विद्यास्वरूप पवित्र परमेश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ[४]।'

अत्यन्त प्राचीनकाल में प्राचीन ऋषियों को इस वेद वाङ्मय का साक्षात्कार हुआ, इसी कारण उन साक्षात्कार करने वालों को 'ऋषि' कहा जाने लगा। यास्क ने कहा है कि ऋषियों ने तपोविशेष के बल पर धर्म का साक्षात्कार किया। जब उन्होंने साक्षात्कार न किये हुए लोगों को देखा, तब करुणा से द्रवित होकर वेदों का उपदेश ग्रन्थतः तथा अर्थतः दोनों प्रकार से किया। प्राचीन-ऋषियों ने श्रवण के बिना ही धर्म का साक्षात् दर्शन किया था, अतः द्रष्टा होने के कारण उनका ऋषित्व स्वतः सिद्ध था। परन्तु पिछले ऋषियों ने पहले वेदों का ग्रन्थ तथा अर्थ

---

१. 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥'

२. 'यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददत् लोकं जयति, त्रिभिस्तावन्तं जयति, भूयांसं च अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।' —(श० प० ११।५।६।१)

३. (बृ० उ० २।४।१०)

४. 'यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।

रूप से श्रवण किया और तदनन्तर वे धर्म का साक्षात्कार कर पाये। इसलिये उन्हें 'श्रुतर्षि' कहा जाने लगा[1]। तात्पर्य यह है कि 'वेद' देखे गये हैं। कौषीतकि ब्राह्मण[2] और ऐतरेय ब्राह्मण[3] भी इस कथन का समर्थन करते हैं। सूक्तों के ऊपर जो ऋषियों के नाम रहते हैं, वे ऋषि उन सूक्तों के रचयिता नहीं हैं, अपितु मन्त्र-दर्शक हैं। निरुक्तकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—'ऋषिर्दर्शनात्' (नि० नै० का० २।११), सर्वानुक्रमसूत्र में भी ऋषि को स्मर्त्ता या द्रष्टा कहा है। याज्ञवल्क्य भी यही कहते हैं। शंकराचार्य ने भी इसी का समर्थन अपने शारीरिक भाष्य (२।३।१) में किया है। किन्तु पाश्चात्त्य विद्वान् अपनी लौकिक बुद्धि तथा लौकिक दृष्टि से ही अलौकिक वेद को देखते हैं, इस कारण उनका विचार और उनका मत भारतीय परम्परा के विपरीत हो जाता है। पाश्चात्त्य विद्वानों की एकमात्र आधिभौतिक दृष्टि है, उसी से वे वेद का विचार करते हैं। इस कारण उनका कहना है कि 'वेद' सामान्य ग्रन्थों के तुल्य ऋषिप्रणीत शब्दराशि है। जो ऋषि जिस मन्त्र से या सूक्त से सम्बद्ध है, वह उसका रचयिता है। 'मन्त्रकार', 'सूक्तकार' आदि शब्दों को देखकर कह देते हैं कि ये ऋषि इन मन्त्रों के या सूक्तों के निर्माता (रचयिता) हैं, किन्तु वे सुवर्णकार, मणिकार आदि शब्दों के लौकिक व्यवहार को भी उस समय भूल जाते हैं, सुवर्णकार या मणिकार कह देने से वह सुवर्ण का या मणि का निर्माता या रचयिता (उत्पादक) नहीं समझा जाता। इस रहस्य को ध्यान में रखकर भारतीय परम्परा में एक स्वर से ऋषियों को वैदिक मन्त्रों का द्रष्टा ही माना गया है, कर्त्ता नहीं।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥'—(सायण)

१. 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः।—(यास्क), अवरेभ्यः अवरकालीनेभ्यः शक्तिहीनेभ्यः श्रुतर्षिभ्यः। तेषां हि श्रुत्वा ततः पश्चादृषित्वमुपजायते, न यथा पूर्वेषां साक्षात्कृतधर्माणां श्रवणमन्तरेणैव।—(दुर्गाचार्य)

२. (कौ० ब्रा० १०।३०)

३. (ऐ० ब्रा० ३।९)

हमारे ऋषिगण अलौकिक सामर्थ्य-सम्पन्न थे। उन्होंने अपनी दैवी प्रतिभा के बलपर प्रातिभचक्षु से मन्त्रों का दर्शन किया था[१]। अनेक मन्त्रों में वशिष्ठ को अलौकिक रीति से प्राप्त ज्ञान का उल्लेख है[२]। ऋषियों के भीतर दिव्यवाक् के प्रवेश करने का स्पष्ट निर्देश है[३]। वैदिक वाणी की नित्यता के भी स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं[४]। 'ऋषि' शब्द 'ऋष्' गतौ धातु से औणादिक 'इन्' प्रत्यय[५] लगाकर निष्पन्न किया जाता है इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'मन्त्रद्रष्टा[६]' होता है।

आस्तिक-नास्तिक दर्शनों का जो भेद हुआ वह वेद-प्रामाण्य को लेकर ही हुआ है। नास्तिक दर्शनों ने वेद के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं किया, किन्तु आस्तिक दर्शनों ने विशेषतः नैयायिक और मीमांसकों ने नास्तिक दर्शनकारों के तर्कों का अकाट्य युक्तियों से जोरदार खण्डन किया और अपने मत (वेद-प्रामाण्य) को पुष्ट किया है। यह बात श्लोकवार्तिक के 'शब्दनित्यत्वाधिकरण' से स्पष्ट होती है। आस्तिक दार्शनिक नैयायिक, मीमांसकों में भी किञ्चित् भिन्नता पाई जाती है। नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं, किन्तु मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं।

नैयायिकों की दृष्टि से वेद का प्रामाण्य — नैयायिक कहते हैं—'मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्चतत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्[७]' वेद का प्रामाण्य आप्तप्रामाण्य पर निर्भर है। परमेश्वर के उपदिष्ट वाक्य ही वेद हैं, और वह परमेश्वर नित्य एवं सर्वज्ञ होने के कारण वेद का प्रामाण्य है। जयन्तभट्ट तथा वैशेषिक दर्शन ने भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि की है। मीमांसकों के शब्दनित्यत्व का खण्डन कर

---

१. (ऋ० वे० ७।३३।७-१३)

२. (ऋ० वे० ७।८७।४, ७।८८।४)।

३. 'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्, तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।' (ऋ० १०।७१।३)

४. 'वाचा विरूपनित्यया'—(ऋ० ८।७५।६)।

५. 'इन् सर्वधातुभ्यः'—(उ० सू० ४।१२६)।

६. 'ऋषिः मन्त्रद्रष्टा। गत्यर्थत्वाद् ऋषेर्ज्ञानार्थत्वात् मन्त्रं दृष्टवन्त ऋषयः।'

७. (न्या० सू० २।१।६८)।

नैयायिकों ने उसके अनित्यत्व को सिद्ध किया है।[1] तथापि वह (नैयायिक) वेद को नित्य मानता है। भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार त्रैकालिक-सम्प्रदायाऽविच्छेद नित्यत्व है। अर्थात् युगारम्भ तथा मन्वन्तरारम्भ में वेद का अध्ययन-अध्यापन अव्याहत रहता है। महाप्रलय होने पर भी इस प्रक्रिया में कोई त्रुटि नहीं होती। तात्पर्य टीका के अनुसार महाप्रलय में नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर वेद को सुरक्षित रख-कर सृष्टि के आरम्भ में स्वयं ही सम्प्रदाय का प्रवर्तन करते हैं।[2]

योगभाष्यकार व्यास ने भी कहा है कि परमेश्वर बद्धजीवों पर अनुग्रह करता है, उनके उद्धार के लिये ही प्रलय के पश्चात् वह पुनः ज्ञान तथा धर्म का उपदेश देता है।[3] तात्पर्य यह है कि न्याय-वैशेषिक दर्शनों के अनुसार वेद अपौरुषेय (ईश्वरकृत) हैं और नित्य हैं।

सांख्य की दृष्टि से वेद का प्रामाण्य सांख्य-दर्शनकार का कहना है कि वेद अपौरुषेय हैं; क्योंकि बद्ध और मुक्त पुरुषों में वेद रचना की योग्यता नहीं है। विष्णु विशुद्धसत्त्व सम्पन्न होने के कारण उनमें निरतिशय सर्वज्ञता तो अवश्य है किन्तु वीतराग होने से वेद-रचना वे नहीं कर सकते और अमुक्त पुरुष तो असर्वज्ञ होने के कारण अयोग्य ही है[4]। सांख्य का कहना है कि पुरुष के द्वारा उच्चरित होने मात्र से ही कोई वस्तु पौरुषेय नहीं होती, प्रत्युत दृष्ट के समान अदृष्ट में भी बुद्धि-पूर्वक निर्माण होने पर ही पौरुषेय कहलाती है[5]। वेदों को उस महाभूत-निःश्वास-रूप बताया है। श्वास, प्रश्वास तो स्वतः होते रहते हैं, इनके उत्पादन में पुरुष को अपनी बुद्धि का उपयोग नहीं करना पड़ता।

१. भामती —(१।१।३) श्वेतवनवासिरचित वृत्ति उणादिसूत्र, ४।१२९।

२. महाप्रलये तु ईश्वरेण वेदान् प्रणीय सृष्ट्यादौ स्वयमेव सम्प्रदायः प्रवर्त्यते एवेति भावः—वाचस्पति।

३. तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्। ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्प-प्रलय-महाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति।—(यो० भा० १।२५)

४. (सां० सू० ५।४७ सांख्यप्रवचनभाष्य)।

५. 'यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत् पौरुषेयम्'—(सां० सू० ५।५०)।

उस महाभूत के निःश्वासरूप वेद अदृष्टवशात् अबुद्धिपूर्वक विना प्रयत्न के स्वतः ही आविर्भूत होते हैं, इस कारण 'वेद' पौरुषेय न होकर अपौरुषेय हैं। और अपनी यथार्थज्ञानोत्पादिनी शक्ति की अभिव्यक्ति के कारण 'वेद' स्वतःप्रमाण हैं[1]। उनका प्रामाण्य नैयायिकों के समान आप्त-प्रामाण्य पर आश्रित नहीं है।

वेदान्त की दृष्टि से वेद का प्रामाण्य — 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।२) सूत्र के भाष्य में श्री शंकराचार्य ने ब्रह्म को वेद की योनि (कारण) कहा है, तथापि यह कारणता ग्रन्थकर्तृता के रूप में नहीं है। पुरुष निःश्वास के समान विना प्रयत्न के ही लीलान्याय से उस पुरुष से संभून बताये हैं[2]। उनकी उत्पत्ति में उसका कोई प्रयत्न नहीं है और वे नित्य हैं[3]। प्रलय में उनका केवल तिरोधान होता है और सृष्टि के आरंभ में महर्षियों को अपनी तपस्या के बल पर पुनः उन वेदों को स्फुर्ति होती है। सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न करने वाले उच्चारण का विषय होना ही 'पौरुषेयत्व' है। वेद का उच्चारण इस प्रकार नहीं है। पूर्व सृष्टि में सिद्ध वेदों की आनुपूर्वी के समान आनुपूर्वी वाले वेद का परमेश्वर ने उपदेश किया। अतः 'वेद' अपौरुषेय कहलाता है[4]।

मीमांसकों की दृष्टि से वेद का प्रामाण्य — मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं। मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित 'शब्दनित्यत्व' आज वैज्ञानिक युग में भी विशेष महत्त्व रखता है। 'शब्द' क्रमशः विकीर्ण होने पर, अनेक स्थानों में फैल जाने पर वह लघु तथा अश्रुत हो जाता है। शब्द अश्रुत होने पर भी लुप्त नहीं होता। 'शब्द करो' कहते ही आकाश में अन्तर्हित शब्द, तालु तथा जिह्वा आदि के संयोग से आविर्भूत मात्र होता है, उत्पन्न नहीं होता।[5] अनेक व्यक्तियों द्वारा एक साथ उच्चारण करने पर भी 'शब्द' एकरूप ही रहता है, वृद्धि तो केवल नाद की होती

---

१. 'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्'—(सां० सू० ५।५१)।
२. (ब्र० सू० १।१।२ पर शांकरभाष्य)।
३. 'अत एव च नित्यत्वम्'—(ब्र० सू० १।३।२९)।
४. वेदान्त परिभाषा, आगमपरिच्छेद का अन्त।
५. (मी० सू० १।१।१४)।

है। 'नाद' का अर्थ है, उच्चारण-जन्य ध्वनि। नाद तथा शब्द में अन्तर है। नाद अनित्य होता है, किन्तु शब्द नित्य है।[१] नित्य शब्द के राशिभूत 'वेद' का नित्य होना स्वाभाविक ही है। इनके मत में शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ सम्बन्ध ये तीनों नित्य हैं।[२] अतः वेद की नित्यता तथा स्वतःप्रामाण्य स्पष्ट है। उसी तरह 'वेद' अपौरुषेय है, वह स्वयं प्रकट होने वाला नित्य पदार्थ है। उसका रचयिता परमेश्वर भी नहीं है। काठक, कौथुमादि आख्याएँ प्रवचन के कारण प्रसिद्ध हुई हैं।[३] 'ववरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।२।२।१) आदि वाक्यों में व्यक्ति के नाम निर्देश का भ्रम हो जाने से उस व्यक्ति के अनन्तर वेद की उत्पत्ति हुई होगी, अतः उसे अनित्य कह देते हैं। किन्तु यहाँ 'बवर' नाम का कोई व्यक्ति न होकर प्रवहण स्वभावशील बवर ध्वनियुक्त वायु का निर्देश किया गया है।[४] वनस्पति और सर्पों के सत्र करने का जो उल्लेख है, वह तो अर्थवाद है, वह अधिकारी पुरुष को अनुष्ठानार्थ उत्साहित करता है। महाभारत, रामायण की तरह वेद के कर्ता के रूप में किसी व्यक्ति का स्मरण या उल्लेख आज तक किसी को नहीं हुआ है। नाराशंसी गाथाओं में ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम यद्यपि उपलब्ध होते हैं, तथापि उनका तात्पर्य आगामी युगों में उन व्यक्तियों के आविर्भाव में है। अतीत युग में उत्पन्न व्यक्तियों का उल्लेख वेद में नहीं है। अतः वेद नित्य और स्वतः प्रमाण है। ऋग्वेद में वेद-मन्त्रों के लिये 'नित्या वाक्' कहा गया है।[५] स्मृति और पुराणों की भी वेद-विषयक भावना अधिकतर मीमांसक मत के अनुकूल ही है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि वेद मंत्र के प्रत्येक पद में अथवा शब्द के एक-एक अक्षर में एक विलक्षण सामर्थ्य है। शतपथ ने प्रत्येक अक्षर का रहस्य स्पष्ट किया है। माण्डूक्य उपनिषद् ने तो पद निर्मापक मात्राओं का उच्चारण भी विलक्षण सामर्थ्य सम्पन्न है, यह बताते हुए ॐ इस एक अक्षर की श्रेष्ठता का वर्णन किया है।

---

१. (मी० सू० १।१।१७)।
२. (मी० सू० १।१।५)।
३. (मी० सू० १।१।३०)।
४. 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्'—(मी० सू० १।१।३१)।
५. 'तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्।'
(ऋ० ८।७५।६)

वेद विभाग—वैदिक वाङ्मय के यद्यपि अनेक विभाग आज दृष्टिगोचर हैं, तथापि अत्यन्त प्राचीन काल में वेद की एक राशि थी। उस एक वेद राशि के अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उसके चार विभाग किये गये।[1] वेद के चार विभाग करने के कारण 'व्यास' यह संज्ञा प्रसिद्ध हुई।[2] वेद के चार भाग प्रत्यक्ष विष्णु ने किये हैं, इस कारण—'व्यासो नारायणः साक्षात्' कहा जाता है।[3] इस प्रकार आज तक वेद के विभाग अट्ठाईस बार हुए हैं। इन अट्ठाईस व्यासों का उल्लेख पुराणों में उपलब्ध होता है। यज्ञों का निरन्तर अनुष्ठान होते रहने के उद्देश्य से एक वेद राशि के ये चार विभाग किये जाने का उल्लेख भागवत पुराण में उपलब्ध होता है।[4] व्यास जी ने अपने पैल, वैशंपायन, जैमिनि और सुमन्तु नामक चार शिष्यों को यथाक्रम से चार वेद पढ़ाये। तदनन्तर इन चारों शिष्यों ने चारों वेदों का प्रवर्त्तन किया। इस प्रकार शिष्य-परम्परा से वेद का संरक्षण हुआ। तदनन्तर उनसे शाखाओं का आविर्भाव 'प्रचार' हुआ, यह 'चरणव्यूह' में बताया है।

वेद संज्ञा—'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'—मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभाग दोनों को 'वेद' कहते हैं।[5] 'मन्त्रभाग' को संहिता कहते हैं और आरण्यक, उपनिषद् आदि को 'ब्राह्मणभाग' कहते हैं।

ऋग्वेद—चारों वेदों में प्रथम स्थान ऋग्वेद को प्राप्त है। आज भी वैदिक विद्वानों के एकत्रित होने पर प्रथम तिलक का सम्मान ऋग्वेदी विद्वान् को ही दिया जाता है। वसन्तपूजा में सर्वप्रथम वेदपाठ ऋग्वेद से ही आरम्भ किया जाता है। इसमें कहीं पर भी और किसी भी वैदिक विद्वान् का वैमत्य नहीं है।

---

१. (अग्नि पु० १५०।२४, वि० पु० ३।४।१, वायु पु० १।१७९, पद्म पु० ५।२।४३)।

२. 'वेदान् विव्यास यस्मात् स वेदव्यास इतीरितः।
तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदान् महामतिः॥'—(म०भा० १।२)

३. विष्णु पु० ३।३।५)।

४. व्यदधात् यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्'—(भाग० पु० १।४।४९)॥

५. शब्दकल्पद्रुम।

ऋग्वेद को विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ कहते हैं। भारतीय परम्परा में चारों वेदों को अपौरुषेय माना जाता है।

ऋक् का अर्थ—छन्दोबद्ध रचना (वर्णानुपूर्वी) को 'ऋक्' कहते हैं। 'ऋक्' शब्द की कतिपय व्याख्यायें इस प्रकार भी की गई हैं—(१) 'ऋच्यन्ते स्तूयन्ते देवा अनया इति ऋक्'--जिससे देवताओं की स्तुति की जाती है, उसे 'ऋक्' कहते हैं।[1] (२) 'पादेनार्धेन चोपेतवृत्तवद्धा मन्त्रा ऋच':--चरण और अर्धी से युक्त वृत्तवद्ध मन्त्र को 'ऋक्' कहते हैं।[2] (३) 'तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' जिस वाक्य में अर्थ (अनुष्टुमादि छन्द) के आधार पर चरणव्यवस्था की जाती है, उसे 'ऋक्' कहते है।[3]

ऋक् संहिता की रूप-रेखा—ऋग्वेद संहिता का विभाग दो तरह से किया गया है—(१) अष्टक, अध्याय, सूक्त। (२) मण्डल, अनुवाक और वर्ग।

१—अष्टक-रचना—ऋग्वेद (ऋक् संहिता) के कुल ६४ अध्याय हैं। आठ अध्यायों का एक '**अष्टक**' होता है। सम्पूर्ण संहिता को कुल आठ अष्टकों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक अध्याय के अवान्तर विभाग को 'वर्ग' कहते हैं। एक वर्ग में साधारणतः ऋक् संख्या ५ रहती है, तथापि कितने ही वर्ग एक ऋक् से नौ ऋचाओं तक के भी पाये जाते हैं। ऋक् संहिता में कुल वर्ग संख्या २००६ है। अध्यायों की सुविधा के लिये वर्ग रचना की गई है।

२—मण्डलरचना—सम्पूर्ण ऋक् संहिता को १० मण्डल में विभक्त किया गया है। प्रत्येक मण्डल में अनेक सूक्त हैं, प्रत्येक सूक्त में अनेक ऋचायें हैं। मण्डल के भी 'गोत्रमण्डल' और 'मिश्रमण्डल'—संज्ञक दो विभाग होते हैं। दो से आठ मण्डल तक की प्रसिद्धि गोत्र, ऋषि और उनके वंशजों के नाम पर होने से इन्हें 'गोत्रमण्डल' कहते हैं। गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ और आठवें के कण्व और आंगिरस ये आठ 'गोत्र' ऋषि हैं। द्वितीय मण्डल से

---

१. जै० न्या० मा० २।१।१२।

२. जै० न्या० मा० २।१।१०।

३. आप० परिभा० ३१।

सप्तम मण्डल तक को ऋग्वेद का गाभा ही समझा जाता है। नवम मण्डल के समस्त सूक्त अकेले सोम देवता को ही लक्ष्य कर कहे गये हैं। सोम का ही दूसरा नाम 'पवमान' है। इस कारण इस मण्डल को 'पवमानमण्डल' कहते हैं। प्रथम और दशम मण्डल के सूक्त (१९१) समान-संख्याक है। इनमें दार्शनिक विचार दृष्टिगोचर होते हैं। कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी में दसों मण्डलों की विविध प्रकार से गणना कर उनमें आये हुए सूक्तों को, तदन्तर्गत ऋचाओं को तदन्तर्गत शब्दों और अक्षरों को भी गिनकर उनकी संख्या लिख दी है। गणना का कोष्ठक इस प्रकार है—**मण्डल**—१०, **सूक्त**—१०१७, **ऋचायें**—१०५८०$\frac{१}{४}$, **शब्द**—१,५३,८३६, **अक्षर**—४,३२,०००।

इनके अतिरिक्त वालखिल्य नामक ११ सूक्त ऋग्वेद-संहिता में हैं। ये वालखिल्य सूक्त आठवें मण्डल में ४९ से ५९ तक हैं और उनके मन्त्रों की संख्या ८० है। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ 'खिलसूक्त' भी हैं। 'खिल' का अर्थ परिशिष्ट है। ऋग्वेद की इतने क्रमवद्ध और वैज्ञानिक शैली से गणना करके सुरक्षा की गई है कि इतना सुदीर्घतर काल व्यतीत होने पर भी उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन या परिवर्धन, या पाठान्तर, या प्रक्षेप करने का किसी को अवसर भी नहीं मिल पाया और न आवश्यकता ही प्रतीत हुई। सृष्टि के आरंभ में वह जिस स्वरूप में था, उसी स्वरूप में आज भी हम उसे यथावत् उपलब्ध कर रहे हैं। यही उसकी अलौकिकता, अपौरुषेयता, नित्यता, स्वतःप्रमाणता है।

शाकल संहिता के प्रत्येक सूक्त के ऊपर उसके ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग लिखे रहते हैं। वेदार्थ जानने के लिये इन चारों का ज्ञान आवश्यक होता है। दसों मण्डलों से सम्बद्ध ऋषियों के विषय में कात्यायन अपनी सर्वानुक्रमणी में लिखते हैं—'शतर्चिन आद्ये मण्डलेऽन्ते क्षुद्रसूक्तमहासूक्ता मध्यमेषु माध्यमाः।' ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ऋषियों को सौ ऋचाओं का द्रष्टा बताया है। अन्तिम मण्डल के ऋषियों को क्षुद्रसूक्त और महासूक्तों का द्रष्टा तथा मध्य के मण्डलों के ऋषियों को 'माध्यम' कहा है। प्रथम मण्डल के ऋषियों को 'शतर्चिनः' कहने का कारण सर्वानुक्रमणि के टीकाकार

षड्गुरुशिष्य ने यह दिया है कि मण्डल के प्रथम ऋषि विश्वामित्र-पुत्र-मधुच्छन्दा ऋषि ने सौ से भी अधिक ऋचाओं को देखा। अतः छात्रिन्याय से उस मण्डल के सभी ऋषियों को यही नाम दिया गया। उसी तरह दशम-मण्डल के नासदीय सूक्त के (१०, १२९) पूर्व और अनन्तर के सूक्तों को क्रमशः महासूक्त और क्षुद्रसूक्त ये नाम दिये हैं। एवं दो से नौ तक के मण्डल को ऋक्संहिता के मध्य-वर्ती होने से उनके ऋषियों को 'माध्यम' संज्ञा दी गई है। प्रारम्भ में वेद एक राशिरूप में था। व्यासजी ने उसके चार विभाग किये, और अपने चार शिष्यों को पृथक् पृथक् पढ़ाया। व्यास ने अपने पैल नामक शिष्य को ऋग्वेद पढ़ाया। पैल ने उसकी दो शाखाएँ की। उनमें से एक बाष्कल को पढ़ाई और दूसरी इन्द्र-प्रमिती को पड़ाई। इन्द्रप्रमिति से माण्डूकेय को, उससे क्रमशः सत्यश्रवा, सत्यहित और सत्यश्रिय को प्राप्त हुई, ऐसा भागवत तथा ब्रह्माण्डपुराण में वर्णित है।

आगे चलकर भिन्न-भिन्न ऋषियों की विशिष्ट प्रवचन शैली के कारण तत्तद् ऋषियों के नाम पर अनेक शाखाएँ हुईं। पतञ्जलि ने अपने व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में 'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्'—ऋग्वेद की २१ शाखाओं को बात कही है। उनमें से शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शाखायन, तथा माण्डूकायन ये ऋग्वेद की शाखायें प्रसिद्ध हैं। उनमें से शाकल शाखा के पाँच प्रकार थे। (१) मुद्गल शाखा, (२) गालव शाखा, (३) शालीय शाखा, (४) वात्स्य शाखा, (५) शौशिरि शाखा। इन पाँच शाकल शाखाओं को मूल शाकल्य, शाकलक अथवा शाकलेयक संहिता थी। वैदिक सम्प्रदाय में इस संहिता के प्रति बड़ा आदर है। उसी प्रकार बाष्कल शाखा के चार प्रकार थे। (१) बोध्यशाखा, (२) अग्निमाठरशाखा, (३) पराशरशाखा, (४) जातुकर्ण्यशाखा। आश्वलायन शाखा के गृह्यसूत्र और श्रौतसूत्र ही केवल वर्तमान समय में उपलब्ध हैं, संहिता आदि उपलब्ध नहीं है। शांखायन शाखा के ब्राह्मण, आरण्यक, कल्पसूत्र ये ग्रन्थ उपलब्ध हैं। शांखायन शाखा के (१) शांखायन, (२) कौषीतकि, (३) महाकौषीतकि और (४) शांबव्य ये चार भेद हैं। माण्डूकायन शाखा का कोई भी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।

प्रतिपाद्यविषय—ऋग्वेद में मुख्यतः यज्ञसम्बन्धित देवताओं की स्तुति, वर्णन तथा उनसे प्रार्थना की गई है। मानवजीवन के लिये उपकारक सुन्दर, तेजस्वी प्रार्थनाओं के साथ ही आर्यों के तत्त्वज्ञान-विषयक विचारों का भी ग्रथन किया गया है। कतिपय सूक्तों में निसर्ग का रमणीय वर्णन भी किया गया है।

सामान्य रूप से सूक्तों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है:—

(१) देवतासूक्त, (२) ध्रुवपदसूक्त, (३) कथासूक्त, (४) संवादसूक्त, (५) दानस्तुतिसूक्त (६) तत्त्वज्ञानसूक्त, (७) संस्कार सूक्त, (८) मांत्रिक-सूक्त, (९) लौकिकसूक्त, (१०) आप्रीसूक्त।

देवतासूक्त—देवतासूक्त में इन्द्र, अग्नि, वरुण, सूर्य; सविता, वायु, उषा, पूषा, आप, अश्विनी, रुद्र, भग, विष्णु, मरुत, विश्वेदेव, सरस्वती, वाक्, द्यावा-पृथिवी आदि देवताओं के रूप, स्वभाव, और माहात्म्य का वर्णन करते हुए स्तुति की गई है।

ध्रुवपदसूक्त– कुछ सूक्तों में मन्त्र के अन्त में निश्चित ध्रुवपद रहता है। इस प्रकार के अनेक सूक्त, ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ कतिपय ध्रुवपद इस प्रकार हैं—

"मरुद्भिरग्न आ गहि।" (ऋ० १।१९)

"मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे।" (ऋ० १।१०१)

"स जनास इन्द्रः।" (ऋ० २।१२)

"महद्देवानामसुरत्वमेकम्।" (ऋ० ३।५५)

"भद्रा इन्द्रस्य रातयः।" (ऋ० ८।६२) आदि।

कथासूक्त—ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में बीजरूप से कतिपय कथाओं का उल्लेख किया गया है, जिनका विस्तृत वर्णन ब्राह्मणग्रन्थ में उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद १।२४ में उल्लिखित शुनःशेप कथा का विस्तृत वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण ५।१४ में किया गया है। ऋ० वे० १।१५४ में उल्लिखित विष्णुसूक्त से शतपथ ब्राह्मण में वामनावतार की कथा ने जन्म लिया है। उसी तरह ऋग्वेद में गोतमकथा, (१।८५), वामदेवकथा (१।२६, २७), श्यावाश्वकथा (५।६१),

सप्तवध्री की कथा (५।७८), दाशराज्ञयुद्ध कथा (७।१८, ३३), नमुचिवध कथा (८।१४) नाभानेदिष्ठ कथा (१०।६१) आदि ।

संवादसूक्त—जिस प्रकार ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तों का सम्बन्ध उपनिषदों के तात्त्विक विवेचन से जोड़ा जाता है उसी प्रकार कुछ सूक्तों का सम्बन्ध काव्य, नाटकों से माना जाता है। ऐसे सूक्तों को संवादसूक्त कहते हैं। भारतीय वाङ्मय में सूक्तों का विशेष महत्त्व है। समस्त संवाद सूक्तों में पुरूरवा—उर्वशी संवाद (ऋ० १०।९५), यम-यमी संवाद (ऋ० १०।१०), सरमा-पणी संवाद (ऋ० १०।१०८), ये तीन सूक्त विशेष महत्त्व रखते हैं। पुरूरवा-उर्वशी संवाद के द्वारा स्त्री- (अप्सरा) पुरुष के प्रेम को बताया गया है। यम-यमी संवाद में स्त्री-पुरुषों के अनिर्बन्ध लैङ्गिक व्यवहार के विषय में संयमात्मक नीति भावना को प्रदर्शित किया गया है। विवेक के जागरित होने पर उदित हुए संयम का यह उत्कृष्ट उदाहरण है। तीसरे सरमा-पणी संवाद में समाज की स्थिति का चित्र खींचा गया है। इसमें 'पणि' नामक लोगों ने आर्यों की गौओं का अपहरण किया और उन्हें अन्धकारमय गुफाओं में छिपाकर रखा। उनको वापस लाने के लिये इन्द्र ने अपनी 'सरमा' नाम की कुतिया को दूती के रूप में पणियों के यहाँ भेजा। उसने पणियों के यहाँ जाकर इन्द्र की और आर्यों के पराक्रम की स्तुति की और पणियों को डरा-धमकाकर गौओं को वापस करने के लिये उसने कहा। इस प्रकार सरमा की निर्भयता एवं स्पष्टवक्तृता और स्वामिनिष्ठा व्यक्त की गई है।

दानस्तुतिसूक्त—इन सूक्तों में अनेक राजाओं के द्वारा ऋषियों को अश्व, गौएँ, बैल, धन आदि का जब दान दिया गया तब ऋषियों ने उन दानकर्ता राजाओं की स्तुति की है। कात्यायन की ऋक्सर्वानुक्रमणी में दानस्तुति विषयक २२ सूक्तों का उल्लेख है, किन्तु आधुनिक विद्वान् उनकी संख्या ६८ बताते हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ११७वें सूक्त में दानमाहात्म्य का ओजस्वी वर्णन पठनीय है।[1]

---

१. "मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः। सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमाणं पुष्यति नो सखायं। केवलाघो भवति केवलादी ॥"

(ऋ०वे० १०।११७ सू०)

उसमें बताया गया है कि "उस मूर्ख ने अन्न प्राप्त करने के लिये व्यर्थ श्रम अपनाया। मैं सत्य कहता हूँ कि उससे सम्पादित किया हुआ अन्न, अन्न न होकर, वह उसका प्रत्यक्ष मृत्यु ही है। क्योंकि याचक के स्वरूप में आनेवाले अर्यमादिकों को अन्नदान कर जो सन्तुष्ट नहीं करता और मित्रों को भी प्रसन्न नहीं कर पाता तथा जो अकेला ही खाता रहता है, उसे महापातकी समझना चाहिये।"

तत्त्वज्ञानसूक्त—उपनिषदों में व्यक्त हुए सुन्दर तत्त्व, बीजरूप में ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होते हैं। वैदिक ऋषियों के तात्त्विक विचारों की प्रगति नाना देवतवाद से एक देवतवाद तक हुई लक्षित होती है। ऋग्वेद में अनेक देवता और उनके अनेक स्तवन उपलब्ध होते हैं। अतः वैदिक धर्म 'बहुदेवता-वाद' को मानता है, ऐसी धारणा कुछ विद्वानों ने बना ली है। किन्तु वैदिक ऋषि किसी भी महान् देवता की स्तुति करते हुए कहते हैं कि 'वह स्थावर-जंगम का नियन्ता और सबका ईश्वर है।' वास्तव में यह बहुदेवतावाद न होकर 'विभूति-वाद' है। वैदिक ऋषियों की धारणा 'एकं सत्' सब कुछ ईश्वरमय की है। यह दृश्यमान उस एक 'सत्' से ही अभिव्यक्त हुआ है। यह विचार ऋग्वेद में अनेकत्र लक्षित होता है। इस सम्बन्ध में एक मन्त्र है—'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥'[1] तथा 'यो देवेष्वधिदेव एक आसीत्।'[2]—तथा 'यो देवानां नामधा एक एव।'[3] ये सब उदाहरण 'एकं सत्' के ही निदर्शक हैं।

दशम मण्डल का 'नासदीयसूक्त', पुरुषसूक्त', 'हिरण्यगर्भसूक्त' और 'वाक्-सूक्त' ये सब सूक्त, दार्शनिक गंभीरता और प्रतिभायुक्त अनुभूति के लिये प्रसिद्ध हैं। नासदीयसूक्त तो वैदिक ऋषियों की अलौकिक चिन्तनधारा का अनुभव करा देता है। इस सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व की अवस्था का वर्णन किया गया है। उस समय न 'सत्' था और न 'असत्' ही था। न 'धूल' थी और न

---

१. (ऋ० १।१६४।४६)
२. (ऋ० १०।१२१।८)
३. (ऋ० १०।८२।३)

'आकाश' ही था। न 'रात' थी और न 'दिन' ही था। सब तमोमय था, सब जलमय था। तब सर्वप्रथम वहाँ 'काम' उत्पन्न हुआ। संकल्प की सहायता से उसने अपनी अभिव्यक्ति सृष्टि के भिन्न-भिन्न रूपों में दिखलाई—इत्यादि सम्पूर्ण वर्णन के मूल में अद्वैत का ही अनुसन्धान दिखाई देता है। यही इस सूक्त का रहस्य है। सृष्टि के मूल में अथवा सबका नियामक ऐसा कोई 'एको देवः' एक ही होना चाहिये। यह कल्पना लक्षित होती है। उसी एक देवता को उन ऋषियों ने कभी 'हिरण्यगर्भ' के नाम से कभी 'पुरुष' के नाम से तो कभी 'प्रजापति' के नाम से सम्बोधित किया है।

संस्कारसूक्त—वेदमंत्रों का विनियोग मुख्यतः श्रौतकर्मों में यद्यपि किया गया है, तथापि कतिपय सूक्त और कतिपय मन्त्रों का विनियोग गृह्य-संस्कारों में भी किया गया है। दशम मण्डल का ८५ वाँ सूक्त 'सूर्यासूक्त' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सूक्त के मन्त्रों को विवाह-संस्कार में लिया जाता है। उसी तरह गृह्य-संस्कारों में कुछ सूक्तों का विनियोग किया गया है। जैसे स्नान और मार्जन में ऋ० १।९, श्राद्धप्रयोग में ऋ० १०।१५, प्रेतकर्म में ऋ० १०।१६ और १८, उपनयन में ऋ० १०।१९ और ६२, गर्भाधान में ऋ० १०।१८४ आदि।

मान्त्रिकसूक्त—मानव जीवन में कब और किस प्रकार की विपत्ति आयेगी, उसे कहना या जानना बड़ा कठिन है। उन सभी विपत्तियों का परिहार केवल लौकिक उपायों से ही नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में आदमी किसी अलौकिक उपाय का अवलम्बन करता है। ऋग्वेद के कितने ही सूक्तों का रोग, अपशकुन, दुःस्वप्न, जारण-मारण, भूतबाधा, विषबाधा, राजयक्ष्मा इत्यादि विविध आपत्ति-विपत्तियों के परिहारार्थ-विनियोग किया जाता है। यह ज्ञान 'ऋग्विधान' ग्रन्थ से प्राप्त हो सकता है।

लौकिकसूक्त—इसमें [1]द्यूतविषयकसूक्त, [2]मण्डूकसूक्त, [3]राजधर्मविषयक-सूक्त आदि सूक्त आते हैं।

---

१. (ऋ० १०।३४)।
२. (ऋ० ७।१०३)।
३. (ऋ० १०।१७३)।

आप्रीसूक्त—इस सूक्त का विनियोग पशुयाग में किया जाता है। इस याग में पशु की 'वपा' का याग होने से पूर्व ग्यारह या बारह देवताओं को उद्देश्यकर 'प्रयाज' संज्ञक याग करना होता है। इसमें प्रत्येक देवता से सम्बन्धित स्तावक-भाग के पठनार्थ 'मैत्रावरुण' नाम का ऋत्विक् प्रैष देता है। तब 'होता' नाम का ऋत्विक् 'याज्या' नाम की कुछ ऋचाओं का पाठ करता है। इन ग्यारह या बारह ऋचाओं के सूक्त को 'आप्री' सूक्त कहते हैं। ऋग्वेद में कुल ग्यारह 'आप्रीसूक्त' हैं। प्रथम मण्डल में **तीन**, दशम मण्डल में **दो**, चतुर्थ मण्डल में **छह**,। अष्टम मण्डल में 'आप्री' सूक्त नहीं है। जिन गोत्रों के लिये आप्रीसूक्त नहीं हैं, वे जमदग्नी के आप्रीसूक्त का पठन करें, यह संकेत किया है। इन सब सूक्तों का वर्ण्य-विषय, देवता आदि समान है। आप्रीसूक्तों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न गोत्रों से होने के कारण वे अनेक हैं।

देवता—'या तेन उच्यते सा देवता' ऋषि के द्वारा जो बताई गई, वह देवता, ऐसा नियम है। पृथिवीस्थ, मध्यस्थ और द्युस्थ भेद से देवताओं के तीन प्रकार बताये गये हैं। ऋग्वेद में देवताओं के त्रिविध रूप बताये गये हैं, उनमें एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म (गूढ) है। स्थूल-रूप नेत्र-गोचर रहने से उसे 'आधिभौतिक' कहते हैं। जो इन्द्रियों से परे ज्ञानेन्द्रियों को भी अगम्य गूढ-रूप होता है, उसे 'आधिदैविक' कहते हैं। तीसरा रूप 'आध्यात्मिक' है। जैसे—'विष्णु' सूर्य के रूप में प्रत्यक्ष होता है। सूक्ष्म रूप से वह विश्व का मापन करता है और अन्तरिक्ष को स्थिर करता है। तथापि इन दोनों रूपों से एक अतिरिक्त आध्यात्मिक रूप 'परमपद' है। वहाँ उसके भक्त आनन्द का अनुभव करते हैं। वहाँ पर जो 'मधुचक्र' है; जिसे अमृतकूप कहते हैं उसके सहित उस परमपद का ज्ञान, जागरणशील ज्ञानी पुरुषों को होता है[१]।

देवतायुग्म—ऋग्वेद में कुछ देवतायुग्मों (देवताओं के जोड़) का भी उल्लेख है। जैसे—अग्नी-षोम (ऋ० ४।२।७२), अग्नी-वरुण (ऋ० ६।२।२७), द्यावा-पृथिवी (ऋ० ४।२।३३), शुना-सीर (ऋ० ४।२।३१) आदि। ऐसे बारह

१. (ऋ० १।१५४।१-२, १।२२।२१)।

देवतायुग्म ऋग्वेद में बताये गये हैं और उनकी स्तुति के लिये ६० सूक्तों का उपयोग किया गया है। विश्वसम्राट् के रूप में इन्द्रावरुण का उल्लेख (ऋ० १।१७।१) किया गया है। इन्होंने समस्त जलप्रवाहों को अनवरुद्ध कर दिया है, आकाश-मार्ग के आक्रमण में सूर्य को लगाया। एक देवतायुग्म इन्द्राग्नी का है, इनकी मित्रता बड़ी दृढ़ है। इनकी स्तुति-परक सूक्तों की संख्या सबसे अधिक है। सोमपान करने में यह जोड़ी अधिक निपुण है। इन्द्राविष्णू की जोड़ी को 'मदपति' कहा गया है, इस कारण इसे मुख्यतया सोमपानार्थ बुलाया जाता है[1]। देवताओं के संबंध में विदेशियों के विचार निराधार हैं। देवता का रहस्य 'बृहद्देवता' ग्रन्थ से ज्ञात किया जा सकता है।

वैदिक ऋषि—यास्क कहते हैं कि 'यस्य वाक्यं स ऋषिः'—जिसका वाक्य (मन्त्र) हो, वह उस वाक्य का 'ऋषि' होता है। इस निरुक्ति के अनुसार इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं को भी ऋषि कहना होगा, किन्तु देवताओं को 'ऋषि' शब्द से नहीं कहा जाता। शौनकोक्त सर्वानुक्रमणी में प्रत्येक सूक्त का तथा ऋक् का ऋषि बताया गया है। जैसे—गायत्री मंत्र का ऋषि विश्वामित्र को बताया गया है। ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो वशिष्ठादयः' यह भी कहा गया है। तात्पर्य यह है कि ऋषि, मंत्रकर्ता न होकर मन्त्रद्रष्टा हैं। देव, ब्राह्मण, राजा में से कोई ऋषि हो तो उन्हें देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि कहा जाता है। दो भेद और भी उपलब्ध होते हैं, एक महर्षि, दूसरा काण्डर्षि। ऋग्वेद के दूसरे से सातवें मण्डल तक के द्रष्टा गृत्समद, विश्वामित्र, काश्यप आदि महर्षि हैं। तैत्तिरीय संहिता के पांच काण्ड हैं, उनके द्रष्टाओं को काण्डर्षि कहा जाता है। उनके नाम-—प्रजापति, सोम, अग्नि, विश्वेदेव, और स्वायंभुव आदि हैं। जिन्हें मन्त्र प्रादुर्भूत हुए हैं, ऐसे ऋषियों के चार प्रकार चरक के सूत्र-स्थान में १-७ की व्याख्या में हरिश्चन्द्र ने बताये हैं—'मुनीनां चतुर्विधो भेदः ऋषयः ऋषिपुत्राः महर्षयश्च।' ऋग्वेद-मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की संख्या साढ़े तीन सौ के ऊपर प्रतीत होती है। इन सब में--अंगिरा, रहूगण और कुशिक ये बहुत प्राचीन हैं। इनके नाम पर बहुत कम मन्त्र उपलब्ध हैं। तदनन्तर मन्त्र-

१. (ऋ० वे० ६।६९।३)।

द्रष्टाओं में से भरद्वाज, कश्यप, गोतम, अत्रि, विश्वामित्र, जमदग्नि और वशिष्ठ ये श्रेष्ठ ऋषि हैं। मण्डलक्रम के अनुसार द्वि० मण्डल के 'गृत्समद', तृ० मं० के 'विश्वामित्र', च० मं० के 'वामदेव', पं० मं० के 'अत्रि', ष० मं० के 'भरद्वाज' स० मं० के 'वशिष्ठ', अ० मं० के कण्व ये ऋषि प्रमुख हैं।

ऋग्वेद के छन्द—सम्पूर्ण ऋग्वेद छन्दोबद्ध है। ऋग्वेद के मन्त्र किसी न किसी वृत्त में रहते हैं। उनमें पाद रहते हैं। विशिष्ट वैदिक अनुष्ठानों को विशिष्ट छन्दों के मन्त्रों से ही करना होता है। जैसे—अग्नि के आधान को ब्राह्मण गायत्री छन्द से, राजन्य त्रिष्टुभ् छन्द से, वैश्य जगती छन्द से करे, ऐसा तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है। ऋग्वेद में सात छन्द प्रमुख हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुभ् और जगती। छन्दःशास्त्र के प्राचीन महत्त्वपूर्ण सूत्र 'सप्तच्छन्दांसि चतुरुत्तराणि विराडष्टमानि' के अनुसार उपर्युक्त सातों छन्द अक्षर-संख्या पर आश्रित हैं। प्रत्येक छन्द, अपने पूर्ववर्ती छन्द की अपेक्षया चार अक्षरों से अधिक बड़ा होता है। आठवाँ छन्द 'विराट्' है, जिसमें अक्षरों की संख्या नियत नहीं है। उसमें कभी एक चरण में दस अक्षर होते हैं, कभी कभी उनकी संख्या ३०, ३३, ४० अक्षरों तक पहुँच जाती है। ऋग्वेद में 'त्रिष्टुभ्' छन्द का सर्वाधिक उपयोग हुआ है। पद्यबद्ध समूह को वाणी या सूक्त कहा गया है। उसी तरह गीति को साम और स्तोत्र को 'स्तोम' संज्ञा दी गई हैं।

विनियोग—जिस काम के लिये मन्त्र का प्रयोग होता है, उसे विनियोग कहते हैं। मन्त्र में अर्थान्तर या विषयान्तर होने पर भी विनियोग के द्वारा अन्य कार्य में उस मन्त्र का विनियोग कर सकते हैं। इससे ज्ञात होता है कि शब्दार्थ से भी अधिक आधिपत्य मन्त्रों पर विनियोग का है।

वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में पश्चिमी सभ्यता के फलस्वरूप लोगों में भ्रम फैला हुआ है कि वह गुण, कर्मानुसार कल्पित है। परन्तु ऋग्वेद का अनुशीलन करने से ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तीनों की स्थिति वंशपरम्परया मानी गई है, यह स्पष्ट होता है। ऋषिकुलोत्पन्न सन्तान ही अध्ययनाध्यापन, यजन-याजन, दान-प्रतिग्रह, पौरोहित्य

कार्य करते थे, राज्य-परिपालन का कार्य क्षत्रिय-कुलोत्पन्न ही किया करते थे और कृषि-कर्म को वैश्य-कुलोत्पन्न ही किया करते थे,। अतः वर्णाश्रम-व्यवस्था वैदिक है।

ऋग्वेद का ध्यान—चतुर्वर्गचिन्तामणि ग्रन्थ में ऋग्वेद की मूर्तिकल्पना कर उसका ध्यान बताया है—

"ऋग्वेदः श्वेतवर्णः स्याद् द्विभुजो रासभाननः।
अक्षमालाभयः सौम्यः प्रीतश्चाध्ययनोद्यतः॥"

कृष्ण यजुर्वेद—चारो वेद एक ही वेदराशि से निकले हैं। वेदव्यास ने वेदराशि का विभाग कर अपने चार शिष्यों को पढ़ाया, यह पहले बता चुके हैं। उन शिष्यों में वैशम्पायन नाम का एक शिष्य था, जिसे व्यास ने यजुर्वेद पढ़ाया, इस कारण उसे ही यजुर्वेद का मूल आचार्य माना जाता है। वैशम्पायन ने अपने शिष्यों को पढ़ाया। उन शिष्यों में याज्ञवल्क्य नाम का एक तेजस्वी शिष्य था। किसी कारणवश गुरु-शिष्य में विवाद हो गया, तब गुरु ने पढ़ाये हुए वेद का वमन करने के लिये उससे कहा। याज्ञवल्क्य ने तत्काल अपने योगबल से उस अधीत-वेद को मूर्त रूप देकर उसका अंगार के रूप में वमन कर दिया। उसे व्यर्थ होते देखकर वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने तित्तिरि पक्षी का रूप धारणकर उसे खा लिया और पचा लिया। अतः उस शाखा का नाम तैत्तिरीय शाखा हुआ। तदनंतर याज्ञवल्क्य ने सूर्योपासना करके सूर्य से नवीन वेद प्राप्त किया और उसे 'शुक्ल-यजुर्वेद' संज्ञा दी। अर्थात् पूर्व के वेद को 'कृष्ण यजुर्वेद' संज्ञा दी गई। इस संबंध में एक पद्य भी प्रसिद्ध है—

"शुक्लं कृष्णमिति द्वेधा यजुश्च समुदाहृतम्।
शुक्लं वाजसनं ज्ञेयं कृष्णं तु तैत्तिरीयकम्।"

कृष्ण-यजुर्वेद में मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग मिश्रित रहने से उसे 'कृष्ण-यजुर्वेद' यह नाम प्राप्त हुआ। ऐसा भी उल्लेख उपलब्ध होता है।

यजुर्वेद की कुल १०१ शाखाएँ थीं, ऐसा पतञ्जलि कहते हैं।[1] उसकी ८६ शाखाएँ थीं ऐसा चरणव्यूह में कहा गया है।[2] किन्तु आज कृष्णयजु की चार शाखाएँ उपलब्ध हैं—(१) तैत्तिरीय, (२) मैत्रायणी, (३) काठक, (४) कपिष्ठल। श्वेताश्वतर भी कृष्णयजु की ही शाखा है, किन्तु उसका उपनिषद् ही केवल उपलब्ध है। तैत्तिरीय शाखा के बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैश्वानस और बाधूल ये छः सूत्र हैं। कृष्ण-यजुर्वेद की कौण्डिण्य अथवा अग्निवेश नाम की एक शाखा का उल्लेख आनन्द-संहिता में है। इस शाखा का केवल गृह्यसूत्र ही उपलब्ध है। कृष्ण-यजुर्वेदियों के तर्पण में कौण्डिन्य का वृत्तिकार के रूप में उल्लेख है।

यज्ञकर्म में अध्वर्यु के द्वारा क्रियमाण-कर्म का विवेचन और तत्संबंधी मंत्रों का समावेश प्रमुखतया यजुर्वेद में उपलब्ध होता है। यह भी कहा जा सकता है कि सर्वविध यज्ञों का वर्णन यजुर्वेद की शाखाओं में किया गया है।

तैत्तिरीय शाखा में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थ हैं। काण्डानुक्रम के अनुसार तैत्तिरीय शाखा का विभाजन किया गया है। उसमें विषयक्रम के अनुसार संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक के अनुवाकों को प्रदर्शित किया गया है। इसमें कुल पाँच काण्ड है।

दूसरी रचना सारस्वत पाठ की है। इस रचना में संहिता के सात काण्ड, ब्राह्मण के तीन काण्ड और आरण्यक के दो भाग, इस प्रकार विभाजन किया गया है। वैदिकों में यही पद्धति आज प्रचलित है। संहिता में मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग दोनों ही सम्मिलित हैं।

मैत्रायणी शाखा की संहिता, आरण्यक और मैत्र्युपनिषद् ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इस संहिता में चार काण्ड हैं। उनके नाम आदिम, मध्यम, उपरि और खिल हैं। इस संहिता में भी सब प्रकार के यज्ञों का विवेचन है। याज्ञवल्क्य के द्वारा वमन किये जाने के पूर्व की इस शाखा के होने से इसे आद्य-यजुर्वेद भी कहते हैं।

---

१. यजुरेकशतात्मकम्।

२. यजुर्वेदस्य षडशीतिभेदा भवन्ति।

कठ और कपिष्ठल संहिताओं को चरकसंहिता भी कहते हैं। 'चरक' यह नाम वैशंपायन का है, ऐसा काशिकावृत्ति में कहा है।[1] कठ और कपिष्ठल संहिताओं में बहुत साम्य है। कपिष्ठल संहिता त्रुटितरूप में उपलब्ध है।

तैत्तिरीय संहिता का अधिक प्रचार-प्रसार दक्षिण भारत में है। कतिपय-महाराष्ट्र प्रान्तीय किन्तु समग्र आन्ध्र, द्राविड इसी शाखा के अनुयायी हैं। इस शाखा ने अपनी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र को बड़ी तत्परता से अक्षुण्ण बनाये रखा है, यह इस शाखा का वैशिष्ट्य है।

तैत्तिरीय संहिता का विभाजन, काण्ड, प्रपाठक तथा अनुवाकों में किया गया है। संपूर्ण संहिता में ७ काण्ड, ४४ प्रपाठक और ६३१ अनुवाक हैं। इनमें शुक्लयजु में वर्णित विषयों के समान ही पौरोडाश, याजमान, वाजपेय, राजसूय आदि यज्ञानुष्ठानों का विशद वर्णन है।

आचार्य सायण इसी शाखा के थे। इस कारण तथा यज्ञ के मुख्य स्वरूप के निष्पादक होने के कारण उन्होंने इस संहिता पर अर्थात् कृष्णयजुर्वेद पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य सर्वप्रथम लिखा।

तैत्तिरीय के अधिकांश देवता ऋग्वेद के ही हैं। रुद्र देवता का इसमें प्राधान्य अवश्य है। रुद्रपर एक रुद्राध्याय ही है। तैत्तिरीय में गद्य और पद्य दोनां ही हैं।

इसके पदपाठ के रचयिता 'गालव' हैं और क्रमपाठ के रचयिता 'शाकल्य' हैं। परन्तु हिरण्यकेशी सूत्र के अनुसार पदपाठ के रचयिता आत्रेय हैं।

वेदों का रक्षण— और अध्ययन विश्व के प्रथम वाङ्मय के रूप में 'वेद' को गौरव प्राप्त है। इस वाङ्मय का करोड़ों वर्षों से सरक्षण किस प्रकार होता आया, यह एक आश्चर्यचकित कर देने वाला चमत्कार है। व्यास के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा इस वेदवाङ्मय की परम्परा बराबर चलती रही। ये शिष्य ज्ञानोपासक थे। वेदों का अध्ययन करना, उनका अध्यापन करना, उनका संरक्षण करना यही एकमात्र उनके जीवन का लक्ष्य था।

---

१. 'चरक इति वैशम्पायनस्य आख्या'—(अष्टा ४/३/१०४ पर काशि० वृ०)

वंशानुवंश तक यह कार्य भारतवर्ष में चलता रहा। उसी का यह फल है कि वेदों के मंत्र-ब्राह्मणों में एक स्वर का भी अन्तर कहीं नहीं होने पाया। अपने मूल-स्वरूप में ही आज हम तक वे पहुँच पाये हैं। आर्यों के इस वैदिक वाङ्मय की ऋचाओं के प्रत्येक अक्षर-अक्षर जीवित, ओजस्वी-तेजस्वी लक्षित होते हैं। इनकी उपासना भारत के ब्राह्मणों ने अपार कष्टों को सहन करते हुए की है। इसके पीछे इन ब्राह्मणों ने प्रशंसनीय महान् स्वार्थ-त्याग किया है। आजीवन इस वेद-वाङ्मय का अध्ययन-अभ्यास कर इस प्रचण्ड वाङ्मय को मुखोद्गत किया और सुरक्षित रखा रखा अगली पीढ़ी को देते आये। निःशुल्क अध्यापन करना ब्राह्मणों ने अपना प्रथम कर्तव्य समझा और उसका पालन किया। ऐहिक उन्नति की ओर उन्होंने कदापि अपना ध्यान नहीं दिया। वेद के अध्ययन से विशेष द्रव्यलाभ नहीं होता है। किन्तु उसकी परवाह न करते हुए वेद के अध्ययन-अध्यापन का काम बड़ी श्रद्धा से अनेक शताब्दियों तक ब्राह्मणों ने ही किया, इतना ही नहीं वेद पर अवलम्बित अन्य विद्याओं, शास्त्रों का संरक्षण भी ब्राह्मणों ने किया। इसीलिये प्राचीनकाल में जन-समाज की ओर से तथा शासक राजाओं की ओर से बड़ा सम्मान, आदर प्राप्त होता रहा। आज भी हमलोगों को अपने पूर्वजों के पद-चिह्नों पर चलने का प्रयत्न करना चाहिये।

—गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर

श्रीः

श्रीमत्सायणाचार्यविरचिता कृष्णयजुर्वेदान्तर्गता

तैत्तिरीयसंहिता भाष्यभूमिका

हिन्दी व्याख्या संवलिता

मङ्गलाचरणम्

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥
यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्म्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥
यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः ।
आदिशन्माधवाचार्य्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥ ३ ॥
स प्राह नृपतिं राजन् ! सायणार्यो ममानुजः ।
सर्वं वेत्त्येष वेदानां व्याख्यातृत्वे नियुज्यताम् ॥ ४ ॥
इत्युक्तो माधवार्येण वीरबुक्कमहीपतिः ।
अन्वशात् सायणाचार्य्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥ ५ ॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात् ।
कृपालुर्माधवाचार्य्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणं कल्पसूत्रे द्वे मीमांसां व्याकृतिं तथा ।
उदाहृत्याथ तैः सर्वैर्मन्त्रार्थः स्पष्टमीर्य्यते ॥ ७ ॥

श्रियै नमः । श्रीहस्तिशैलशिखरोज्ज्वलपारिजाताय नमः । श्रीमते रामानुजाय नमः ।

सभी कार्यों क प्रारम्भ में वागीश आदि देवता लोग भी जिनको नमस्कार करके अत्यन्त सन्तुष्ट होते हैं, उन भगवान् गजानन (गणेश जी) को प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

वेद जिनके श्वास-प्रश्वास रूप है, जिन्होंने वेदों के द्वारा ही सम्पूर्ण संसार का निर्माण किया, उन विद्यातीर्थ रुपी महेश्वर की वन्दना करता हूँ। विद्यातीर्थ महेश्वर' पद से परमेश्वर तथा 'विद्यातीर्थ' नाम के गुरू दोनों का ग्रहण होता है। यहाँ पर श्लेषालंकार है ॥ २ ॥

जिनके कटाक्ष से महेश्वर रूप को धारण करते हुए बुक्क नाम के राजा ने वेदों के अर्थ-प्रकाशन के लिए माधवाचार्य को आदेश दिया ॥ ३ ॥

उस माधवाचार्य ने राजा से कहा—हे राजन् ! मेरा अनुज सायण सब कुछ जानता है, इसी को वेदों की व्याख्या के लिये नियुक्त करें ॥ ४ ॥

माधवाचार्य के ऐसा कहने पर वीर बुक्क राजा ने वेदार्थ-प्रकाशन में सायणाचार्य को नियुक्त किया ॥ ५ ॥

जो मीमांसा के दो भाग हैं—पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा, उनकी अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करके परमकारुणिक माधवाचार्य वेदार्थ-प्रकाशन में तत्पर हुए ॥ ६ ॥

ब्राह्मण, कल्पसूत्र, मीमांसा, व्याकरण तथा उदाहरण आदि सबों से युक्त मन्त्रों के स्पष्ट अर्थ का प्रतिपादन करता हूँ ॥ ७ ॥

ननु कोऽयं वेदो नाम, किञ्च तल्लक्षणम्, के वाऽस्य विषय-प्रयोजन-सम्बन्धाधिकारिणः, कथं वा तस्य प्रामाण्यम् ? न खल्वेतस्मिन् सर्वस्मिन्नसति वेदो व्याख्यानयोग्यो भवति । अत्रोच्यते । इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति, स वेदः। अलौकिकपदेन प्रत्यक्षानुमाने व्यावर्त्त्येते । अनुभूयमानस्य स्रक्चन्दनवनितादेरिष्टप्राप्तिहेतुत्वम्, औषधसेवादेरनिष्ट-परिहारहेतुत्वञ्च प्रत्यक्षतः सिद्धम् । स्वेनानुभविष्यमाणस्य पुरुषान्तरगतस्य च तथात्वमनुमानगम्यम्।

आचार्य सायण वेदभाष्यकर्त्ता हैं। इन्होंने शुक्लयजर्वेदीय माध्यन्दिन शाखा को छोड़ कर प्रायः सभी वेदों के ऊपर अपना भाष्य बनाया है। इसी शृंखला की एक कड़ी तैत्तिरीय संहिता भाष्य भी है। उसके व्याख्यान के पहले वेद के स्वरूप-ज्ञान के

लिये सर्वप्रथम लक्षण, विषय आदि तथा प्रामाण्य के विषय में चार प्रश्न उपस्थित करते हैं कि यह व्याख्यान का विषय वेद कौन है? उसका लक्षण क्या है? उसके विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी कौन हैं? उसकी प्रामाणिकता कैसे सिद्ध होती है? इन प्रश्नों की उपस्थिति में भी कारण है। जब तक इन सभी प्रश्नों का समाधान नहीं किया जाता, तब तक वेद की व्याख्या सम्भव नहीं है। जिसमें ये अनुबन्ध-चतुष्टय नहीं है, उसका व्याख्यान नहीं होता। यदि वेद में भी ये सब नहीं रहेंगे, तो वेद भी व्याख्यान के योग्य नहीं माना जा सकता। अतः पूर्वोक्त प्रश्न तथा उनके समाधान भी अत्यन्त आवश्यक है।

पहला तथा दूसरा प्रश्न का समाधान—वेद के लक्षण उपस्थित कर देने पर दोनों प्रश्नों का समाधान हो जाता है; क्योंकि लक्षण स्वरूप का परिचायक होता है। यही इसकी आवश्यकता है। स्वरूप-ज्ञान हो जाने पर ही उस वस्तु का हम व्यवहार कर सकते हैं। इसीलिये इतर[1] पदार्थों से लक्ष्य की व्यावृत्ति और व्यवहार ही लक्षण का प्रयोजन कहा गया है।

वेद का लक्षण—"जो ग्रन्थ इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के अलौकिक उपायों का ज्ञान कराता है, वही वेद है। इस लक्षण में लौकिक पद से प्रत्यक्ष और अनुमान का ग्रहण किया गया है। अतः 'अलौकिक' पद से प्रत्यक्ष और अनुमान की व्यावृत्ति हो जाती है। इसी के लिए लक्षण में अलौकिक पद दिया गया है। अनुभूयमान स्रक्, चन्दन और वनिता (स्त्री) की इष्ट-प्राप्ति हेतुता और औषधियों के सेवन आदि उपायों से अनिष्ट की अप्राप्तिहेतुता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। अपने द्वारा भविष्यकालिक और दूसरे पुरुषों में रहने वाला इष्टप्राप्ति-हेतुत्व तथा अनिष्ट-परिहार हेतुत्व अनुमान प्रमाण से ज्ञात होता है। जैसे इस समय हम इष्ट की प्राप्ति के लिये या अनिष्ट के परिहार के जिन उपायों का प्रयोग करते हैं और लाभ भी मुझे होता है तब हम यह अनुमान करते हैं कि भविष्य में भी इन उपायों को करने से मुझे इष्ट की प्राप्ति या मेरे अनिष्ट का परिहार होगा। इसी प्रकार हम कोई रोगी को रोग-ग्रस्त

१. "व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्"—न्याय

देखते हैं। उसके वाद वह किसी चिकित्सक से दवा लेकर उसका प्रयोग करता है और वह नीरोग हो जाता है। तव हम अनुमान करते हैं कि यह रोगी नीरोग हुआ, औषधि के प्रयोग से। तात्पर्य यह है कि दवा से उसके अनिष्ट का परिहार हो गया है—यह हम समझते हैं।

एवं तर्हि भाविजन्मगतसुखादिकमपि अनुमानगम्यमिति चेत्। न। तद्विशेषस्यानवगमात्। न खलु ज्योतिष्टोमादिरिष्टप्राप्तिहेतुः कलञ्जभक्षण-वर्जनादिरनिष्टपरिहारहेतुरित्यमुमर्थं वेदव्यतिरेकेणानुमानसहस्त्रेणापि तार्किकशिरोमणिरप्यवगन्तुं शक्नोति। तस्मादलौकिकोपायवोधको वेद इति लक्षणस्य नातिव्याप्तिः।

अतएवोक्तम्—

प्रश्न—हम पूर्वोक्त प्रकार से (अनुमान प्रमाण से) आगे होने वाले जन्म-गत सुख अथवा दुःख का ज्ञान कर सकते हैं अर्थात् वे सुख-दुःख भी अनुमान प्रमाण का विषय वन सकते हैं? इस प्रश्न का अभिप्राय यह है कि यदि आगे जन्म में होने वाले सुख-दुःख का ज्ञान अनुमान प्रमाण से हो जायेगा, तो उसके ज्ञान के लिये वेद की कोई आवश्यकता नहीं होगी, इसी कारण से उसके व्याख्या की भी आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि प्रयोजन-रहित वस्तु का व्याख्यान भी निरर्थक होगा।

समाधान—अनुमान प्रमाण से सुख-दुःख-सामान्य का ज्ञान हो सकता है, परन्तु विशेष रूप से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। उस सामान्य ज्ञान के प्रति भी कर्म को ही कारण मानना पड़ेगा। लोक में अच्छे कर्मों के अनुष्ठान करने वाले व्यक्तियों में भावी सुख तथा निषिद्ध कर्मों के अनुष्टान करने वाले व्यक्तियों में भावी दुःख का अनुमान किया जाता है। उसमें कारण (हेतु) कर्म को ही माना जाता है। विहित या निषिद्ध कर्मों का प्रतिपादक वेद ही हैं। उसके विना कर्म का निर्णय कोई कर नहीं सकता है। तार्किक शिरोमणि भी वेद को छोड़कर हजारों अनुमानों से भी यह नहीं जान सकते हैं कि ज्योतिष्टोमादि इष्ट-प्राप्ति के साधन और कलञ्जभक्षण का निषेध अनिष्ट के परिहार का साधन है। इसका ज्ञान केवल वेद

से ही हो सकता है। अतः अतिव्याप्ति[1] न होने के कारण "अलौकिक उपाय के वोधक ग्रन्थ को वेद कहते हैं" यह लक्षण समुचित है। इसीलिये कहा है—

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता"॥ इति।

जिस उपाय का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकता है, उसका ज्ञान वेद के द्वारा किया जाता है। यही वेद का वेदत्व है।

स एवोपायो वेदस्य विषयः। तद्वोध एव प्रयोजनम्। तद्वोधार्थी च अधिकारी। तेन सह उपकार्योपकारकभावः सम्वन्धः। नन्वेवं सति स्त्रीशूद्रसहिताः सर्वे वेदाधिकारिणः स्युः, इष्टं मे स्यादनिष्टं मा भूदिति आशिषः सार्वजनीनत्वात्। मैवम्। स्त्रीशूद्रयोः सत्युपाये वोधार्थित्वे हेत्वन्तरेण वेदाधिकारस्य प्रतिवद्धत्वात्। उपनीतस्यैवाध्ययनाधिकारं ब्रुवच्छास्त्रमनुपनीतयोः स्त्रीशूद्रयोर्वेदाध्ययनमनिष्टप्राप्तिहेतुरिति वोधयति। कथं तर्हि तयोस्तदुपायावगमः, पुराणादिभिरिति ब्रूमः।

अतएवोक्तम्—

"स्त्रीशूद्रद्विजवन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं मुनिना कृपया कृतम्"॥

(भागवत १।४।२५) इति। तस्मादुपनीतैरेव त्रैवर्णिकैर्वेदस्य सम्वन्धः।

---

१. सामान्य रूप से लक्षण को दूषित करने वाले तीन दोष वतलाये गये हैं—[क] अव्याप्ति [ख] अतिव्याप्ति [ग] असम्भव। लक्ष्य के किसी एक भाग में लक्षण संघटित न होने से अव्याप्ति दोष होता है। जैसे गौ का 'नील रूपवत्त्व' लक्षण किया जाय, तो श्वेत गौ में नील रूपवत्ता नहीं रहेगी और वह लक्षण का लक्ष्य है, क्योंकि वह गौ है। अतः यह लक्षण अव्याप्ति-दोष से दूषित माना जायेगा। अतिव्याप्ति—अलक्ष्य में भी लक्षण संघटित हो जाय, तो अतिव्याप्ति मानी जाती है, जैसे—गौ का 'शृङ्गित्व' लक्षण किया जाय, तो जो लक्षण के लक्ष्य से भिन्न महिष आदि है। उसमें अतिव्याप्ति हो जायेगी; क्योंकि महिष आदि को भी शृङ्ग होते हैं।

असम्भव—लक्ष्यमात्र में कहीं भी लक्षण संघटित न हो, तो असम्भव दोष माना जाता है, जैसे—गौ का 'एकशफवत्त्व' लक्षण किया जाय, तो किसी लक्ष्य में लक्षण नहीं जायेगा; क्योंकि किसी भी गौ को एक शफ = खुर नहीं होता। सभी को दो शफ होते हैं।

तीसरे प्रश्न का समाधान—वही अलौकिक उपाय वेद का विषय है। उस उपाय का ज्ञान ही प्रयोजन है। उस ज्ञान की इच्छा रखने वाला व्यक्ति अधिकारी है और उसके साथ उपकार्योपकारकभाव सम्बन्ध है। इन्हीं को अनुबन्ध[1] चतुष्टय भी कहते हैं।

प्रश्न—मुझे इष्ट फल की प्राप्ति हो और अनिष्ट की प्राप्ति न हो—इस प्रकार का आशिष सब लोग चाहते हैं। अतः स्त्री तथा शूद्र सहित सभी मनुष्य वेद के अधिकारी होंगे।

समाधान—स्त्री और शूद्र को अलौकिक उपाय के प्रति ज्ञानार्थी होने पर भी दूसरे-दूसरे हेतुओं से वेद के अध्ययन का अधिकार प्रतिबद्ध है। शास्त्रों ने यज्ञोपवीत संस्कार से युक्त पुरुषों का ही वेद के अध्ययन में अधिकार का प्रतिपादन किया है और उस संस्कार से रहित मनुष्यों को वेदाध्ययन अनिष्ट फल के प्राप्ति का हेतु है—ऐसा बतलाया है। स्त्रियों तथा शूद्रों के लिये उपनयन संस्कार का विधान न होनें से वे उसके अधिकारी नहीं हैं। अतः उपनयन के अभाव में वेदाध्ययन में भी अधिकार नहीं है।

प्रश्न—इष्ट फल की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के उपाय का ज्ञान स्त्रियों और शूद्रों को कैसे होगा ?

---

१. प्रवृत्ति के जनक ज्ञान के विषय को अनुबन्ध कहते हैं। अनुबन्ध चार प्रकार का होता है—अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध। जब तक इन चारों का ज्ञान नहीं होता है तब तक उसमें किसी की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिये ग्रन्थ के प्रारम्भ में बतलाना आवश्यक होता है। यही अनुबन्ध-चतुष्टय शब्द का अर्थ और प्रयोजन है।

समाधान—उन लोगों को उन अलौकिक उपायों का ज्ञान पुराण तथा स्मृतियों के द्वारा करना चाहिए। इसीलिये श्रीमद्भागवत में व्यास ने कहा है कि—स्त्री, शूद्र और ब्राह्मण आदि के संस्कारों से रहित द्विजों के कानों में वेद का शब्द नहीं जाना चाहिए। इसीलिये इन लोगों के ऊपर अत्यन्त कृपा करके व्यास मुनि ने महाभारत नामक आख्यान का निर्माण किया। अतः उपनयन संस्कार से युक्त त्रैवर्णिकों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) के साथ ही वेद का सम्बन्ध है। इस प्रकार वेद के लक्षण की पुराणादि में अतिव्याप्ति हो जायेगी; क्योंकि इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के अलौकिक उपाय का ज्ञान पुराणादिकों से भी होता है। इस अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये वेद के लक्षण में "अपौरुषेयत्व" विशेषण दे दिया जायेगा। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। कारण यह है कि पुराणादि पौरुषेय हैं, अपौरुषेय नहीं। पौरुषेय शब्द का पुरुष निर्मित या पुरुषस्वातन्त्र्य भी अर्थ किया जाता है। वेद पुरुषनिर्मित नहीं है और उसमें पुरुष की स्वतन्त्रता भी नहीं है। लौकिक वाक्यों का "पात्रं आहर या आहर पात्रम्" भी प्रयोग किया जाता है; परन्तु वैदिक वाक्यों में वर्णमात्र का भी परिवर्तन सम्भव नहीं है। मीमांसकों का तो डिम्डिमघोष है कि ईश्वर भी "अग्निमीले पुरोहितम्" के स्थान पर "ईंलेऽग्निं पुरोहितम्" प्रयोग नहीं कर सकते हैं, मनुष्यों की क्या कथा ? इसलिये वेद को अपौरुषेय होने के कारण लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है।

तत्प्रामाण्यं तु बोधकत्वात् स्वत एव सिद्धम्। पौरुषेयवाक्यन्तु बोधकमपि सत् पुरुषगतभ्रान्तिमूलत्वसम्भावनया तत्परिहाराय मूलप्रमाणमपेक्षते, न तु वेदः। तस्य नित्यत्वेन वक्तृदोषशङ्कानुदयात्। एतदेव जैमिनिना सूत्रितम्—"तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्" (मी० १।१।५) इति। ननु वेदोऽपि कालिदासादिवाक्यवत् पौरुषेय एव ब्रह्मकार्य्यत्वश्रवणात् "ऋचः सामानि जज्ञिरे" "छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्" "यजुः तस्मादजायत" (ऋ० १०।९०।९) इति श्रुतेः। अतएव बादरायणः "शास्त्रयोनित्वात्" (वेदान्त सू० १।१।३) इति सूत्रेण ब्रह्मणो वेदकारणत्वमवोचत्। मैवम्। श्रुतिस्मृतिभ्यां नित्यत्वावगमात्। "वाचा विरुप नित्यया" (ऋ० ८।७५।६) इति श्रुतेः।

चौथे प्रश्न का समाधान—बोधक होने के कारण वेदों का स्वतः प्रामाण्य[1] सिद्ध है। इसकी प्रामाणिकता के लिये किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। पौरुषेय वाक्य भी बोधक होते हैं तथापि उनमें भ्रान्तिमूलकत्व की सम्भावना बनी रहती है; क्योंकि पौरुषेय वाक्य पुरुषनिर्मित हैं और पुरुषों में भ्रान्ति, विप्रलिप्सा आदि दोष विद्यमान रहते हैं। वे दोष पुरुष के द्वारा वाक्य में भी चले आते हैं। अतः उन भ्रान्ति आदि दोषों को दूर करने के लिये मूल प्रमाण की अपेक्षा होती है। वेद के सम्बन्ध में इस तरह की बात नहीं है; क्योंकि उसमें पुरुष का सम्बन्ध नहीं है। वेद नित्य है, इसलिये वक्ता में रहने वाले दोषों की आशङ्का नहीं की जा सकती है। इसी को जैमिनि ने भी अपने सूत्रों में सूत्रित किया है—इतर प्रमाणों की अपेक्षा न होने के कारण वह वेद प्रमाण है।

प्रश्न—वेद भी ब्रह्म के कार्य रूप से श्रुत है। इसलिये वेद भी कालिदासादि के वाक्य के समान पौरुषेय ही है, अपौरुषेय नहीं। उदाहरण—उस ब्रह्म से ऋक् और साम उत्पन्न हुआ। उससे छन्द उत्पन्न हुए। उससे यजुः उत्पन्न हुआ। इसीलिये महर्षि बादरायण ने ऋग्वेदादि शास्त्रों का योनि = उत्पत्ति स्थान ब्रह्म को माना है। अतः वेद पौरुषेय ही होगा।

---

१. जिस प्रकार प्रमाण की संख्या में दार्शनिकों का मतभेद है, उसी प्रकार प्रमाण-गत प्रामाण्य के विषय में भी मतभेद है। प्रमाण में रहने वाला धर्म प्रामाण्य कहलाता है। बौद्ध लोग प्रामाण्य परतः और अप्रामाण्य स्वतः मानते हैं। सांख्य दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः माना गया है। नैयायिक अप्रामाण्य और प्रामाण्य दोनों परतः मानते हैं। मीमांसक प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः मानते हैं। यहाँ पर स्वतः और परतः शब्द का बहुधा प्रयोग किया है। स्वतः शब्द का तात्पर्य है कि उसमें अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती है। वही स्वतः प्रामाण्य या अप्रामाण्य कहलाता है। जब ज्ञान में कारण के गुण या दोष से प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य की व्यवस्था होती है, तब परतः माना जाता है। इसका विस्तृत विवेचन तत्तद् ग्रन्थों में किया गया है।

समाधान--श्रुति और स्मृतियों के द्वारा वेद के नित्यत्व का ज्ञान होता है। इसलिये वेद पौरुषेय नहीं हो सकते। उदाहरण—ऋग्वेद में ही वाणी को नित्य मानी गयी है।

"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा" इति स्मृतेश्च। वादरायणोऽपि देवताधिकरणे सूत्रयामास। "अत एव च नित्यत्वम्" (वेदान्त सू० १।३।२९) इति। तर्हि परस्परविरोध इति चेत्। न। नित्यत्वस्य व्यावहारिकत्वात्। सृष्टेरुर्ध्वं संहारात्पूर्वं व्यवहारकालः, तस्मिन्नुत्पत्ति-विनाशादर्शनात्। कालाकाशादयो यथा नित्या एवं वेदोऽपि व्यवहारकाले कालिदासादिवाक्यवत् पुरुषविरचितत्वाभावान्नित्यः। आदिसृष्टौ तु कालाकाशादिवदेव ब्रह्मणः सकाशाद्वेदोत्पत्तिराम्नायते। अतो विषयभेदान्न परस्परविरोधः। ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन वेदस्य वक्तृदोषाभावात्स्वतस्सिद्धं प्रामाण्यं तदवस्थम्। तस्माल्लक्षणप्रमाण—सद्भावाद्विषयप्रयोजन-सम्बन्धाधिकारिसत्त्वात् प्रामाण्यस्य सुस्थत्वाच्च वेदो व्याख्यातव्य एव। यथोक्तविषयादिसद्भावमभिप्रेत्य "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (तै० आ० २।१५) इत्यध्ययनं विधीयते। पाठमात्रस्याध्ययनशब्दवाच्यत्वेनार्थाववोधस्या-विहितत्वाद्वेदव्याख्यानमयुक्तमिति चेत्। न। विधेर्बोधपर्य्यवसायित्वात्।

स्मृति में भी कहा गया कि—स्वयम्भु ने उत्पत्ति और विनाश से रहित नित्य वाणी का उत्सर्ग किया अर्थात् अपने द्वारा निकाला। महर्षि बादरायण ने भी देवताधिकरण में वेदों के नित्यत्व-प्रतिपादक सूत्रों का निर्देश किया है। इसलिये वेद नित्य हैं, अपौरुषेय हैं; अनित्य और पौरुषेय नहीं। वेदों के अपौरुषेयत्व का प्रतिपादन मीमांसा के छोटे से बड़े सभी ग्रन्थों में अनेक प्रमाणों तथा तर्कों से किया गया है। अधिक जानकारी के इच्छुक व्यक्ति को मीमांसा के ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिए।

प्रश्न—वेदों तथा व्यास के सूत्रों में ही कहीं नित्यत्व तथा कहीं अनित्यत्व का प्रतिपादन किया है। अतः परस्पर विरोध होगा।

समाधान—वेदों का नित्यत्व व्यावहारिक है। सृष्टि के पश्चात् और प्रलय के पूर्व के काल को व्यवहार काल कहते हैं। उसमें उसकी उत्पत्ति तथा विनाश नहीं देखा जाता है। जिस प्रकार काल एवं आकाश आदि को नित्य माना जाता है, उसी प्रकार वेद भी व्यवहार काल में नित्य है। कालिदासादि के वाक्यों के समान पुरुष के द्वारा विरचित न होने के कारण नित्य माना जाता है। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्म से काल तथा आकाश की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्म से ही वेदों की भी उत्पत्ति सुनी जाती है। इस प्रकार विषय के भेद से परस्पर विरोध की आशङ्का समुचित नहीं है। ब्रह्म में कोई दोष नहीं और वही वेदों का वक्ता हैं। अतः वेदों में भी कोई दोष न होने के कारण उसका स्वतः प्रामाण्य सिद्ध होता है।[1] इसलिये लक्षण, प्रमाण, विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी तथा उसकी प्रामाणिकता सिद्ध होने के कारण वेद व्याख्यान के योग्य सिद्ध होता है।

प्रश्न—पूर्वोक्त विषयादि की सत्ता मान कर 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस विधि वाक्य से अध्ययन का विधान किया जाता है। अध्ययन शब्द का वाच्य अर्थ पाठमात्र है। अतः अर्थ-ज्ञान का विधान नहीं हो सकता। इसलिये वेद का व्याख्यान समुचित नहीं है।

---

१. वेदों की इस तरह की नित्यता मीमांसक नहीं मानते हैं। उपर्युक्त नित्यत्व अद्वैतवेदान्त और न्यायदर्शन की वासना से कहा गया है। मीमांसक ईश्वर के समान ही वेदों को नित्य मानते हैं। आदिसृष्टि और महाप्रलय को नहीं स्वीकार करने के कारण उपर्युक्त व्यवहारनित्यत्व भी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। अतः मीमांसकों के अनुसार वेद भी ईश्वर=ब्रह्म के समान ही नित्य है। अतएव स्वतः प्रमाण भी है।

समाधान—अर्थ-ज्ञान में ही विधि-वाक्य का पर्यवसान है जब तक अर्थ-ज्ञान नहीं होता, तब तक अध्ययन परिपूर्ण नहीं माना जाता।

एतच्च भट्टगुरुमतानुसारिभिर्बहुधा प्रपञ्चितम्। आम्नायते च—

भट्ट[1] तथा गुरु मतानुयायी विद्वान् इस सिद्धान्त का विस्तृत रुप से प्रतिपादन किये हैं। निरुक्त में कहा भा गया है—

"यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

स्थाणुरयं भारहारः किलाभून्-अधीत्यवेदं न विजानाति योऽर्थम्।

योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते,
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥ (नि० १।६)

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म्मो षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च इति। एवं तर्हि ज्ञानस्य पृथग्विधानादध्ययनं पाठमात्रमिति चेत्, अस्तु नाम, वर्णयन्त्येव शाङ्करदर्शनानुसारिणः।

क्रतुविधिभिरेवानुष्ठानान्यथानुपपत्त्या वेदार्थज्ञानस्य प्रापितत्वान्नैतद्विधेयमिति चेत्, तर्हि तद्विधिवलाद्वेदनमात्रेण स्वतन्त्रं किञ्चिदपूर्वमस्तु। श्रूयते हि अनुष्ठानज्ञानयोः स्वतन्त्रं पृथक् फलम्—

"सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद" इति।

---

१. भट्टमतानुयायी "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस अध्ययन के विधायक विधि के बल से विचार शास्त्र का आरम्भ नहीं करना चाहिए—यह पूर्वपक्ष करके विधिवशात् ही विचार शास्त्र का आरम्भ मानते हैं। अध्ययन से अर्थ-ज्ञान भी अपेक्षित है। प्रभाकरमतानुयायी अध्यापन-प्रयुक्त अध्ययन मानते हैं। अर्थ-ज्ञान स्वतः होता है। प्रभाकर मत में पूर्वोक्त विधि का भी आचार्यत्वसिद्धि ही प्रयोजन है।

जिसने अध्ययन किया और अर्थ-ज्ञान नहीं हुआ, केवल शब्दों का स्पष्ट उच्चारण मात्र किया है। वह अध्ययन निष्फल है; क्योंकि अध्ययन का अर्थ-ज्ञान ही फल है। जिस प्रकार अग्नि रहित भस्म में सूखी लकड़ी डालने पर भी ज्वाला का प्रादुर्भाव नहीं होता है और व्यर्थ माना जाता है। कारण यह है कि अग्नि में लकड़ी डालने का ज्वाला ही फल है। अतः उच्चारण मात्र को अध्ययन नहीं माना जा सकता।

जो वेदों को पढ़कर अर्थ का ज्ञान नहीं कर सका, वह व्यर्थ भार को वहन करने वाला स्थाणु के समान है। जो अर्थ को भी जानता है, वह सभी प्रकार के कल्याणों को प्राप्त करता है और अन्त में ज्ञान के द्वारा सभी पापों को दूर हो जाने से स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है।

प्रश्न—ब्राह्मण का निष्कारण धर्म है, छः अङ्गों के साथ वेदों का अध्ययन करना और ज्ञान प्राप्त करना। इस आगम में ज्ञान का अध्ययन से पृथक् विधान किया गया है। अतः अध्ययन का अर्थ पाठमात्र ही प्रतीत होता है।

समाधान—अध्ययन का अर्थ पाठमात्र ही हो, तथापि कोई आपत्ति नहीं है। कारण यह है कि शाङ्कर मत (अद्वैत वेदान्त) के अनुसारी विद्वान् ऐसा ही मानते हैं।

यदि कहा जाय, अर्थ-ज्ञान के विना यागों का अनुष्ठान नहीं हो सकता। इस लिये अनुष्ठान की अनुपपत्ति से याग के विधायक वाक्यों से ही वेदों के अर्थों का ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। अतः ज्ञान विधेय नहीं हो सकता। यह कहना समुचित नहीं है। कारण यह है कि उस विधि के बल से ज्ञान मात्र से स्वतन्त्र अपूर्व मान लिया जाय। इसलिये कोई दोष नहीं है। अनुष्ठान और ज्ञान का स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् फल भी सुना जाता है। यथा—जो अश्वमेध के द्वारा यजन करता है और जो निश्चित रूप से उस को जानता है, वह सभी पापों को तर=पार हो जाता है, वह ब्रह्महत्या जैसे महापातक को भी पार कर जाता है।

अल्पप्रयाससाध्येन वेदनेन तत्सिद्धौ बह्वायाससाध्यमनुष्ठानं व्यर्थं स्यादिति चेत्; न। तरणीयाया ब्रह्महत्याया मानसिककायिकत्वादिभेदेन

तारतम्योपपत्तेः। मनसा सङ्कल्पिता वाचाभ्यनुज्ञाता वा परहस्तेन कारिता स्वयं कृता पुनः पुनः कृता चेत्येवं तारतम्येनावस्थिता ब्रह्महत्या अनेकविधा। अतस्तरणमप्यनेकविधं यथा स्वर्गो बहुविधस्तद्वत्। "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्याद्युच्चावचकर्म्मणामेकविधफलासम्भवात् स्वर्गो बहुविधः। यत्तु कर्म्मानुष्ठानकालीनं वेदनं तत्कर्मफल एवातिशयं दर्शयति। "उभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद" इति विद्वदविद्वत्प्रयोगौ प्रस्तुत्य "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति" इत्याम्नायात्। अङ्गोपास्तिविषयमेतद्वाक्यमिति चेत्! न। न्यायस्य समानत्वात्। अस्ति ह्यस्यार्थस्योपोद्वलकं लिङ्गम्। प्रजापतिः किल सोमयागेभ्योऽर्वाचीनानग्निहोत्रपौर्णमास्यामावास्यानामकान् परस्परमुच्चावचान् यज्ञान् ससर्ज। सोमयागांश्चाग्निहोत्रादिभ्यः प्रौढानग्निष्टोमोक्थ्यातिरात्रनामकान् परस्परमुच्चावचान् सृष्ट्वा प्रथमसृष्टेष्वग्निहोत्रादिष्वभिमानविशेषेण वर्गद्वयं तुलयोदमिमीत। एतत् वृत्तान्तं विजानतोऽग्निहोत्रादिभिरग्निष्टोमादिफलं भवति। तथा च ब्राह्मणमाम्नायते।

"प्रजापतिर्यज्ञानसृजत। अग्निहोत्रञ्चाग्निष्टोमञ्च। पौर्णमासीञ्चोक्थ्यञ्च। अमावास्याञ्चातिरात्रञ्च। तानुदमिमीत। यावदग्निहोत्रमासीत्तावानग्निष्टोमः। यावती पौर्णमासी तावानुक्थ्यः। यावत्यमावास्या तावानतिरात्रः। य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति, यावदग्निष्टोमेनोपाप्नोति तावदुपाप्नोति। य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते। यावदुक्थ्येनोपाप्नोति, तावदुपाप्नोति। य एवं विद्वानमावास्यां यजते, यावदतिरात्रेणोपाप्नोति, तावदुपाप्नोति" इति। तदेतद्वेदनस्य सर्वत्र स्वतन्त्रफलकत्वं लिङ्गम्।

प्रश्न—ज्ञान में कम परिश्रम अपेक्षित है और अनुष्ठान में अधिक परिश्रम अपेक्षित है। अल्प परिश्रम से सिद्ध होने वाला ज्ञान से ही ब्रह्महत्यादि पाप समाप्त हो जायेंगे, तो अधिक परिश्रम से युक्त अनुष्ठान कोई नहीं करेगा। अतः अनुष्ठान व्यर्थ हो जायेगा।

समाधान—तरणीय ब्रह्महत्या भी मानसिक, कायिक आदि भेद से अनेक प्रकार की होती है। इसलिये उसके विनाशक साधन में भी तारतम्य की उपपत्ति हो जाती है। ब्रह्महत्याएँ अनेक प्रकार की होती हैं, जैसे—मन से संकल्पित, वाणी से अनुमोदित, दूसरे के हाथों से करायी हुई, अपने हाथों से की हुई, बार बार की हुई इत्यादि तारतम्य से अनेक ब्रह्महत्याएँ होती हैं। जिस प्रकार से स्वर्ग अनेक प्रकार का होता है, उसी प्रकार तरण भी अनेक प्रकार का होता है। अग्निहोत्र होम से दर्शपौर्णमास से तथा ज्योतिष्टोम से एक प्रकार का फल सम्भव नहीं है; क्योंकि कर्म एक तरह के नहीं हैं। अतः स्वर्ग भी कर्म के अनुसार ही भिन्न-भिन्न होते हैं। जो जानता है और जो नहीं जानता है, दोनों करते हैं—इस प्रकार विद्या से युक्त और उससे रहित मनुष्यों के प्रयोगों को प्रस्तुत कर के कहा गया है कि जो विद्या के द्वारा अर्थात् ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान करता है, वह अधिक वीर्य वाला होता है। यह वाक्य अङ्गों की उपासना-विषयक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि दोनों पक्षों में समान न्याय ही है। अर्थ के साधक प्रमाण भी है। प्रजापति ने सोम यागों की अपेक्षा स्वल्पकाल में साध्य अग्निहोत्र, पौर्णमासी और अमावास्या नामक परस्पर उच्चावच यज्ञों का सृजन किया। अग्निहोत्रादि की अपेक्षा प्रौढ़ अग्निष्टोम, उक्थ्य और अतिरात्र नामक परस्पर उच्चावच सोमयागों का सृजन कर के पूर्व में सृष्ट अग्निहोत्र आदि में अभिमान विशेष रहने के कारण दो वर्गों में तुलना कर के परिमित किया। इस वृत्तान्त को जानने वालों को अग्निहोत्रादि से अग्निष्टोमादि का फल होता है। यह ब्राह्मण वाक्यों में सुना जाता है—

प्रजापति ने यज्ञों का सृजन किया। यथा—अग्निहोत्र और अग्निष्टोम। पौर्णमासी और उक्थ्य। अमावास्या और अतिरात्र। उन सबों को परिमित किया। जितना अग्निहोत्र था उतना ही अग्निष्टोम। जितनी पौर्णमासी उतना ही उक्थ्य। जितनी अमावास्या उतना ही अतिरात्र। इस प्रकार जो विद्वान् अग्निहोत्र होम करता है, वह व्यक्ति जितना फल अग्निष्टोम से प्राप्त करता है, उतना ही अग्निहोत्र से भी प्राप्त करता है। जो विद्वान् पौर्णमासी याग करता है और वह उक्थ्य से जितना फल प्राप्त करता है, उतना उससे भी प्राप्त करता है। जो विद्वान्

अमावास्या का अनुष्ठान करता है और वह अतिरात्र से जितना फल प्राप्त करता है, उतना ही अमावस्या से प्राप्त करता है। इन सभी स्थलों में ज्ञान का स्वतन्त्र फल बतलाते हुए उसमें प्रमाण बतलाया है।

किञ्च तत्तद्विधिसमीपे य एवं वेदेति वचनानि वेदनादेव फलं ब्रुवते। तान्यर्थवादरुपाणीति चेत्। अस्तु नाम। सहामहे वैतमपराधं तेषां वचनानां विधेयार्थप्रशंसापरत्वात्। तर्हि "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इति न्यायेन स्वार्थे प्रामाण्यं नास्तीति चेत्। न। महातात्पर्यस्य विधेयविषयत्वेऽप्यवान्तरतात्पर्यस्य स्वार्थविषयतानिवारणात्। "ग्रावाणः प्लवन्ते" इत्यर्थवादस्यापि स्वार्थप्रामाण्यं प्रसज्येतेति चेत्। न। प्रमाणान्तरबाधितत्वात्। "द्विः संवत्सरस्य सस्यं पच्यते" इत्याद्यर्थवादस्य तु बाधाभावेऽप्यनुवादत्वान्न स्वार्थे प्रामाण्यम्। वेदनफलवचनानि तु नानुवादकानि, नापि बाध्यानि। तस्मादर्थवादत्वेऽप्यस्त्येषां स्वार्थे प्रामाण्यम्। अन्यथा मन्त्रार्थवादादिभ्यो देवादीनां विग्रहादिमत्त्वं न सिध्येत्।

अतएवोक्तम्—

"विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः" ॥ इति।

किं बहुना, विद्यत एवावश्यं वेदनमात्रादपूर्वम्। अतो वेदनाय वेदो व्याख्यायते। योऽयं विषयरुप इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारोपायः सामान्यतो निर्दिष्टः स विशेषेण स्पष्टीक्रियते। वेदस्तावत् काण्डद्वयात्मकः। तत्र पूर्व्वस्मिन् काण्डे नित्यनैमित्तिककाम्यनिषिद्धरुपं चतुर्विधं कर्म्म प्रतिपाद्यम्। "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादिकं नित्यम्, तस्य नियतनिमित्तत्वात्।

दूसरी बात है कि प्रत्येक विधायक वाक्यों के समीप "य एवं वेद" इस तरह के वचनों के बल से ज्ञान से भी स्वतन्त्र फल का प्रतिपादन किया है। वेदन-प्रतिपादक वचनों को अर्थवाद रुप मान लिया जाय, तथापि कोई आपत्ति नहीं है, अथवा विधेय पदार्थों के प्रशंसा-परक होने के कारण उन वचनों का यह अपराध

सहन करना ही पड़ेगा। कारण यह है कि विधि वाक्यों से विहित, अर्थवाद वाक्यों से प्ररोचित तथा मन्त्रों से अनुस्मृत होते हुए जो कर्म अनुष्ठित होता है, वही अभ्युदय का साधक होता है।

प्रश्न—उन वचनों को प्रशंसा-परक मान लेने पर "यत्परक शब्द होता है, वही उसका अर्थ होता है" इस न्याय से स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं रहेगा। परक= वाचक।

समाधान—वाक्यों का विधेय विषय में ही महातात्पर्य होता है तथापि अवान्तर तात्पर्य के विषयता का निवारण नहीं किया जा सकता। यदि कहा जाय कि इस प्रकार "ग्रावाण: प्लवन्ते" इत्यादि अर्थवादों का भी स्वार्थ में प्रामाण्य सिद्ध होने लगेगा। किन्तु यह ठीक नहीं। कारण यह है कि उसका स्वार्थ में प्रामाण्य प्रमाणान्तर से वाधित है। "द्वि: सम्वत्सरस्य सस्यं पच्यते" इत्यादि अर्थवादों का वाध नहीं है तथापि अनुवादक होने के कारण स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं माना जाता। वेदनफल-प्रतिपादक वचन न अनुवादक है और न वाधित है। अत: अर्थवाद होने पर भी इनका स्वार्थ में प्रामाण्य रहता ही है। अन्यथा मन्त्र और अर्थवादादि के द्वारा देवताओं की विग्रहादिमत्ता सिद्ध नहीं होगी। इसीलिये कहा भी है—परस्पर विरोध रहने पर गुणवाद, पूर्व निश्चित-विषयक रहने पर अनुवाद और पूर्वोक्त उन अर्थों के न रहने पर भूतार्थवाद होता है—इस प्रकार अर्थवाद तीन प्रकार के होते हैं। अधिक क्या कहना है? वेदन मात्र से भी अवश्य अपूर्व होता है। इसलिये ज्ञान के लिये वेद की व्याख्या करनी चाहिए। जो विषयरुप इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार का उपाय पूर्व में निर्दिष्ट हुआ, उसी को विशेष रुप से स्पष्ट किया जाता है।

वेद में पूर्व और उत्तर दो काण्ड होते हैं। इसलिये वह काण्डद्वयात्मक कहा जाता है। पूर्व काण्ड में नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध रुप चार प्रकार के कर्म प्रतिपादित हैं। "जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र होम करे" इत्यादि नित्य कर्म हैं; क्योंकि इनका निमित्त नियत=निश्चित है।

"यस्य गृहान् दहत्यग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत" इत्यादिकं नैमित्तिकं, तस्यानियतनिमित्तत्वात्। 'चित्रया यजेत पशुकामः" इत्यादिकं काम्यम्। तस्मान्मलवद्वाससा न संवदेत न सहासीत" इत्यादिकं निषिद्धम्। तेषु नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात्तदकरणे प्रत्यवायरूपमनिष्टं परिह्रियते। स च प्रत्यवायो याज्ञवल्क्येन स्मर्यते—

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥
(या० स्मृ० ३।२१९) इति।

यावज्जीवादिवाक्येष्वनुक्तोऽप्यवर्जनीयतया स्वाभीष्टः स्वर्गः प्राप्यते। तथा चापस्तम्वः—तद्यथा आम्रे फलार्थे निर्म्मितेच्छायागन्धावित्य-नूत्पद्येते। एवं धर्म्मेऽपि चर्य्यमाणेऽर्था अनूत्पद्यन्ते" इति। काम्यस्येष्ट-प्राप्तिहेतुत्वं तद्विधिवाक्य एव स्पष्टम्। इष्टविघातमनिष्टञ्चार्थात् परिह्रियते। निषिद्धवर्जनेन रागप्राप्तनिषिद्धानुष्ठानजन्यो नरकपातः परिह्रियते। न केवलं नित्यनैमित्तिकाभ्यामानुषङ्गिकस्वर्गप्राप्तिः, किन्तु धीशुद्ध्यादिविविदिषोत्पादनद्वारा ब्रह्मज्ञानहेतुत्वमपि तयोरस्ति। तथा च वाजसनेयिनः समामनन्ति—तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति। एवं तर्हि पूर्वकाण्ड एवाशेष पुरुषार्थसिद्धेः कृतमुत्तरकाण्डेनेतिचेत्। न।

"जिस अग्निहोत्री के गृह को अग्नि जला दे, वह उस असन्तुष्ट अग्नि के लिये अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे" इत्यादि नैमित्तिक कर्म हैं; क्योंकि उसका निमित्त अनियत = अनिश्चित है। "पशु चाहने वाला व्यक्ति चित्रा याग करे" इत्यादि काम्य कर्म हैं और "रजस्वला के साथ संवाद = बातचीत न करे और न साथ बैठे" इत्यादि निषिद्ध कर्म हैं। इनमें नित्य और नैमित्तिक कर्मों का उसके अनुष्ठान न करने से होने वाले प्रत्यवाय रूप अनिष्ट का परिहार ही फल है। याज्ञवल्क्य ने उस प्रत्यवाय का स्मरण किया है—वेद आदि से विहित कर्मों का अनुष्ठान न करने से शिष्टों के द्वारा निन्दित कर्मों का सेवन = अनुष्ठान करने से

और इन्द्रियों का निग्रह न करने से मनुष्य पतन को प्राप्त करता है। पूर्वोक्त "यावज्जीवादि" वाक्यों के द्वारा उक्त न होने पर भी निषिद्ध न होने के कारण अपना अभीष्ट = वाञ्छित फल स्वर्ग को प्राप्त करता है।

महर्षि आपस्तम्ब ने भी कहा है—जिस प्रकार फल के लिये आम्र-वृक्ष का निर्माण किया जाता है अर्थात् वृक्ष का रोपण किया जाता है; परन्तु उससे छाया और गन्ध भी उत्पन्न होते हैं अर्थात् प्राप्त भी होते हैं। उसी प्रकार धर्म का आचरण करने पर अर्थ भी उत्पन्न होते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं। काम्य कर्म इष्ट-फल की प्राप्ति का हेतु है—यह उस विधिवाक्य में ही स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। इष्ट के विघात और अनिष्ट का अर्थतः परिहार हो जाता है। निषिद्ध कर्मों के वर्जन से रागतः प्राप्त निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से जन्य नरकपात का परिहार हो जाता है। नित्य और नैमित्तिक कर्मों से आनुषङ्गिक केवल स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती है; किन्तु वे दोनों कर्म बुद्धि की शुद्धि आदि से [1]विविदिषा के उत्पादन के द्वारा ब्रह्म-ज्ञान के प्रति भी हेतु होते हैं।

इसीलिये वाजसनेयी=शुक्लयजुर्वेदी कहते हैं—ब्राह्मण लोग वेदों के अनुवचन, अविनाशी यज्ञ, दान और तपस्या से उस ब्रह्म-विषयिणी-जिज्ञासा का सम्पादन करते हैं।

प्रश्न—पूर्वोक्त प्रकार से पूर्वकाण्ड से ही सभी पुरुषार्थों की सिद्धि हो जायेगी, तब उत्तर काण्ड की क्या आवश्यकता है?

अपुनरावृत्तिलक्षणस्यात्यन्तिकपुरुषार्थस्य तत्रासिद्धेः। अत एवाथर्वणिका कर्म्मणो दक्षिणमार्गेण चन्द्रप्राप्तिं पुनरावृत्तिं चामनन्ति—"स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते"। अत उत्तरकाण्ड आरब्धव्यः। आत्यन्तिक पुरुषार्थसिद्धिश्च द्विविधा—सद्योमुक्तिः क्रममुक्तिश्चेति। वर्त्तमानदेहपातानन्तरमेव सिध्यति सद्योमुक्तिः। उत्तरमार्गेण गत्वा ब्रह्मलोके चिरं भोगाननुभूय तत्रोत्पन्नज्ञानस्य ब्रह्मलोकावसाने सिद्ध्यति

१. विविदिषा = वेत्तुमिच्छा – जानने की इच्छा।

क्रममुक्तिः । तस्मादुत्तरकाण्डे ब्रह्मोपदेशो ब्रह्मोपास्तिश्चेत्युभयं प्रतिपाद्यते । ब्रह्मोपास्ति प्रसङ्गात् ब्रह्मदृष्ट्या प्रतीकमुपास्यत्वेन सांसारिकफलकामिनमुद्दिश्य प्रतिपाद्यते । ब्रह्मोपासकप्रतीकोपासकयोः समानेऽप्युत्तरमार्गे प्रतीकोपासकस्य विद्युल्लोकादूर्ध्वं ब्रह्मलोकगमनाभावेन क्रममुक्तेरप्यभावादस्ति पुनरावृत्तिः । एतच्च "अप्रतीकालम्बनान् नयति" इत्यधिकरणे (वेदान्त ४।३।१५-१६) द्रष्टव्यम् ।

नन्वस्त्वेवं पूर्वोत्तरकाण्डयोस्तत्र तत्रोचितप्रयोजनं फलविशेषश्च, तथापि पूर्व्वकाण्डस्यादौ कर्मान्तरं परित्यज्य दर्शपूर्णमासेष्टिरेव कुतः प्रतिपाद्यत इति चेत्, प्रकृतित्वान्निरपेक्षत्वाच्चेति ब्रूम । प्रकर्षेण अङ्गोपदेशो यत्र क्रियते सा प्रकृतिः । कृत्स्नाङ्गविषयत्वमुपदेशस्य प्रकर्षः । विकृतिषु तु विशेषाङ्गमात्रस्योपदेशः क्रियते, अङ्गान्तराणि तु ऽकृतेरतिदिश्यन्ते । अतोऽतिदेशस्य प्रकर्षाभावः । प्रकृतिस्त्रिविधा अग्निहोत्रमिष्टिः सोमश्चेति । त्रिष्वप्येतेषु अन्यनैरपेक्ष्येण स्वाङ्गजातं सर्वमुपदिष्टम् ।

समाधान—पूर्व काण्ड से अपुनरावृत्ति-लक्षण आत्यन्तिक पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है । अतः उसके लिये उत्तरकाण्ड की आवश्यकता है । इसीलिये आथर्वणिक ऐसा मानते हैं कि कर्मोपासक पुरुष दक्षिण मार्ग के द्वारा चन्द्रलोक को प्राप्त करता है और पुनः पुनः उसकी आवृत्ति = आवागमन होता रहता है । "वह कर्म की उपासना करने वाला चन्द्रलोक के ऐश्वर्य का अनुभव करके पुनः आवृत्ति को प्राप्त करता है ।" इसलिये आत्यन्तिक पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए उत्तरकाण्ड का आरम्भ आवश्यक है । आत्यन्तिक पुरुषार्थ की सिद्धि दो प्रकार की होती है—सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति । वर्त्तमान देह के नाश के अनन्तर ही सद्योमुक्ति की सिद्धि होती है । उत्तरमार्ग से जाकर ब्रह्मलोक में चिरकाल तक अनेक प्रकार के भोगों का अनुभव करते हुए वहाँ होने वाले ब्रह्मज्ञान से ब्रह्मलोक के अन्त में होने वाली मुक्ति क्रममुक्ति कहलाती है । अतएव उत्तरकाण्ड में ब्रह्म का उपदेश और उसकी उपासना दोनों का प्रतिपादन किया जाता है । ब्रह्म की उपासना

के प्रसङ्ग में ब्रह्मदृष्टि से ही सांसारिक-फल की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों को उद्देश्य करके प्रतीक का उपास्य रूप से प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म की उपासना और प्रतीक की उपासना करने वाले समान हैं तथापि उत्तरमार्ग में प्रतीक की उपासना करने वाले विद्युत् लोक से आगे ब्रह्मलोक में नहीं जाते हैं। अतः उनकी क्रममुक्ति भी नहीं होती है। फलस्वरूप आवागमनरूप आवृत्ति को प्राप्त करते हैं। यह प्रतीकालम्वनाधिकरण में प्रतिपादित है।

प्रश्न—पूर्वकाण्ड और उत्तरकाण्ड का उचित प्रयोजन और फलविशेष है तथापि पूर्वकाण्ड के प्रारम्भ में अन्य कर्मों को छोड़कर दर्शपूर्णमास नामक इष्टि का ही प्रतिपादन क्यों किया गया ?

समाधान—दर्शपूर्णमास नाम की इष्टि सभी इष्टियों की प्रकृति है, अतः निरपेक्ष है। उसको अन्य किसी की अपेक्षा नहीं होती। इसलिये सबसे पहले इसी का निरूपण किया गया। जहाँ प्रकृष्ट रूप से अङ्गों का उपदेश किया जाय, उसे प्रकृति कहते हैं। उपदेश की सम्पूर्ण अङ्गविषयता ही प्रकर्षता है। विकृतियों में विशेष अङ्गमात्र का ही उपदेश किया जाता है। अन्य अङ्गों का प्रकृति से अतिदेश कर लिया जाता हैं। अतः अतिदेश में प्रकर्षता नहीं रहती। प्रकृति तीन प्रकार की होती है—अग्निहोत्र, इष्टि और सोम। इन तीनों में अन्यनिरपेक्ष अपने सभी अङ्गसमूहों का उपदेश है।

तत्र सोमयागस्य स्वरूपेणान्यनैरपेक्ष्येऽप्यङ्गेषु दीक्षणीयाप्रायणीयादिषु दर्शपूर्णमासेष्टिसापेक्षत्वान्न पूर्व्वभावित्वं युक्तम्। इष्टेस्तु सोमयागनैरपेक्ष्यात् सोमात् प्राचीनत्वं युक्तम्। यद्यप्यग्निहोत्रस्य स्वरूपेऽङ्गेषु वा नास्त्यन्यापेक्षा तथाप्यग्निसिद्धयपेक्षत्वादाहवनीयाद्यग्नीनाञ्च पवमानेष्टिसाध्यत्वात्, पावमानेष्टीनां च दर्शपूर्णमासविकृतित्वात् परम्परयाऽग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासापेक्षास्तीति प्रथमभावित्वं न युक्तम्। दर्शपूर्णमासयोरग्निसाध्यत्वादग्निसाधकमाधानं प्रथमतो वक्तव्यमिति चेत्। मैवम्। नाधानमात्रेणाग्नयः सिध्यन्ति, किन्तु पवमानेष्टिभिरपि। ताश्च इष्टयो दर्शपूर्णमासविकृतित्वात् साक्षादेव दर्शपूर्णमासावपेक्षन्ते। दर्शपूर्णमासौ

तु अग्निद्वारा पावमानेष्टिसापेक्षावपि न साक्षात् पवमानेष्टिरपेक्षेते। अतो निरपेक्षत्वाद्दर्शपूर्णमासेष्टिरेव प्रथमं वक्तव्या। ऋग्वेदसामवेदयोरादौ दर्शपूर्णमासेष्टिर्नाम्नातेति चेत्। वाढम्। यजुर्वेदमपेक्ष्य दर्शपूर्णमासयोरादित्वमुक्तम्, कर्मकाण्डविषये यजुर्वेदस्यैवप्राधान्यात्। आनुपूर्व्यात् कर्मणां स्वरूपं यजुर्वेदे समाम्नातम्। तत्र-तत्र विशेषापेक्षायामपेक्षितायां याज्यापुरोऽनुवाक्यादय ऋग्वेदे समाम्नायन्ते, स्तोत्रादीनि तु सामवेदे। तथा सति भित्तिस्थानीयो यजुर्वेदः, चित्रस्थानीयावितरौ। तस्मात् कर्म्मसु यजुर्वेदस्य प्राधान्यम्, तस्मिंश्च दर्शपूर्णमासेष्टिरादौ समाम्नाता। यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः, तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वान्मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः। मन्त्राश्च त्रिविधाः—ऋचः सामानि यजूंषि चेति। तत्र यजुषामध्वर्युवेदेऽतिवहुलत्वात् क्वचित् क्वचिदृचां सद्भावेऽपि यजुर्वेद इत्याख्यायते। अध्वर्युवेदत्वञ्चास्यानादिसिद्धयाज्ञिकसमाख्यावलादवगन्तव्यम्।

उनमें सोमयाग स्वरूपतः अन्यनिरपेक्ष होता है तथापि दीक्षणीया, प्रायणीया आदि अङ्गों को दर्शपूर्णमास इष्टि के सापेक्ष होने के कारण उनका पहले निरूपण उचित नहीं है। इष्टियों में सोमयाग की अपेक्षा नहीं रहती है, अतः उसकी प्राचीनता भी उचित ही है। यद्यपि अग्निहोत्र के स्वरूप या अङ्गों में अन्य की अपेक्षा नहीं रहती तथापि अग्निसिद्धि की अपेक्षा रहती ही है। आहवनीयादि अग्नि पवमानेष्टिसाध्य है और पवमानेष्टि दर्शपूर्णमास की विकृति है। अतः परम्परा सम्बन्ध से अग्निहोत्र को दर्शपूर्णमास की अपेक्षा है। इसलिये उसका प्रथमभावित्व उचित नहीं है। यदि कहा जाय कि दर्शपूर्णमास को अग्निसाध्य होने के कारण अग्निसाधक आधान का पहले निरुपण होना चाहिये था। किन्तु यह ठीक नहीं है। कारण यह है कि आधानमात्र से अग्नि की सिद्धि नहीं होती, उसमें पवमानेष्टि की भी आवश्यकता होती है। वे इष्टियाँ दर्शपूर्णमास की विकृति हैं। इसलिये साक्षात् ही दर्शपूर्णमास की अपेक्षा रखतीं हैं। दर्शपूर्णमास अग्नि के द्वारा पवमानेष्टि-सापेक्ष है, तथापि साक्षात् पवमानेष्टि की अपेक्षाः नहीं होती। अतः निरपेक्ष होने के कारण दर्शपूर्णमास का ही निरुपण पहले होना आवश्यक है।

यदि कहा जाय कि ऋग्वेद और सामवेद के प्रारम्भ में दर्शपूर्णमासेष्टि नहीं सुनी जाती है, अतः उसकी प्राथमिकता कैसे सिद्ध होगी ? यह प्रश्न उचित नहीं है; क्योंकि यजुर्वेद के अनुसार दर्शपूर्णमास की प्राथमिकता कही गयी है और कर्मकाण्ड के विषय में यजुर्वेद की ही प्रधानता होती है। आनुपूर्वी = क्रम से कर्मों का स्वरूप यजुर्वेद में ही देखा गया है। तत्तद् स्थलों में विशेष की अपेक्षा होने पर अपेक्षित याज्या, पुरोऽनुवाक्या आदि मंत्र ऋग्वेद में और स्तोत्र आदि सामवेद में श्रुत है। इस प्रकार भित्ति स्थानीय यजुर्वेद और ऋग्वेद तथा सामवेद चित्र स्थानीय है। इसलिये कर्मों के विषय में यजुर्वेद की प्रधानता है और उसमें दर्शपूर्णमास नाम की इष्टि पहले श्रुत है। यद्यपि मंत्र और ब्राह्मण दोनों मिलकर वेद है, तथापि ब्राह्मग को मंत्र के व्याख्यान रुप होने के कारण मंत्र ही पहले श्रुत है। मन्त्र तीन प्रकार के होते हैं—ऋक्, साम और यजुः। अध्वर्यु के वेद में यजुष् मंत्रों की अधिकता होने के कारण कहीं-कहीं ऋक् मन्त्रों के रहने पर भी यजुर्वेद के नाम से व्यवहृत होता है। इसका अध्वर्युवेदत्व अनादि काल से सिद्ध याज्ञिकों की समाख्या के बल से समझना चाहिए।

अस्मिन् वेदे समाख्याता दर्शपूर्णमासेष्टिमन्त्रास्त्रिविधाः—आध्वर्य्यवा, याजमाना, हौत्रकाश्चेति। 'इषे' इत्यादौ प्रपाठके पठिता आध्वर्य्यवाः। 'सं त्वा सिञ्चामि' इत्यादौ पठिता याजमानाः। 'सत्यं प्रपद्ये' इत्यादौ पठिता हौत्राः। एतेषां मध्ये याजमानानां हौत्राणाञ्च चित्रस्थानीयत्वाद् भित्तिस्थानीयानामाध्वर्य्यवाणामेवादौ पाठो युज्यत इति। तेऽपि आध्वर्य्यवाः 'इषे त्वा' इत्यादिषु त्रयोदशस्वनुवाकेषु आम्नाताः। तत्र प्रथमेऽनुवाके वत्सापाकरणार्था मन्त्राः। द्वितीये बर्हिःसम्पादनार्थाः। तृतीये दोहनार्थाः। चतुर्थे हविर्निर्वापार्थाः। पञ्चमे व्रीह्यवघातार्थाः। षष्ठे तण्डुलपेषणार्थाः। सप्तमे कपालोपधानार्थाः। अष्टमे पुरोडाशनिष्पादनार्थाः। नवमे वेदीकरणार्थाः। दशमे प्राधान्येनाज्यग्रहणार्थाः प्रसंगात् पत्नी-संनहनार्थाः। एकादशे प्राधान्येनेध्मसंनहनार्था बर्हिरास्तरणाद्यर्थाश्च। द्वादशे आघारार्थाः। अत्र सामिधेनीप्रयाजाज्यभागप्रधानयागादि-

मन्त्राणां प्राप्तावसरत्वेऽपि तेषां हौत्रत्वात् तानुपेक्ष्योपरितनप्रयोगाङ्गभूता आध्वर्य्यवा: स्त्रुग्व्यूहनादिमन्त्रास्त्रयोदशे समाम्नाता:। तदेतत् सर्व्वं विनियोगसंग्रहकारेणेत्थं संगृहीतम्—

"ये दर्शपूर्णमासाङ्गमन्त्रा एते समासत:।
इषे त्वाऽऽद्यनुवाकेषु त्रयोदशसु वर्णिता:॥
वत्सापाकरणं बर्हिर्दोहो निर्वापकण्डने।
पेषणञ्चकपालानि पुरोडाशश्च वेदिका॥
आज्यग्रहेध्मसंनाहावाघारोपरितन्त्रके।
इत्युक्ता अनुवाकार्था: प्रतिमन्त्रं क्रियोच्यते" ॥ इति।

किमिदं वत्सापाकरणं, कथं वा तस्य प्राथम्यमिति चेत्। उच्यते। सन्ति दर्शयागे त्रीणि प्रधानानि हवींषि, पूर्णमासयागे च त्रीणि। आग्नेयोऽष्टाकपाल ऐन्द्रं दध्यैन्द्रं पय इति दर्शयागे। आग्नेयोऽष्टाकपाल आज्येन प्राजापत्य उपांशुयागोऽग्नीषोमीय एकादशकपाल इति पूर्णमासे। तत्र प्रतिपद्दिने दधिहोमे दधिसम्पादनायामावास्यायां रात्रौ गावो दोग्धव्या:। तद्दोहनार्थं प्रात:काले लौकिकदोहनादूर्ध्वं स्वमातृभि: सह सञ्चरन्तो वत्सा मातृभ्योऽपाकरणीया:।

इस वेद में श्रुत दर्शपूर्णमासेष्टि मंत्र तीन प्रकार के हैं—आध्वर्यव, याजमान और हौत्रक या हौत्र। 'इषे' इत्यादि प्रपाठक में पठित मन्त्र आध्वर्यव कहलाते हैं। 'सं त्वा सिञ्चामि' इत्यादि में पठित मन्त्र याजमान कहलाते हैं। 'सत्यं प्रपद्ये' इत्यादि में पठित मन्त्र हौत्र कहलाते हैं। इन सभी मन्त्रों में याजमान और हौत्र चित्रस्थानीय हैं। अत: भित्तिस्थानीय आध्वर्यव मन्त्रों का प्रथम पाठ युक्त ही है। वे आध्वर्यव मन्त्र भी 'इषे त्वा' इत्यादि त्रयोदश अनुवाकों में पठित हैं। उसके प्रथम अनुवाक में वत्सापाकरण के प्रतिपादक मन्त्र हैं। द्वितीय अनुवाक में बर्हि: सम्पादन के बोधक मन्त्र हैं। तृतीय में दोहनार्थक, चतुर्थ में हविर्निर्वाप के बोधक, पञ्चम में व्रीहि के अवघात का प्रतिपादक, षष्ठ में तण्डुलपेषण के बोधक, सप्तम में कपालोपधानार्थक, अष्टम में पुरोडाशनिष्पादनार्थक, नवम में वेदी-

करणार्थक, दशम में प्रधान रूप से आज्यग्रहणार्थक और प्रसङ्गतः पत्नीसंनहनार्थक, एकादश में प्रधान रूप से इध्मसंनहनार्थक और बर्हिः आस्तरणाद्यर्थक, द्वादश में आघारार्थक और त्रयोदशवें अनुवाक में सामिधेनी, प्रयाज, आज्यभाग, प्रधान-यागादि मन्त्रों को अवसर प्राप्त होने पर भी उनको हौत्र होने के कारण उसकी उपेक्षा करके उपरितनप्रयोगों के अङ्गभूत स्त्रुग्व्यूहनादि के प्रतिपादक आध्वर्यव मन्त्र श्रुत हैं। विनियोग संग्रहकार ने इन सबों का संग्रह इस प्रकार किया है—

इषेत्वा' इत्यादि त्रयोदश अनुवाकों में दर्शपूर्णमास के अंगभूत मंत्र वर्णित हैं, उनका संक्षेप रूप से वर्णन किया जाता है—वत्सापाकरण, बर्हिः सम्पादन, दोह, निर्वाप, कण्डन, पेषण, कपालोपधान, पुरोडाश, वेदि निर्माण, आज्यग्रह, इध्मसंनहन आघार, उपरितन्त्र इत्यादि अनुवाकों में ये पदार्थ कथित हैं। प्रत्येक मन्त्रों में क्रिया का प्रतिपादन है।

प्रश्न—यह वत्सापाकरण क्या है? उसकी प्राथमिकता कैसे है?

समाधान—दर्श और पूर्णमास याग में तीन-तीन प्रधान हविः होते हैं। दर्श याग में आग्नेय अष्टाकपाल, आज्य के द्वारा प्राजापत्य, उपांशु याग और अग्नी-षोमीय एकादशकपाल। प्रतिपद् दिन में दधिहोम होता है। उस दधि के सम्पादन के लिये अमावास्या की रात्रि में गोदोहन करना चाहिए। उस दोहन के लिये प्रातःकालिक लौकिक दोहन के पश्चात् अपनी माताओं के साथ सञ्चरन् करते हुए (घूमते हुए) वत्सों को (बछड़ों को) माताओं से अलग करना चाहिये।

तदिदं वत्सापाकरणं यथोक्तरीत्या, तस्य प्राथम्यञ्च। तत्र वत्सापाकरणं सद्यश्छिन्नया पलाशशाखया कर्त्तव्यमिति। तच्छेदनार्थोऽयमिषे त्वेति मन्त्र आदौ समाम्नायते। तस्य च मन्त्रस्य तच्छेदनाङ्गत्वं ब्राह्मणे द्रष्टव्यम्। अतएव सब्राह्मणो मन्त्रो ज्ञातव्य इति। छन्दोगा अधीयते—"यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो दैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण यजति याजयति वाध्यापयति वा स्थानं वच्छंति गर्त्ते वा पात्यते प्रमीयते पापीयान् भवति। तस्मादेतानि मन्त्रे-मन्त्रे विद्याद्" इति। आर्षेय ऋषिसम्बन्धः। अतीन्द्रियार्थद्रष्टारो हि ऋषयः। तेषां वेदद्रष्टृत्वं स्मर्यन्ते—

"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्व्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा" ॥ इति ॥

इषे त्वादीनाञ्च मन्त्राणां प्रजापतिर्ऋषिः। तथा च काण्डानुक्रमणिकायामुक्त म्—

"शाखादि याजमानञ्च होतॄन् हौत्रञ्च दार्शिकम्।
तद्विधीन् पितृमेधञ्च नवाहुः कस्य तद्विदः" ॥ इति ॥

शाखादिरिषेत्वादि प्रपाठकः। याजमानंसं त्वा सिञ्चामीत्यादि। होतारः चित्तिः स्रुगित्यादयो मन्त्राः। सत्यं प्रपद्य इत्यादिकं दार्शिकं हौत्रम्। तद्विधयः प्रोक्तानाञ्चतुर्विधमन्त्राणां चत्वारि ब्राह्मणानि। पितृमेधः परे युवा ँ समित्यादिः। तान्येतानि नवकाण्डानि प्रजापतिना दृष्टानि। छन्दोविशेषाणाञ्च वेदाङ्गभूते छन्दोनामके ग्रन्थे द्रष्टव्याः। मन्त्रपदव्याख्यानादेव तत् प्रतिपाद्यार्थरूपदेवता विज्ञायते। ब्राह्मणविशेषस्तु तत्तन्मन्त्रव्याख्यानावसर एवोदाह्रियते। यद्यपि मन्त्रविनियोगा ब्राह्मणे सर्वेऽपि नाम्नाताः; तथापि कल्पसूत्रकारैर्ब्राह्मणान्तरपर्य्यालोचनया सर्वेऽभिहिताः। अतो वोधायनादिसूत्रोदाहरणादिपूर्व्वकं ब्राह्मणानुसारेण मन्त्रार्थं योजयामः।

॥ इति तैत्तिरीयसंहिता भाष्यभूमिका ॥

यह वत्सापाकरण विधि-प्रतिपादित रीति से होना चाहिए और उसकी प्राथमिकता भी है। वत्सापाकरण शीघ्र ही छिन्न पलाश की शाखा से करना चाहिए। उसके छेदन के लिये 'इषे त्वा' यह मन्त्र प्रारम्भ में श्रुत है! वह पलाश-शाखा के छेदन का अङ्ग है—यह ब्राह्मण वाक्यों में देखना चाहिए। इसीलिये ब्राह्मण वाक्यों के सहित मन्त्रों का ज्ञान करना आवश्यक है। सामवेदी पढ़ते हैं—जो व्यक्ति ऋषि-सम्बन्ध, छन्द, देवता आदि के ज्ञान के विना ही मन्त्रों से यजन, याजन या उसका अध्यापन करते हैं, वे समुचित स्थान से च्युत हो जाते हैं या गर्त्त में गिर जाते हैं, हिंसा करते हैं, पापी होते हैं। अतः इन सबों का प्रत्येक मंत्रों में ज्ञान करें। आर्षेय का ऋषि-सम्बन्ध अर्थ है। अतीन्द्रिय पदार्थों को भी देखने वाले ऋषि कहलाते हैं। इनका वेदद्रष्टृत्व स्मृतियों में प्रतिपादित है—ब्रह्मा से अनुज्ञात

महर्षियों ने युग के अन्त में अन्तर्हित इतिहासों के साथ वेदों को तप के वल से प्राप्त किया।

'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्रों का प्रजापति ऋषि है। काण्डानुक्रमणिका में इसका प्रतिपादन किया गया है। यथा—

शाखादि, याजमान, होताओं को, दार्शिक हौत्र, उनकी विधियों और पितृमेध इन नव काण्डों को प्रजापति ने देखा। शाखादि 'इषे त्वा' इत्यादि प्रपाठक है। याजमान 'सं त्वा सिञ्चामि' इत्यादि। होता 'चित्तिः स्त्रुग्' इत्यादि मन्त्र। 'सत्यं प्रपद्ये' इत्यादि दार्शिक हौत्र। पूर्वोक्त चार प्रकार के मन्त्रों का चार ब्राह्मण! परे युवांसमित्यादि से पितृमेध। इन नव काण्डों को प्रजापति ने देखा। वेदाङ्गभूत छन्द नाम के ग्रन्थ में छन्दविशेष को देखना चाहिए। मन्त्र के पदों की व्याख्या से ही उससे प्रतिपाद्य अर्थ रूप देवता का ज्ञान होगा। प्रत्येक मन्त्रों के व्याख्यान के समय ही ब्राह्मण विशेष को उदाहरण रूप से प्रस्तुत किया जायेगा। यद्यपि ब्राह्मण में सभी विनियोग श्रुत नहीं हैं तथापि दूसरे ब्राह्मणों के पर्यालोचन से कल्पसूत्रकारों ने सबों का प्रतिपादन किया है। अतः बोधायनादि के सूत्र तथा उदाहरणादि पूर्वक ब्राह्मण के अनुसार मन्त्रों के अर्थों की योजना की जायेगी। (यह भूमिकामात्र है। इसके भाष्य की रचना करनी है। इसलिये यह कहा गया है)।

इस प्रकार तैत्तिरीय संहिताभाष्यभूमिका की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई।

श्रीः

श्रीमत्सायणाचार्यकृता

ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका

हिन्दी व्याख्या संवलिता

मङ्गलाचरणम्

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥
यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥
यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः ।
आदिशन् माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥ ३ ॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात् ।
कृपालुर्माधवाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥ ४ ॥
आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा ।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ॥ ५ ॥
एतस्मिन् प्रथमोऽध्यायः श्रोतव्यः सम्प्रदायतः ।
व्युत्पन्नस्तावता सर्वं बोद्धुं शक्नोति बुद्धिमान् ॥६॥

श्रीवेङ्कटाचलाधीशं श्रियाध्यासितवक्षसम् ।
श्रितचेतनमन्दारं श्रीनिवासमहं भजे ॥ १ ॥

आचार्य सायण ने "वागीशाद्याः" यह प्रथम श्लोक के द्वारा मंगलाचरण किया है । ग्रंथ के आरम्भ में मंगलाचरण आवश्यक है; क्योंकि आगम में कहा गया है[1] कि जिस ग्रंथ के आरम्भ में, मध्य में तथा अन्त में मंगल किया जाता

---

१. मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि चाऽध्येतारश्च मङ्गलयुक्ताः यथा स्युः—आगम ।

है, उस ग्रंथ का प्रचार-प्रसार अत्यधिक होता है, तथा उस ग्रन्थ के पढ़ने वाले सुधी-जन अपने शास्त्रों में निष्णात होते हैं। अतः इस आगम के अनुरोध से मंगलाचरण आवश्यक है। इसी प्रकार "मंगलं सफलं अविगीतशिष्टाचार विषयत्वात्" इस अनुमान से मंगल की सफलता सिद्ध हो जाने पर उसकी कर्तव्यता भी स्वतः सिद्ध हो जाती है; क्योंकि "न कुर्यान्निष्फलं कर्म" इत्यादि के द्वारा निष्फल कर्मों के अनुष्ठान का निषेध मिलता है, सफल कर्मों के अनुष्ठान का नहीं। इसलिये मंगल की अवश्यकर्तव्यता प्रतीत होती है। भगवती श्रुति भी कहती है कि "समाप्तिकामो मंगलमाचरेत्" अर्थात् निर्विघ्न ग्रंथ की परिसमाप्ति चाहने वाला पुरुष मंगल करे। अतः मंगल करना आवश्यक है, उसका परित्याग नहीं किया जा सकता।

मंगल के फल के विषय में प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों में मतभेद है। प्राचीनों का कहना है कि मंगल का फल ग्रंथ की समाप्ति है। मंगल करने से ग्रंथ निर्विघ्न परिसमाप्त हो जाता है। नवीन नैयायिक उनके मत में कार्यकारण-भावविषयक गौरव प्रदर्शन करते हुए उनके मत का खण्डन करके मंगल का फल विघ्नध्वंस को मानते हैं। ग्रन्थ की समाप्ति तो बुद्धि-प्रतिभा के बल से संभावित है। यह संक्षेप में मंगल के सम्बन्ध में जानकारी करा देना आवश्यक था। अतः विस्तृत व्याख्यान प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।

यह[1] मंगल तीन प्रकार का होता है—(क) नमस्कारात्मक, (ख) वस्तु-निर्देशात्मक, (ग) आशीर्वादात्मक। यहाँ ग्रंथकार आचार्य सायण ने नमस्कारात्मक मंगल किया है। इन्होंने भगवान् गणपति को नमस्कार किया है। भगवान् गणपति विघ्नों के स्वामी हैं। अतः विघ्नों को दूर करने के लिये उनका स्मरण तथा नमस्कार आदि समुचित है। गणेश जी अनादि देवाधिदेव हैं। गाणपत्य सम्प्रदाय के अनुसार तो वे ही सर्वात्मक परब्रह्म परमात्मा हैं। संसार की स्थित्यादि उनके अधीन है। लोक में, कोई भी ऐसा शुभ कर्म नहीं होता, जिसमें भगवान् गणेश की पूजा नहीं होती। यह तो इस लोक की सामान्य बात हुई।

१. आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्।

आचार्य सायण कहते हैं कि देवलोक में भी वृहस्पति आदि देवता-गण भी सभी श्रेयः साधक कार्यों के प्रारम्भ में जिन भगवान् गणेश को नमस्कार करके मनोवांछित-फल को प्राप्त करके कृतकृत्य अर्थात् सर्वतोभावेन अत्यन्त सन्तुष्ट हो जाते हैं, उन भगवान् गजानन (गणेश) को प्रणाम करता हूँ। इससे गणेशजी को देवाधिदेव होना निश्चित होता है और यह भी सिद्ध होता है कि जब देवता लोग भी उनकी पूजा, आराधना करते हैं तो साधारण मनुष्यों की क्या बात है, अर्थात् साधारणजनों को तो अवश्य ही सभी कार्यों के आरम्भ में उनकी पूजा करनी चाहिए ॥१॥

दूसरे श्लोक में अपने गुरु तथा इष्टदेव की वन्दना और प्रशंसा करते हैं। भगवान् महेश्वर इनके इष्टदेव एवं विद्यातीर्थजी महाराज गुरु हैं। गुरु और इष्टदेव में अभेद दर्शन कर रहे हैं। कहा भी है—गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात्परब्रह्म" इत्यादि। वेद जिनके श्वास-प्रश्वास रुप हैं और जिन्होंने वेदों के द्वारा ही सम्पूर्ण संसार की अविकल रचना की, उन विद्यातीर्थरुपी महेश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ। अभेद प्रतिपादन होने के कारण विद्यातीर्थरुपी महेश्वर या महेश्वर रुपी विद्यातीर्थ भी कहा जा सकता है। अभिप्राय यह है कि इनके गुरू ज्ञान, तपस्या तथा त्याग के द्वारा अपने इष्टदेव महेश्वर-स्वरुप हो गये थे। सदा तद्भावभावित होने के कारण उपास्य का गुण उपासक में आ जाना स्वाभाविक तथा शास्त्रसिद्ध है। अतः इनके गुरु अत्यन्त तपस्वी, ज्ञानी तथा त्यागी होने के कारण महेश्वर-गुण-सम्पन्न थे, उनको नमस्कार करते हैं ॥२॥

आचार्य सायण महाराजा बुक्क के राज्य में रहते थे। वे महाराज बुक्क केवल प्रशासक ही नहीं थे; अपितु ज्ञानी भी थे। विद्यातीर्थ महाराज के वे पूर्ण कृपापात्र थे। गुरु अपने गुणों का आधान शिष्यों में करते ही हैं। इसलिये विद्यातीर्थ रुपी महेश्वर की कृपादृष्टि से पृथ्वीपति बुक्क ने भी उनके स्वरुप को धारण कर लिया था अर्थात् अत्यन्त प्रभावशाली, ज्ञानी तथा तपस्वी बन गया था।

उस राजा ने ज्ञान के भण्डार वेदों की व्याख्या करने के लिये अपने विद्वान् अमात्य माधवाचार्य को आदेश दिया अर्थात् उनसे निवेदन किया। समुचित व्याख्या

के विना वेदों के अर्थों का प्रकाशन सम्भव नहीं है। इनसे पहले भी वेदों का भाष्य निर्मित हो चुका था, वे परन्तु सर्वजन-सुलभ नहीं थे। इसलिये वेदों के समुचित और सरल रुप से अर्थ-बोध के लिये माधवाचार्य से निवेदन किया गया। माधवाचार्य सायणाचार्य के अग्रज हैं और राजा बुक्क के महामन्त्री हैं ॥३॥

जो मीमांसा दो प्रकार की है—पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। उनकी अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करने के पश्चात् अब वेदों के अर्थों को प्रकाशित (प्रतिपादित) करने के लिए तत्पर हो गये हैं। अभिप्राय यह है कि वेद-भाष्य लिखने के पहले ये कर्मकाण्डात्मक पूर्वमीमांसा में जैमिनीयन्यायमाला तथा ज्ञान-काण्डात्मक उत्तरमीमांसा (वेदान्त) में कोई कारिका-ग्रन्थ लिख चुके थे। उसके बाद वेदों के भाष्य लिखे हैं। इस श्लोक में कृपालु शब्द माधवाचार्य के विशेषण रूप से आया है। तात्पर्य यह है कि कोई ग्रन्थकार कारुणिक या दयालु इसलिए कहा जाता है कि ज्ञानरुपी रत्न शास्त्र रुपी सागर के अन्तस्तल में निमग्न रहता है। उस रत्न को पाने के लिये शास्त्रों का मन्थन करना आवश्यक है। यह मन्थन सर्वजन-सुलभ नहीं है। ग्रन्थकार या गुरु उस शास्त्र-सागर का बुद्धि से मन्थन करके नवनीत रुपी ज्ञान को सबों के लिये सुलभ कर देते हैं और उससे सभी लोग लाभ उठाने लगते हैं, सबों का कल्याण होता है। अतः यह विशेषण देना समुचित है। यदि सायण की व्याख्या न होती, तो इस कराल-कलि-काल में वेदों के दुरूह मन्त्रों का अर्थ समझना किसी के लिये सुलभ न था। अतः कृपालु विशेषण सार्थक ही है ॥४॥

यज्ञों के अनुष्ठान में आध्वर्यव (अध्वर्यु-सम्बन्धी) वेद प्रधान होता है; क्योंकि उसी के द्वारा सारे कर्मों का अनुष्ठान होता है। इसलिये यजुर्वेद की व्याख्या सबसे पहले की गयी है। यज्ञों में अध्वर्यु सर्वप्रधान ऋत्विक् तथा यजुर्वेद सर्वप्रधान वेद होता है। अतः सबसे पहले उसकी व्याख्या समुचित ही है। उसके बाद ऋग्वेद की व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं। ऋग्वेद होता नामक ऋत्विक् का वेद है। होता के सभी कर्म इसीसे सम्पन्न होते हैं। इसलिये होता के लिये उसके ऋग्वेद की व्याख्या आवश्यक है ॥५॥

इस ऋग्वेद की विशेषता का प्रतिपादन करते हुए उसकी सरलता को बतलाते हैं कि ऋग्वेद के प्रथम अध्याय (मण्डल या अष्टक) को गुरु-सम्प्रदाय के अनुसार अर्थात् ऋग्वेद के अध्ययन की परम्परा से सुनना चाहिए = पढ़ना चाहिए। सुनना इसलिये कहा गया है कि यह श्रुति है। श्रुति सुन कर ही पढ़ी जाती है। विना गुरु से सुने केवल पुस्तक खरीद कर पढ़ने मात्र से वेद पढ़ने नहीं आ सकता। गुरुमुखोच्चारणानुच्चारण आवश्यक है। गुरु से प्रथम अध्याय पढ़ लेने पर उसको व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) हो जाती है और वह व्युत्पन्न हो जाता है। शक्तिग्रह के विना शाब्दबोध सम्भव नहीं है। उस के बाद शक्ति ग्रह से युक्त पुरुष अग्रिम अध्यायों के अर्थों को समझने में समर्थ हो सकता है। इस में एक ही अध्याय गुरु से पढ़ने का कोई नियम नहीं है। पूरे ग्रन्थ को गुरु से पढ़ा जाय, तो बहुत ही अच्छा है, परन्तु जो पूरे ग्रन्थ को किसी कारण वश नहीं पढ़ सकता, तो कम से कम एक अध्याय भी गुरु से पढ़ कर अन्य अध्यायों का अर्थ-बोध कर सकता है। गुरु से विना कुछ पढ़े सम्प्रदाय को न जान कर सम्यक् अर्थ-ज्ञान सम्भव नहीं है। इसलिये सम्प्रदाय-ज्ञान के लिये थोड़ा गुरु से पढ़ना आवश्यक है॥ ६॥

इसमें केवल माधवाचार्य का नाम आया है और सायण-भाष्य की प्रसिद्धि है, यह कैसे? समाधान—तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका के मङ्गलाचरण के प्रसङ्ग में कहा गया है कि जब राजा ने अपने अमात्य तथा गुरु माधवाचार्य को वेदभाष्य की रचना के लिये कहा, तो उन्होंने निवेदन किया कि मेरा अनुज सायण वेदार्थ को सम्यक् रुप से जानता है। अतः वेद-व्याख्यान के लिये उसी को नियुक्त करें। इस प्रकार माधवाचार्य के कहने पर राजा ने सायणाचार्य को वेदों की व्याख्या के लिये नियुक्त किया। सायणाचार्य ने अपने अग्रज होने के कारण तथा उनकी प्रेरणा से राजा के द्वारा इस महत्त्वपूर्ण कार्य में नियुक्त होने के कारण अपने सभी ग्रन्थों के आरम्भ में उनका नाम देकर कृतज्ञता प्रकट किया है। वस्तुतः भाष्यकर्त्ता आचार्य सायण ही हैं।

॥ यजुर्वेदस्य प्रथमव्याख्यानानौचित्यप्रतिपादनम् ॥

अत्र केचिदाहुः—ऋग्वेदस्य प्राथम्येन सर्वत्र आम्नातत्वाद् 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' इति न्यायेन अभ्यर्हितत्वात् तद्व्याख्यानमादौ युक्तम्; प्राथम्यश्च पुरुषसूक्ते विस्पष्टम्—

'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत' ॥

(ऋ० सं० १०।९०।९) इति

तस्मात 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्युक्तात् परमेश्वरात्, यज्ञात् यजनीयात् पूजनीयात्। सर्वहुतः सर्वैर्हूयमानात्।

मङ्गलाचरण के प्रसंग में ही कहा गया है कि पहले यजुर्वेद का व्याख्यान हो चुका है और उसके वाद ऋग्वेद का व्याख्यान करेंगे। कुछ लोगों का कहना है कि यजुर्वेद का ऋग्वेद से पहले व्याख्यान करना समुचित नहीं है; क्योंकि लोक में भी देखा जाता है कि जो पुरुष या वस्तु प्रधान होता है, वह सब से पहले गिना जाता है। गणना के प्रसंग में प्रधान का ही नाम पहले लिया जाता है। कात्यायन ने भी कहा है कि अभ्यर्हित का पूर्व प्रयोग करना चाहिए और 'तापसपर्वतौ' उदाहरण देकर इसको स्पष्ट भी किया है। तापस और पर्वत शब्द का समास होने पर पर्वत के अपेक्षा तापस को अभ्यर्हित होने के कारण पूर्व में प्रयोग किया गया। अभ्यर्हित= पूजित, पूजनीय, पूजा के योग्य; सर्वमान्य। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वप्रथम परिगणित या पूर्वप्रयुक्त पदार्थ प्रधान होता है। ऋग्वेद भी सर्वत्र सर्वप्रथम परिगणित है। अतः उसकी प्रधानता सिद्ध होती है और प्रधानता सिद्ध हो जाने पर सबसे पहले उसका ही व्याख्यान उचित था; यजुर्वेद का नहीं। केवल इतना ही नहीं; ऋग्वेद में इसकी प्राथमिकता का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है। उसमें वेदों की उत्पत्ति का वर्णन है। उत्पत्ति का तात्पर्य आविर्भाव है, घटादि के समान अपूर्व पदार्थ की उत्पत्ति नहीं; क्योंकि वेदों का अभाव कभी नहीं होता। ऋग्वेद के दशवें मण्डल में पुरुष सूक्त है। उसमें विराट् पुरुष का वर्णन है और उसी विराट् पुरुष से वेदों की उत्पत्ति बतलायी गयी है। उस विराट् पुरुष के हजारों शिर, हजारों

आँखें तथा हजारों पैर हैं, वह सारी पृथिवी को व्याप्त करके दश अंगुल अधिक होता है। इस मन्त्र में प्रयुक्त सहस्त्र=हजार शब्द अनेक अर्थ का वाचक है, सहस्त्र संख्या का नहीं; क्योंकि वह पुरुष किसी प्रकार के सीमा में नहीं है, वह निःसीम है, व्यापक है। ससीम व्यापक नहीं हो सकता, वह व्याप्य होता है। वही पुरुष परमेश्वर है। ऐश्वर्य से युक्त को ईश्वर कहते हैं और परम का अर्थ पराकाष्ठा है अर्थात् जिससे अधिक किसी के पास ऐश्वर्य न हो, वही ईश्वर या परमेश्वर कहलाता है। वही पुरुष-सूक्त-प्रतिपाद्य परमेश्वर ही यजनीय हैं, पूजनीय हैं। इसीलिये उन्हें यज्ञ शब्द से भी कहा जाता है। कहा भी है "यज्ञो वै विष्णुः" इत्यादि। वे ही सर्वहुत अर्थात् सबों के द्वारा यज्ञादिकों में पूजित होते हैं। यज्ञादि में हवि आदि का प्रक्षेप उन्हीं को उद्देश्य करके किया जाता है। अतः वे सबों के द्वारा हूयमान हैं। उन्हीं विराट् पुरुष से ऋक्, साम, छन्द और यजुः का आविर्भाव हुआ। इस उत्पत्ति-क्रम में भी ऋग्वेद की उत्पत्ति पहले बतलायी गयी है। पहले उत्पन्न होने के कारण ऋग्वेद ज्येष्ठ हुआ और प्रथम परिगणित होने के कारण श्रेष्ठ हुआ। इसलिये ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होने के कारण इसका व्याख्यान पहले होना अत्यन्त आवश्यक था, यजुर्वेद का नहीं।

"स्मृतत्वे सति उपेक्षानर्हत्वम्" के अनुसार प्रसङ्ग-प्राप्त ऋगादि का स्वरूप संक्षेप से बतला देना उचित ही है। जिन मन्त्रों में अर्थ के अनुसार पादों की व्यवस्था की जाती है, उन्हें ऋक् कहते हैं। यह जैमिनि-सूत्र, शाबरभाष्य तथा न्यायमालादि में बतलाया गया है। जिन मन्त्रों पर विशिष्ट गान का विधान है, उन्हें साम कहते हैं। जिनमें न गीति है और न पादबद्धता है, केवल प्रश्लिष्ट रुप से पठित हैं, वे यजुः कहलाते हैं। ये सब सूत्र तथा भाष्य आदि में स्पष्ट हैं।

यद्यपि इन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैव इन्द्रादिरुपेणावस्थानादविरोधः। यथा च मन्त्रवर्णः—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु—
—रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद् विप्राः वहुधा वदन्त्य—
ग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋ० सं० १।१६४।४६) इति ।

वाजसनेयिनश्चामनन्ति—

'तद् यद् इदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवम् ।
एतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः ॥
(बृ० उ० १।४।६) इति ।

तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते ।

पहले यह कहा गया कि सबों के द्वारा परमेश्वर ही पूजनीय हैं और यज्ञों में वे ही हूयमान हैं, यह ठीक नहीं है। कारण यह है कि जिसको उद्देश्य करके यागादि का अनुष्ठान किया जाता है, उस यागादि में उन्हीं की पूजा होती है। उन्हीं को उद्देश्य करके हवि आदि द्रव्यों का प्रक्षेप किया जाता है। इसलिये परमेश्वर की सर्वत्र पूजनीयता सिद्ध नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि इन्द्र देवता सभी यज्ञों में समान रुप से हूयमान होते हैं; क्योंकि यज्ञों के मुख्य हविर्भोक्ता इन्द्र ही माने जाते हैं। अतः यागादिकों में इन्द्रादि देवता की उपस्थिति होने से तथा उन-उन देवता को पूजित होने के कारण परमेश्वर की यजनीयता सिद्ध नहीं होती। समाधान— यागादिकों में इन्द्रादि की उपस्थिति होने पर भी कोई विरोध नहीं है। कारण यह है कि यज्ञ आदि में वे परमेश्वर ही इन्द्रादि रुप से उपस्थित होते हैं, दूसरे नहीं। वे परमेश्वर ही कार्य के अनुसार अनेक रुप में अर्थात् कभी इन्द्र, कभी रुद्र, कभी ब्रह्मा आदि के रुप में उपस्थित होते हैं। जो पुरुष जिस रुप से पूजन करना चाहता है, उसी रुप में उसके पास समुपस्थित हो जाते हैं। गीता में भी भगवान् कृष्ण ने कहा है कि[1] जो व्यक्ति अन्यदेवताओं की उपासना या पूजा करते हैं, वे भी मेरी ही पूजा करते हैं। इसी प्रकार एकादशवें अध्याय में जब विराट् स्वरुप का प्रदर्शन किया है, तो सारा विश्व ही नहीं, तीनों लोक उसमें दृष्ट होने लगा। इन्द्र, रुद्र सभी उसी में थे। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि उस विराट् परमेश्वर से भिन्न कोई देवता नहीं हैं।

१. भगवद्गीता ९–२३ ।

सभी उसी में अन्तर्निहित हैं। ऐसे अनेक प्रसङ्ग हैं, परन्तु यहाँ उसका अवसर नहीं है। अन्यत्र गोवर्द्धन-पर्वत-धारण के समय का प्रसङ्ग भी स्मरण किया जा सकता है। अतः यह निश्चित होता है कि इन्द्र आदि भी परमेश्वर के अन्तर्गत ही हैं, भिन्न नहीं। इसलिये पूर्व की शङ्का निर्मूल हो जाती है। ऋग्वेद-संहिता में भी कहा गया है कि एकही सद् पदार्थ है; परन्तु वेदाध्ययन-शील तत्त्वज्ञानी ब्राह्मण उसी को इन्द्र, सूर्य, वरुण, अग्नि, द्युलोक में उत्पन्न शोभन पंखों से युक्त गरुड, यम तथा वायु आदि अनेक प्रकार से बतलाते हैं, उसका कथन करते हैं। तात्पर्य यह है कि नाम के अनेक होने पर भी उसमें अनेकता नहीं आती और न इन लोगों की भिन्न सत्ता ही रहती है। वस्तु-तत्त्व एक है।

बृहदारण्यक-उपनिषद् यजुर्वेदीय काण्वी शाखा वाजसनेय ब्राह्मण से सम्बन्धित है। उसमें कहा गया है कि विद्वान् लोग अग्नि, वरुण आदि भिन्न-भिन्न देवताओं को मानकर 'इसका (इन्द्रका) यजन करो' 'अग्नि का यजन करो' ऐसा कहते हैं। वह नामों के द्वारा देवताओं के भेदमात्र है। अपने-अपने अनुसार एक-एक देवता के यजन का उपदेश करते हैं। वस्तुतः सभी देवता उस परमेश्वर के विसृष्टि = भेदमात्र हैं। अतः सभी मनुष्यों के द्वारा और सभी नामों से वह परमेश्वर ही पूजित होता है। इसलिये विरोध की शङ्का नहीं की जा सकती है।

न केवलमृचां पाठप्राथम्येन अभ्यर्हितत्वं किन्तु यज्ञाङ्गदार्ढ्य हेतुत्वादपि। तथा च तैत्तिरीया आमनन्ति—

यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्, यद् ऋचा तद् दृढम् (तै० सं० ६।५।१०।३) इति। तथा च सर्ववेदगतानि ब्राह्मणानि स्वाभिहितेऽर्थे विश्वासदार्ढ्याय 'तदेतद् ऋचा अभ्युक्तम्' इति ऋचमेव उदाहरन्ति। मन्त्रकाण्डेष्वपि यजुर्वेदगतेषु तत्र तत्र अध्वर्युणा प्रयोज्या ऋचो बहव आम्नाताः। साम्नां तु सर्वेषां ऋगाश्रितत्वं प्रसिद्धम्। आथर्वणिकैरपि स्वकीयसंहितायाम् ऋच एव बाहुल्येन अधीयन्ते। अतोऽन्यैः सर्वैर्वेदैरादृतत्वादभ्यर्हितत्वं प्रसिद्धम्।

छन्दोगाश्च प्राथम्ये सनत्कुमारं प्रति नारदवाक्यमेवमामनन्ति—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथवर्णं चतुर्थम् (छा० उ० ७।१।२) इति ।

मुण्डकोपनिषद्यपि एवमाम्नायते—

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः (मुं० उ० १।१।५) इति ।

तापनीयोपनिषद्यपि मन्त्रराजपादेषु क्रमेणाध्ययनमेवमामनन्ति—

'ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति' (नृ० ता० उ० १।२) इति । एवं सर्वत्र उदाहरणीयम् । तस्माद् ऋग्वेदस्याभ्यर्हितस्यादौ व्याख्यानमुचितमिति ।

पहले वेदों के आविर्भाव-क्रम के अनुसार पाठ-प्राथम्य के द्वारा अभ्यर्हितत्व = पूजितत्व सिद्ध किया गया । अब उपयोगिता और विद्याओं की गणना के अनुसार उसका अभ्यर्हितत्व सिद्ध किया जा रहा है । केवल पाठ की प्राथमिकता से ही ऋग्वेद का पूजितत्व नहीं है, अपितु यज्ञों के अङ्गों का दृढ़ता-सम्पादक होने के कारण भी वह अभ्यर्हित है । तैत्तिरीय-संहिता में कहा गया है कि यज्ञों के जिन अङ्गों का साम और यजुष् से अनुष्ठान किया जाता है, वह शिथिल होता है और जिन अङ्गों का अनुष्ठान ऋग्वेद के द्वारा होता है, वह दृढ़ होता है । यह शिथिलता और दृढ़ता फलनिष्पत्ति का भेदक होगा । इससे भी उसकी पूज्यता सिद्ध होती है । इसी प्रकार सभी वेदों के ब्राह्मण स्व-प्रतिपादित-पदार्थों में विश्वास दिलाने के लिये ऋग्वेद का उदाहरण देते हैं कि 'जो मैं कह रहा हूँ, यह ऋग्वेद के द्वारा भी प्रतिपादित है ।' अपने से अधिक प्रामाणिक का ही उदाहरण रुप से उपस्थित किया जाता है । तभी उस वचन में लोग विश्वास करते हैं, अन्यथा नहीं । जैसे लोक में बहुत भाषण देने पर भी श्रोता तब तक प्रसन्न नहीं होता, जब तक प्रामाणिक ग्रन्थों का नाम न लिया जाय । रामायण में ऐसा लिखा है, यह महाभारत में कहा गया है—ऐसा कह देने पर सबों में प्रसन्नता की लहर छा जाती है कि वक्ता का कहना ठीक है । उसी प्रकार से प्रस्तुत स्थल में भी अभ्यर्हितत्व समझना चाहिए । यजुर्वेदगत मन्त्रकाण्ड में भी तत्तत्स्थानों में अध्वर्यु के द्वारा प्रयोग की गयी ऋचाएं अधिक मात्रा में श्रुत होतीं हैं । सामवेद तो पूरा का पूरा ऋक् पर ही आश्रित

है। ऋग्वेद के मन्त्रों पर ही साम-गान किया जाता है। अथर्ववेद में भी इसी के मन्त्रों की संख्या अधिक है। अतः सभी वेदों के द्वारा समादृत होने के कारण यह अभ्यर्हित है; क्योंकि जो अभ्यर्हित होता है, वही समादृत होता है और अपनी प्रामाणिकता के लिए बार-बार उसका नाम लिया जाता है।

सामवेदी भी सनत्कुमार के प्रति नारद के द्वारा विद्याओं की गणना के अनुसार इस प्राथमिकता को मानते हैं। नारद जी सनत्कुमार के पास आत्मज्ञान के लिये गये और कहा कि भगवन्! मुझे पढ़ाईये। उन्होंने कहाकि अब तक आप ने क्या पढ़ा? नारद ने कहा—मैंने अभी तक ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद, इतिहास, पुराण इत्यादि सभी विद्याओं को पढ़ा। नारद की इस परिगणना में भी ऋग्वेद सबसे पहले आया है। अतः वह सबसे अधिक अभ्यर्हित है। मुण्डक उपनिषद् में भी शौनक-अङ्गिरा संवाद में पराविद्या और अपराविद्या का वर्णन है। उसमें अपराविद्या के प्रसंग में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प इत्यादि की गणना की गयी है। इसमें भी ऋग्वेद की प्राथमिकता है। नृसिंहतापनीयोपनिषद् के मन्त्रराज-पाद में क्रमशः अध्ययन का वर्णन है। सभी शाखाओं और अङ्गों के साथ ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद मन्त्रराज के चार पाद होते हैं। इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अतः ऋग्वेद का अभ्यर्हितत्व सिद्ध होने के कारण इसका व्याख्यान सर्वप्रथम होना चाहिए था, यजुर्वेद का नहीं।

॥ यजुर्वेदस्य प्रथमव्याख्यानसमर्थनम् ॥

तान् प्रति एतदुच्यते—

अस्तु एवं सर्ववेदाध्ययनतत्पारायणब्रह्मयज्ञजपादौ ऋग्वेदस्यैव प्राथम्यम्। अर्थज्ञानस्य तु यज्ञानुष्ठानार्थत्वात्, तत्र तु यजुर्वेदस्यैव प्रधान-त्वात्, तद्व्याख्यानमेवादौ युक्तम्।

तत्प्राधान्यञ्च काचिद्दृगेव आह—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।

ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां
यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥
(ऋ० सं० १०।७१।११) इति ।

पूर्वपक्षी ने अभी तक उत्पत्ति सम्बन्धी प्राथमिकता, सभी वेदों में इसकी उपयोगिता तथा विद्याओं की गणना में सर्वप्रथम गिनने के आधार पर ऋग्वेद के प्रथम-व्याख्यान के औचित्य का प्रतिपादन किया । अब सिद्धान्ती उसका समाधान दे रहे हैं । इनका कहना है कि पूर्वोक्त प्रतिपादित रीति से सभी वेदों के अध्ययन, उनके पारायण, ब्रह्मयज्ञ = अध्ययनाध्यापन तथा जपादि कर्मों में ऋग्वेद की प्राथमिकता मान ली जाय, किन्तु व्याख्यान अर्थ-ज्ञान के लिये होता है और अर्थ-ज्ञान यज्ञों के अनुष्ठानों के लिये होता है । यज्ञों के अनुष्ठान में यजुर्वेद की प्रधानता होती है । अतः यजुर्वेद का ही सर्वप्रथम व्याख्यान करना समुचित है । ऋग्वेद में ही यज्ञविषयक-प्राधान्य प्रतिपादित होने के कारण यजुर्वेद की प्रधानता प्रतिपादित है । इस मन्त्र की यास्क के अनुसार व्याखया प्रस्तुत की जायेगी ।

ऋचाम् = ऋङ्मन्त्रों का । त्वः = एक । पोषमास्ते = पुष्टि कर रहा है । पुपुष्वान् = पुष्टि करने वाला । गायत्रम् = गायत्र-शब्द-वाच्य स्तुति । त्वः = एक । गायति = गान करता है । शक्वरीषु = इस नाम के ऋचाओं के ऊपर । ब्रह्मा = इस नाम का ऋत्विक् । जातविद्यां = यज्ञ में अवसर-प्राप्त अनुज्ञा । मात्राम् = स्वरूप । विमिमीते = विशेष रूप से निष्पादन करता है । इस प्रकार शब्दार्थ-निरूपण करके एक-एक पाद का अर्थ निरूपण किया जा रहा है ।

एतस्या ऋचस्तात्पर्यं निरुक्तकारो यास्कः संक्षिप्य दर्शयति 'इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे' इति । पुनरपि स एव प्रथमं पादं विवृणोति—'ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होतर्गर्चनी' (नि० १।८) इति । अस्यायमर्थः—त्वशब्द एकशब्दपर्यायो होतृविशेषणम् । होतृनामक एक ऋत्विक् यज्ञकाले स्वकीयवेदगतानाम् ऋचां पुष्टिं कुर्वन्नास्ते । भिन्नप्रदेशेष्वाम्नातानाम् ऋचां संघमेकत्र सम्पाद्यैतावदिदं शस्त्रमिति

क्लृप्तिं करोति। सेयं पुष्टिः। अर्चनीत्यमुमर्थमृक्छब्द आचष्टे। अर्च्यते प्रशस्यतेऽनया देवविशेषः क्रियाविशेषस्तत्साधनविशेषो वेत्यृक्छब्दव्युत्पत्तिरिति।

निरुक्तकार महर्षि यास्क संक्षेप रूप से इस ऋक् का तात्पर्य प्रदर्शित करते हैं—यह ऋक् ऋत्विजों के कर्मों के विनियोग का प्रतिपादन करती है। विनियोग बतलाने के पश्चात् महर्षि यास्क ही "ऋचां त्वः" इत्यादि मन्त्र के प्रथम पाद की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—"ऋचामेकः पोषमास्ते" इत्यादि के द्वारा। उसका अर्थ यह है—त्व शब्द एकशब्द का पर्याय और होता नामक ऋत्विक् का विशेषण है। अतः होता नामक एक ऋत्विक् यज्ञों के अनुष्ठान के समय अपने वेद की ऋचाओं की पुष्टि कर रहा है। भिन्न-भिन्न स्थानों में पठित ऋचाओं का एक जगह समुदाय बनाकर "यह शस्त्र है" ऐसा निश्चय करता है। इसी को पुष्टि कहते हैं। ऋक् शब्द ही 'अर्चनी' रूप अर्थ का प्रतिपादक है अर्थात् दोनों शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं। अर्चनी शब्द की व्युत्पत्ति प्रदर्शित करते हैं—जिसके द्वारा देवविशेष, क्रियाविशेष या उसके साधनविशेष की अर्चना या प्रशंसा की जाय, उसे ऋक् कहते हैं और वही अर्चनी भी है। अप्रगीत मन्त्र-साध्य स्तुति को शस्त्र कहा जाता है।

अथ द्वितीयं पादं विवृणोति—'गायत्रमेको गायति शक्वरीषूद्गाता। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः शक्वर्य ऋचः शक्नोतेस्तद् यदाभिर्वृत्रमशकद् हन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते' इति।

अस्यायमर्थः—उद्गातृनामक एक ऋत्विक् गायत्र शब्दाभिधेयं स्तोत्रं शक्वरीशब्दाभिधेयास्वृक्षु गायति, धातूनामनेकार्थत्वेन स्तुतिक्रियावाचिनो गायतिधातोरुत्पन्नोऽयं गायत्रशब्दः। शक्वरीशब्दस्तु शक्नोतिधातोरुत्पन्नः वृत्रं शत्रुं हन्तुं शक्नोति आभिर्ऋग्भिरित्येषा व्युत्पत्तिः कस्मिंश्चित् ब्राह्मणे विज्ञायत इति।

महर्षि यास्क मन्त्र के द्वितीय पाद की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—एक उद्गाता नामक ऋत्विक् शक्वरी-पदघटित मन्त्रों के ऊपर अर्थात् उसी को आधार बनाकर

गायत्र का गान करता है। गायत्र शब्द 'गै' धातु से बना है, जिसका अर्थ स्तुति है। शक्वरी शब्द शक्लृधातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ शक्तिमत्ता है अर्थात् इस ऋचा के द्वारा ही इन्द्र ने वृत्र को मारने की शक्ति को प्राप्त किया था। यही सामर्थ्य-प्रदान ही शक्वरी मन्त्र का शक्वरीत्व है। ग्रन्थकार इसी अर्थ को स्पष्ट रूप से बतलाते हैं—उद्गाता नाम का एक ऋत्विक् शक्वरी शब्द-वाच्य ऋचाओं को आधार बनाकर गायत्र शब्दवाच्य स्तोत्र का गान करता है। 'गै' धातु शब्दार्थक है, स्तुत्यर्थक नहीं, तथापि धातु को अनेकार्थक होने के कारण स्तुति का वाचक भी हो जायेगा और उसी से गायत्र शब्द निष्पन्न हुआ है। शक्वरी शब्द शक्त्यर्थक शक्लृ धातु से सम्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ शक्त्याधायकत्व है। शक्वरी शब्द की व्युत्पत्ति किसी ब्राह्मण में सुना जाता है कि इन्द्र अपने वृत्र नाम के शत्रु को मारने में इन्हीं ऋचाओं के बल से समर्थ हुए थे। तात्पर्य यह है कि यह ऋचा शक्ति-प्रदायक है, यह समर्थ बनाती है। इसीलिये शक्वरी कहते हैं।

अथ तृतीयं पादं विवृणोति—'ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति, ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति' इति। अस्यायमर्थः—ब्रह्मनामक एक ऋत्विग् जाते जाते तदा तदा उत्पन्ने यज्ञे प्रस्तुते प्रणयनादिकर्म्मणि विद्यामनुज्ञां वदति; 'ब्रह्मन् अपः प्रणेष्यामि' इत्येवं सम्बोधितः, सन् 'ॐ प्रणय' इत्यनुजानाति। स च ब्रह्मा वेदत्रयोक्तसर्व्वकर्माभिज्ञः। तस्मात् योग्यतां दृष्ट्वा तत्तदनुज्ञातुं सति प्रमादे समाधातुं च समर्थ इति। तच्च सामर्थ्यं छन्दोगा आमनन्ति—एष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्त्तनी। तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा, वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतराम् (छां० उ० ४।१६।१–२) इति।

कृत्स्नो यज्ञः प्रमादराहित्याय मनसा सम्यगनुसन्धेयः, वाचा च वेदत्रयोक्तमन्त्राः पठनीयाः। तत्र होत्रादयस्त्रयो मिलित्वा वाग्रूपं यज्ञमार्गं संस्कुर्वन्ति, ब्रह्मा त्वेक एव मनोरूपं यज्ञमार्गं कृत्स्नमपि संस्करोति। तस्मादस्यास्ति सामर्थ्यमिति।

महर्षि यास्क पूर्वोक्त मन्त्र के तृतीय पाद की व्याख्या किये हैं—एक ब्रह्मा

नाम का ऋत्विक् समय-समय पर अनुज्ञा देता है। इसीलिए ब्रह्मा सब कुछ जानने वाला होता है, वह तीनों वेदों को जानता है। अतएव वह सर्वविद् कहलाता है। निरुक्तकार के भाव को ग्रन्थकार स्पष्ट करते हैं—ब्रह्मा नाम का एक ऋत्विक् यज्ञानुष्ठान के समय प्रस्तुत होने पर प्रणयन आदि कर्मों के लिये अनुज्ञा प्रदान करता है। उदाहरण—जब कोई ऋत्विक् ब्रह्मा को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे ब्रह्मन्! अप = जल का प्रणयन करूँगा। तब ब्रह्मा 'प्रणयन करो' इस प्रकार अनुज्ञा देता है। वह ब्रह्मा तीनों वेदों के द्वारा प्रतिपादित सभी प्रकार के कर्मों को जानता है। इसीलिये योग्यता के अनुसार अनुज्ञा देने में तथा किसी ऋत्विक् के प्रमादवश अनुचित करने पर उसका समाधान करने में समर्थ होता है। ब्रह्मा के इस प्रकार के सामर्थ्य का सामवेदी भी प्रतिपादन करते हैं—छान्दोग्योपनिषद् के चौथे अध्याय में यज्ञों के विशेषता का प्रतिपादन करते हुए कहा है—अनेक विशेषताओं से युक्त यज्ञों के अनुष्ठान के प्रसङ्ग में उच्चारण के लिए प्रवृत्त वाणी और यथार्थ वस्तु के ज्ञान में प्रवृत्त मन—ये दोनों यज्ञ के वर्त्तनी हैं। वर्त्तनी = मार्ग। जिनके द्वारा विस्तारपूर्वक यज्ञ प्रवृत्त होता है, उन्हें 'वर्त्तनी' कहते हैं। उन दोनों मार्गों में से ब्रह्मा नामक ऋत्विक् किसी एक मार्ग का विवेक-ज्ञान-संवलित चित्त के द्वारा संस्कार करता है। इसी प्रकार होता, अध्वर्युं और उदगाता नामक ऋत्विक् भी वाणी (उच्चारण) के द्वारा वाक् नाम के दूसरे मार्ग का संस्कार सम्पादन करते हैं। इस प्रकार दोनों मार्गों को संस्कृत होना चाहिए। यज्ञों के अनुष्ठान में प्रमाद न हो, इसके लिये सम्पूर्ण यज्ञ का मन से सदा अनुसन्धान करना चाहिए और वाणी से तीनों वेदों के द्वारा प्रतिपादित मन्त्रों को पढ़ना चाहिए। उसमें होता आदि तीनों ऋत्विक् मिलकर वाणी रूप यज्ञ के मार्ग का संस्कार करते हैं। ब्रह्मा नामक एक ही ऋत्विक् मन रूप सम्पूर्ण यज्ञ मार्ग का संस्कार करता है। इससे ब्रह्मा का अधिक सामर्थ्य प्रतिपादित होता है, क्योंकि एक मार्ग के संस्कार में तीन ऋत्विक् मिलकर काम करते हैं और ब्रह्मा अकेले एक मार्ग का संस्कार करता है। अतः सामर्थ्य का आधिक्य स्पष्ट प्रतीत होता है।

अथ चतुर्थं पादं विवृणोति—'यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युर-

ध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेता' इति। अस्यायमर्थः—अध्वर्यु-नामक एक ऋत्विक् यज्ञस्य मात्रां स्वरूपं विमिमीते विशेषेण निष्पादयति। मीयते निर्मीयते इति मात्रा स्वरूपम्। तन्निष्पादकत्वञ्च अध्वर्योर्नाम-निर्वचनादवगम्यते। 'अध्वर्युः' इत्यत्र छान्दस्या प्रक्रियया लुप्तमकारं पुनः प्रक्षिप्य 'अध्वरयुः' इति नाम सम्पादनीयम्। अध्वरं युनक्ति इति अवयवार्थः। अध्वरस्य नेता इति तात्पर्यार्थं इति।

निरुक्तकार पूर्वोक्त मन्त्र के चतुर्थ पाद की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—एक अध्वर्युनामक ऋत्विक् यज्ञ के स्वरूप का निष्पादन करता है। अन्य ऋत्विजों को यज्ञ में नियुक्त करता है, वह यज्ञ का नेता होता है। ग्रन्थकार सायण इसके भाव को स्पष्ट करते हैं—अध्वर्यु नामक एक ऋत्विक् यज्ञ के स्वरूप का निष्पादन करता है। मीयते = निर्मीयते अर्थात् जिसका निष्पादन किया जाता है, वही मात्रा = स्वरूप है। अध्वर्यु शब्द के निर्वचन से उसकी यागनिष्पादकता ज्ञात होती है। अध्वरयु शब्द के रेफ-घटक अकार वैदिकी प्रक्रिया के अनुसार लुप्त हो गया है। यदि पुनः उसका प्रक्षेप कर दिया जाय, तो अध्वरयु—ऐसा शब्द निष्पन्न हो जाता है। अध्वर = याग और यु = युक्त करना—ऐसा दोनों अवयवों का अर्थ है। इसीलिये यज्ञ का नेता = नयन करने वाला तात्पर्यार्थ होता है अर्थात् अन्य ऋत्विजों को यज्ञ में नियुक्त करने वाला अध्वर्यु कहलाता है।

एतदेव अभिप्रेत्य अध्वर्युवेदस्य यागनिष्पादकत्वद्योतकं निर्वचनं यास्को दर्शयति—

'मन्त्रा मननात्, छन्दांसि छादनात्, स्तोमः स्तवनात्, यजुर्यजतेः' (नि० ७।१२) इति।

एवं सति अध्वर्युसम्बन्धिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तदपेक्षितौ स्तोत्रशस्त्ररूपौ अवयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्य्येते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम्। तत ऊर्ध्वं साम्नामृगाश्रितत्वात् उभयोर्मध्ये प्रथमत ऋग्व्याख्यानं युक्तमिति ऋग्वेद इदानीं व्याख्यायते।

महर्षि यास्क ने इसी याग आदि के अनुष्ठान में यजुर्वेद की प्रधानता के अभिप्राय से याग-निष्पादकता के द्योतक निर्वचन (व्युत्पत्ति) प्रस्तुत किया है— मनन के हेतु होने से मन्त्र कहलाता है अर्थात् मनन करने वाले मुनि-गण उन्हीं मन्त्रों के द्वारा ही अध्यात्म, अधिदेव तथा अधियज्ञादि का ज्ञान करते हैं। आच्छादन करने के हेतु होने के कारण छन्द कहलाता है। विना छन्द के वाणी का उच्चारण नहीं होता। मृत्यु से डरकर देवताओं ने इन्हीं छन्दों के द्वारा अपने को आच्छादित किया था। यही छन्दों का छन्दस्त्व अर्थात् धर्म है। स्तुति के हेतु होने से स्तोम कहलाता है। उन्हीं के द्वारा देवता आदि स्तुत्यों की स्तुति की जाती है। यज् धातु से यजुष् शब्द की निष्पत्ति होती है। इन्हीं मन्त्रों के द्वारा विशेष रूप से यागों का अनुष्ठान किया जाता है; क्योंकि सभी यागों में याज्या के अन्त में वषट्कार का विधान किया गया है। अतः इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी यजुर्वेद की याग-सम्पादकता सिद्ध होती है।

इस प्रकार अध्वर्यु-सम्बन्धी यजुर्वेद में यज्ञ का शरीर सम्पन्न होता है। उसी को उपजीव्य = आधार बनाकर उसके द्वारा अपेक्षित स्तोत्र और शस्त्र रूप दोनों अवयवों की पूर्त्ति अन्य दोनों वेदों (ऋग् और साम) के द्वारा करते हैं। अभिप्राय यह है कि यजुर्वेद से यज्ञ का शरीर निष्पन्न होता है और उससे भिन्न दोनों वेदों से उसकी स्तुति की जाती है। जिसकी स्तुति की जाती है, वही प्रधान होता है, स्तुति नहीं। प्रधान की उत्पत्ति जिससे होती है, वह भी प्रधान होता है। अतः यजुर्वेद अन्य वेदों के अपेक्षा प्रधान हुआ। इसलिये उपजीव्य=प्रधान का अर्थात् यजुर्वेद की सबसे पहले व्याख्या आवश्यक हुई। इसीलिये यजुर्वेद का पहले व्याख्यान करना समुचित ही है। उसके बाद साम ऋक् के आश्रित है, क्योंकि ऋङ् मन्त्रों को आधार बनाकर ही साम का गान होता है। अतः ऋक् और साम में ऋक् प्रधान हुआ, क्योंकि आश्रय प्रधान होता है, आश्रित नहीं / सेवक आश्रित होता है और स्वामी उसका आश्रय होता है। इसलिये सेवक गौण (अप्रधान) होता है और स्वामी प्रधान। इसलिये ऋक् और साम में ऋक् को प्रधान होने के कारण यजुर्वेद के पश्चात् ऋग्वेद की व्याख्या की जा रही है। यही समुचित भी है। निष्कर्ष यह हुआ हुआ कि यज्ञों में यजुर्वेद को प्रधान होने के कारण

सबसे पहले उसका तथा ऋक् और साम में ऋक् को प्रधान होने के कारण उसके पश्चात् ऋग्वेद का व्याख्यान करना सुसङ्गत ही है, असङ्गत नहीं ।

॥ वेदानां सद्भावासद्भावविचार : ॥

ननु वेद एव तावन्नास्ति, कुतस्तदवान्तर विशेष ऋग्वेदः ? तथा हि—कोऽयं वेदो नाम ? न हि तत्र लक्षणं प्रमाणं वाऽस्ति । न च तदुभयव्यतिरेकेण किञ्चिद् वस्तु प्रसिध्यति । 'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' इति न्यायविदां मतम् ।

प्रत्यक्षानुमानागमेषु प्रमाणविशेषेषु अन्तिमो वेद इति तल्लक्षणमिति चेत् ? न, मन्वादिस्मृतिषु अतिव्याप्तेः । समयवलेन 'सम्यक्परोक्षानुभवसाधनम्' इत्येतस्य आगमलक्षणस्य तास्वपि सद्भावात् ।

'अपौरुषेयत्वे सति' इति विशेषणाददोष इति चेत् ? न, वेदस्यापि परमेश्वरनिर्मितत्त्वेन पौरुषेयत्वात् । शरीरधारिजोवनिर्मितत्वाभावात् अपौरुषेयत्वमिति चेत् ? न, 'सहस्त्रशोर्षा पुरुषः' (ऋ० सं० १०।९०।१) इत्यादि श्रुतिभिरीश्वरस्यापि शरारित्वात् ।

कर्मफलरुपशरोरधारिजोवनिर्मितत्वाभावमात्रेण अपौरुषेयत्वं विवक्षितमिति चेत् ? न, जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात् । 'ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्' (ऐत० ब्रा० ५।३२) इति । श्रुतेः ईश्वरस्य अग्न्यादिप्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यम् ।

मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेद इति चेत् ? न, ईदृशो मन्त्र ईदृशं ब्राह्मणमित्यनयोर्व्याप्यनिर्णीतत्वात् । तस्मान्नास्ति किञ्चिद् वेदस्य लक्षणम् ।

वेदों के असद्भाव पक्ष को समर्थित करने के लिये शङ्का उपस्थित करते हैं कि वेद का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता, वेद नाम का कोई वस्तु ही नहीं है; तब उसका अवान्तर भेद कैसे सम्भव होगा । जब ऋग्वेद, यजुर्वेद इत्यादि अवान्तर भेद सिद्ध न होगा, तब उसका व्याख्यान कैसे सम्भव होगा ? सब से

पहले वेद-सामान्य का ज्ञान तथा उसका अस्तित्व-ज्ञान आवश्यक है, तभी भेद किया जा सकता है; क्योंकि विशेष-ज्ञान के पहले सामान्य-ज्ञान आवश्यक होता है। कारण यह है कि विशेष-ज्ञान के प्रति सामान्य-ज्ञान कारण होता है। अतः वेद-सामान्य का अस्तित्व तथा उसका ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। वेद नाम का कौन पदार्थ है? इस प्रश्न का कोई समाधान सम्भव नहीं है। किसी भी वस्तु की सिद्धि लक्षण और प्रमाण के द्वारा ही हो सकती है। विना लक्षण और प्रमाण के किसी भी वस्तु की सिद्धि सम्भव नहीं है। वेद का न कोई लक्षण हो सकता है और न वेद के अस्तित्व में कोई प्रमाण ही समुपलब्ध होता है। सभी न्यायविदों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि लक्षण और प्रमाण के द्वारा ही वस्तु की सिद्धि होती है। अतः लक्षण और प्रमाण से रहित होने के कारण वेद नाम की कोई चीज नहीं है, फिर उसके व्याख्यान की क्या बात?

यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम रूप प्रमाणों में अन्तिम प्रमाण वेद है अर्थात् आगम को वेद कहते हैं। यही वेद का लक्षण समझना चाहिए। परन्तु यह लक्षण समुचित नहीं है। कारण यह है कि यह लक्षण मनु, याज्ञवल्क्य आदि के द्वारा निर्मित स्मृतियों में भी अतिव्याप्त हो जायेगा; क्योंकि आगम शब्द से उनका भी बोध होता है। शास्त्रों में आगम का लक्षण किया गया है कि समय=सङ्केतग्रह के बल पर परोक्ष पदार्थों का भी सम्यक् रूप से अनुभव कराने वाला आगम कहलाता है। यह सम्यक्-अनुभव-साधनता उन स्मृतियों में विद्यमान है। लक्ष्य का लक्षण तभी समुचित माना जाता है, जब अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव दोष से रहित हो। प्रायः ये ही तीन दोष लक्षण को दुष्ट करते हैं और दुष्टलक्षण वस्तु-प्रमापक नहीं हो सकता। अतः वेद का पूर्वोक्त लक्षण समुचित नहीं माना जा सकता। लक्षण का स्वरूप—समयबलेन सम्यक् परोक्षानुभवसाधनत्वं आगमस्य लक्षणम्।

यदि कहा जाय कि पूर्वोक्त लक्षण में 'अपौरुषेयत्वे सति' यह विशेषण दे दिया जाय, तो मानवादि स्मृतियों में लक्षण समन्वय न हो सकेगा, क्योंकि स्मृतियाँ मनु आदि पुरुषों के द्वारा रचित हैं। इसलिये उसमें पौरुषेयत्व रह

सकता है, अपौरुषेयत्व नहीं। अतः पूर्वोक्त अतिव्याप्ति दोष का निवारण हो जाने से आगम का निर्दुष्ट लक्षण हुआ—'अपौरुषेयत्वेसति समयबलेन सम्यक् परोक्षानुभवसाधनत्वं आगमस्य लक्षणम्। विशेषण इतरव्यावर्त्तक होता है। अतः यहाँ दोष की व्यावृत्ति हो गयी। 'अपौरूषेयत्वे सति' विशेषण दे देने पर पूर्वोक्त लक्षण वेद में भी सुसंघटित नहीं हो सकता, क्योंदि वेद भी अपौरुषेय नहीं है। वह भी परमेश्वर के द्वारा निर्मित है। अतः वह अपौरुषेय नहीं हो सकता। अतिव्याप्ति दोष को दूर करने के लिये विशेषण दिया गया, तो और असम्भव दोष आ गया। इसलिये वेद का कोई लक्षण नहीं हो सकता।

यदि कहा जाय कि शरीरधारी जीव से निर्मित न होने के कारण पौरुषेय नहीं माना जायेगा और उसका अपौरुषेयत्व सुरक्षित रहेगा, क्योंकि परमेश्वर शरीर-धारी नहीं हैं। परन्तु यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि पुरुष-सूक्त में परमेश्वर को भी शरीरी बतलाया गया। इसलिये शरीर धारिजीवनिर्मितत्वाभाव वेद में नहीं रह सकता।

यदि कहा जाय कि शरीरधारिजीवनिर्मितत्वाभाव का अर्थ है—अपने द्वारा अनुष्ठित कर्मों के फलस्वरूप जिसने शरीर धारण नहीं किया है। यही अर्थ उससे विवक्षित भी है। ईश्वर का शरीर कर्मफल-स्वरूप नहीं है। अतः अपौरुषेयत्व सिद्ध हो जायेगा। उनका शरीर दिव्य होता है। कहा भी हैं—'न मे कर्माणि लिम्पन्ति' इत्यादि। परंतु यह शङ्का समुचित नहीं है और न इससे अपौरुषेयत्व ही सिद्ध हो सकता, क्योंकि जीवविशेष अग्नि, वायु तथा आदित्य आदि से वेदों की उत्पत्ति सुनी जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा हैं कि अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद तथा आदित्य से सामवेद उत्पन्न हुआ। अग्नि आदि के प्रेरक रूप से ईश्वर का वेद-निर्माण-कर्तृत्व समझना चाहिए। ईश्वर सभी देवताओं के प्रेरक होते हैं। इस प्रकार 'शरीरधारिजीवनिर्मितत्वाभावेसति समयबलेन सम्यक् परोक्षानुभवसाधनत्व रूप आगम का लक्षण वेद में सुसंघटित नहीं होता।

अब पूर्वोक्त लक्षण का परित्याग करके दूसरा लक्षण समुपस्थापित करते हैं—मन्त्र और ब्राह्मण रूप जो शब्द-समुदाय, उसी को वेद कहते हैं। परन्तु यह

भी लक्षण समुचित नहीं है, क्योंकि 'इस प्रकार का मन्त्र है' और इस प्रकार का ब्राह्मण है यह आज तक भी निश्चित नहीं हो सका है। कोई निश्चित लक्षण न होने के कारण जब मन्त्र और ब्राह्मण का ही स्वरूप निर्णय नहीं हो सकता, तब तदुभयात्मक वेद का लक्षण कैसे निश्चित हो सकता है। अतः वेद का कोई लक्षण नहीं हो सकता। इसलिये लक्षण के अभाव में उसका अस्तित्व कैसे माना जाय ?

नाऽपि तत्सद्भावे प्रमाणं पश्यामः। 'ऋग्वेदं—भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् (छां० उ० ७।१।२) इत्यादि वाक्यं प्रमाणमिति चेत् ? न, तस्यापि वाक्यस्य वेदान्तःपातित्वेन आत्माश्रयत्वप्रसङ्गात्। न खलु निपुणोऽपि स्वस्कन्धमारोढुं प्रभवति।

'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयस्करः परः' (या० स्मृ० १।४०) इत्यादि स्मृतिवाक्यं प्रमाणमिति चेत् ? न, तस्यापि उक्तश्रुतिमूलत्वेन निराकृतत्वात्।

प्रत्यक्षादिकं तु शङ्कितुमपि अयोग्यम्। वेद-विषया तु लोकप्रसिद्धिः सार्वजनीनाऽपि 'नीलं नभः' इत्यादिवत् भ्रान्ता। तस्मात् लक्षणप्रमाणरहितस्य वेदस्य सद्भावो नाऽङ्गीकर्त्तुं शक्यत इति पूर्वपक्षः।

लक्षणाभाव होने के कारण वेद के अस्तित्व का निरास किया गया। अब प्रमाणाभाव के कारण उसका अभाव निश्चित किया जा रहा है। जिस प्रकार कोई लक्षण स्थिर नहीं होता, उसी प्रकार कोई प्रमाण भी वेद के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकता।

यदि कहा जाय कि छान्दोग्योपनिषद् का, "हे भगवन् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा चौथा अथर्ववेद मैंने पढ़ा" यह वाक्य ही वेद के अस्तित्व को प्रमाणित करेगा। यह समुचित नहीं है, क्योंकि यह वाक्य भी वेद के अन्तर्गत ही है। इसलिये आत्माश्रय[1] दोष होगा। जब अपने को प्रमाणित करने के लिये अपने वाक्य का ही प्रयोग किया जाय, तो आत्माश्रय दोष माना जाता है। अतः

---

१. स्वेनैव स्वस्य सिद्धिर्या तदात्माश्रयदूषणम्—मा० मे० पृ० सं०—४४

आत्माश्रय-दोष-दुष्ट होने के कारण यह वाक्य वेदास्तित्व-प्रमापक नहीं हो सकता। अत्यन्त कला-कुशल कलाकार भी स्वयं अपने कन्धे पर कदापि नहीं चढ़ सकता। यह सामर्थ्य उसमें नहीं आ सकता। इसीलिये वेद को सिद्ध करने के लिए वैदिक वाक्य समर्थ नहीं हो सकते। उपनिषद् भी वेद के ही एक भाग होते हैं, भिन्न नहीं।

यदि कहा जाय कि 'वेद ही द्विजातियों को परम निःश्रेयस को देनेवाले हैं' यह याज्ञवल्क्य-स्मृति का वचन ही वेदास्तित्व का प्रमापक हो, यह भी उचित नहीं। कारण यह है कि स्मृतियाँ वेदमूलक होने पर ही प्रामाणिक होतीं हैं, अन्यथा नहीं। स्मृत्यधिकरण में इसका परिपूर्ण विचार किया गया है। वेदों के आधार पर ही स्मृतियों की प्रामाणिकता निश्चित होती है और अभी वेदों का ही अस्तित्व सिद्ध नहीं हो पाया है। इसलिये स्मृतियों की स्वयं प्रामाणिकता नहीं है, वे दूसरों को कैसे प्रामाणिक सिद्ध कर सकतीं हैं। इसमें अन्योन्याश्रय[1] दोष भी होने लगेगा, क्योंकि वेदों की प्रामाणिकता से स्मृतियों की प्रामाणिकता होती है और स्मृति-वाक्य के प्रामाण्य से वेद प्रामाणिक होंगे। अतः यह कहना ठीक नहीं हैं।

वेदों को सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों की शंका भी नहीं करनी चाहिए अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण तो किसी भी प्रकार से वेद को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकते। कारण यह है कि किसी पुरुष के सामने किसी पुरुष ने वेदों को नहीं बनाया। इसलिए किसी का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता। आदि शब्द से अनुमान, उपमान तथा अर्थापत्ति का ग्रहण करना चाहिए। ये प्रमाण भी वेद-प्रामाण्य के प्रति समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि अनुमानादि प्रत्यक्ष-मूलक ही होते हैं। अनुमान में व्याप्तिग्रह, उपमान में सादृश्य ज्ञान और अर्थापत्ति में भी पीनत्व आदि उपपाद्य का प्रत्यक्ष ही होता है तथा इन्हीं सबों के आधार पर उनकी प्रामाणिकता होती है। जब प्रत्यक्ष-प्रमाण पहले ही असमर्थ हो चुका, तो प्रत्यक्ष-मूलक इन प्रमाणों की क्या कथा? इसीलिये इन प्रमाणों की शंका भी नहीं की जा सकती कि वे वेद-साधक होंगे।

---

१. अनेनान्यस्ततश्चायमित्यन्योन्याश्रयं भवेत्। मा० मे० पृ० ४४

लोक-प्रसिद्धि भी प्रमेय-प्रमापक होता है, जैसे—इस वटवृक्ष पर यक्ष रहता है। कुछ लोग इसको भी प्रमाण कोटि में मानते हैं। अतः वेद-विषयक लोक-प्रसिद्धि से वेद का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है। इसी प्रवाद-परम्परा को ऐतिह्य प्रमाण कहते हैं। यह केवल पौराणिकों के मत में माना जाता है। लोक में 'वेद है वेद है' ऐसा आगोपाल प्रसिद्ध है। विना मूल की प्रसिद्धि नहीं हो सकती। कहा भी है "नामूलाप्रसिद्धिरिति।" अतः इसी प्रसिद्धि के आधार पर वेद के अस्तित्व को मान लेना चाहिए। किन्तु यह पक्ष भी युक्तिसङ्गत नहीं है। कारण यह है कि मीमांसकों के सिद्धान्तानुसार इसका शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव माना जाता है और शब्द प्रमाण का खण्डन पहले ही कर दिया गया है।

दूसरी वात यह है कि यह वेद विषयिणी प्रसिद्धि भ्रान्त है, समुचित प्रसिद्धि नहीं है। जिस प्रकार आकाश को नीरूप होने पर भी 'नील नभ' की प्रसिद्धि सार्वजनीन है; परन्तु यह भ्रान्त प्रसिद्धि मानी जाती है, उसी प्रकार वेद-विषयिणी प्रसिद्धि को भी भ्रान्त अर्थात् भ्रमजनित मानना चाहिए। इस प्रकार वेद का न कोई लक्षण बन सकता है और न उसमें कोई प्रमाण ही संक्रान्त हो सकता है। अतः वेदों का अस्तित्व स्वीकार करना समुचित नहीं है। यह पूर्वपक्ष हुआ।

अत्रोच्यते—मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं तावददुष्टं लक्षणम्। अतएव आपस्तम्बो यज्ञपरिभाषायामेवमाह—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आप० परि० १।३३) इति। तयोस्तु स्वरूपमुपरिष्टात् निर्णेष्यते। अपौरुषेय-वाक्यत्वमितीदमपि यादृशमस्माभिर्विवक्षितं तादृशमुत्तरत्र स्पष्टीभविष्यति। प्रमाणान्यपि यथोक्तश्रुतिस्मृतिलोकप्रसिद्धिरूपाणि वेदसद्भावे द्रष्टव्यानि। यथा घटपटादिद्रव्याणां स्वप्रकाशकत्वाभावेऽपिसूर्य्यचन्द्रादीनां स्वप्रकाशक-त्वमविरुद्धम्, तथा मनुष्यादीनां स्वस्कन्धारोहासम्भवेऽपि अकुण्ठित-शक्तेर्वेदस्य इतरवस्तुप्रतिपादकत्ववत् स्वप्रतिपादकत्वमप्यस्तु। अतएव सम्प्रदायविदोऽकुण्ठितां शक्तिं वेदस्य दर्शयन्ति—'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थं शक्नोति अवगम-यितुम्' (शा० भा० १।१।२) इति। तथा सति वेदमूलायाः स्मृतेस्तदुभय-

मूलाया लोकप्रसिद्धेश्च प्रामाण्यं दुर्वारम्। तस्मात् लक्षणप्रमाणसिद्धो वेदो न केनाऽपि चार्वाकादिना अपोढु शक्यत इति स्थितम्।

वेदास्तित्व-विषयक सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हुए वेद का लक्षण उपस्थित करते हैं कि 'मन्त्र और ब्राह्मण रूप शब्द-समुदाय को वेद कहते हैं'—यह लक्षण दोषरहित है। इसीलिये आपस्तम्ब ने अपने यज्ञपरिभाषा नाम के ग्रन्थ में कहा है कि "मन्त्र और ब्राह्मण के समुदाय का नाम वेद है।" मन्त्र और ब्राह्मण का स्वरूप आगे प्रस्तुत किया जायेगा। "अपौरुषेय वाक्य को वेद कहते हैं"—इस लक्षण में जिस प्रकार का अपौरुषेयत्व वैदिकों के द्वारा विवक्षित है, उसका भी स्वरूप अग्रिम-ग्रन्थ से स्पष्ट होगा। वेदों के अस्तित्व-साधक पूर्व प्रदर्शित श्रुति, स्मृति तथा लोकप्रसिद्धि रूप प्रमाणों को समुचित समझना चाहिए। जैसे घट, पट आदि द्रव्य स्वप्रकाशक नहीं हैं, इनको प्रकाशित करने के लिये दूसरे प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है तथापि सूर्य तथा चन्द्रमा आदि का स्वप्रकाशकत्व के साथ कोई विरोध नहीं है। सूर्य आदि को देखने के लिये दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह अपने को प्रकाशित करते हुए दूसरे घट, पटादि को भी प्रकाशित करता है। घटादि स्वप्रकाश नहीं, अपितु परप्रकाश्य हैं।

इसी प्रकार मनुष्य आदि स्वयं अपने कन्धे पर चढ़ने में समर्थ नहीं होता तथापि अकुण्ठित (कभी न रुकने वाली) शक्ति से युक्त वेद दूसरे वस्तुओं का प्रतिपादन करने के समान अपने का भी प्रतिपादन करता है—सूर्यादि के समान। वेदों की शक्ति मनुष्यों के समान कुण्ठित नहीं है। इसलिये वैदिक-सम्प्रदाय को जानने वाले विद्वान् उसके अकुण्ठित शक्ति को प्रदर्शित करते हैं—चोदना=वेद या विधिवाक्य भूत, वर्त्तमान, भविष्य, अत्यन्त सूक्ष्म, व्यवधान-युक्त तथा दूर में रहने वाले पदार्थों का भी बोध करा सकता है अर्थात् उन सभी विषयों का बोध कराने में समर्थ है। इसका अभिप्राय यह है कि वेद सब कुछ बोध कराने में समर्थ है, उसमें किसी तरह की कमी नहीं है। जब वेद स्वयं अपने प्रामाण्य का बोधक सिद्ध हो गया, तब वेद-मूलक स्मृतियाँ और वेद तथा स्मृतिमूलक लोकप्रसिद्धि भी प्रमाणभूत होगी अर्थात् वेदों के अस्तित्व-साधन में उनकी भी प्रामाणिकता मानी जायेगी। इसमें कोई सन्देह

नहीं है। अतः वेदों का लक्षण भी हो सकता है और उसमें प्रमाण भी हैं। ये दोनों वस्तु के प्रमापक होते हैं। इसलिये वेदों के अस्तित्व का निराकरण किसी चार्वाक आदि नास्तिकों के द्वारा नहीं किया जा सकता। अतः वेद लक्षण प्रमाण-युक्त है। इसीलिये व्याख्यान के योग्य है, अयोग्य नहीं।

॥ मन्त्रभागस्य प्रामाण्याप्रामाण्यविचारः॥

ननु अस्तु नाम वेदाख्यः कश्चित् पदार्थः, तथाऽपि नाऽसौ व्याख्यान-मर्हति, अप्रमाणत्वेन अनुपयुक्तत्वात्। न हि वेदः प्रमाणम्, तल्लक्षणस्य तत्रः दुःसम्पादत्वात्। तथाहि—'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्' इति केचित् लक्षणमाहुः। अपरेतु अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' इत्याचक्षते। न चैतदुभयं वेदे सम्भवति। मन्त्रब्राह्मणात्मको हि वेदः। तत्र मन्त्राः केचिदबोधकाः।

'अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिः' (ऋ० सं० १।१६९।३) इत्येको मन्त्रः। 'याद्दश्मिन् धायितमपस्यया विदत्' (ऋ० सं० ५।४४।८) इत्यन्यः। 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' (ऋ० सं० १०।१०६।६) इत्यपरः। एवम् 'आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्म्मा' (ऋ० सं० १०।८९।५) इत्यादय उदाहार्याः। न हि एतैर्मन्त्रैः कश्चिदप्यर्थोऽवबुध्यते। एतेषु अनुभव एव यदा नास्ति, तदा तत्सम्यक्त्वं तदीयसाधनत्वञ्च दूरापेतम्।

प्रश्न उपस्थित करते हैं कि वेद का अस्तित्व युक्ति और प्रमाण के आधार पर मान लिया जा सकता है। वेद नाम की कोई वस्तु है तथाऽपि वह व्याख्यान के योग्य नहीं है। व्याख्यान के योग्य वही वस्तु होता है, जो सबों के उपयोगी हो और उपयोगी वही हो सकता है, जो प्रामाणिक हो। प्रामाणिक वही होता है, जिसमें प्रमाण का लक्षण सुसंघटित होता है। वेद अप्रामाणिक होने के कारण उपयोगी नहीं है; क्योंकि उसमें प्रमाण का लक्षण सुसंघटित नहीं होता। विना प्रमाण के लक्षण घटित हुए प्रामाणिकता नहीं आ सकती। जैसे—कुछ लोगों ने प्रमाण का लक्षण प्रस्तुत किया है कि जो सम्यक् = यथार्थ अनुभव का साधन हो, उसे प्रमाण कहते हैं। इसमें सम्यक् पद देने से अयथार्थ ज्ञान में लक्षण नहीं

जायेगा; अन्यथा अनुभव का साधन तो अयथार्थ ज्ञान भी होता है, जैसे—रजत में शुक्ति का अनुभव। अनुभव पद नहीं दिया जाय, तो जिस किसी भी कार्य के प्रति जो साधन होगा; उसमें लक्षण चला जायेगा। इसलिये अनुभव पद भी आवश्यक है। घटादि के प्रति कारणीभूत दण्डादि साधन हैं; परन्तु उसका प्रमाण शब्द से व्यवहार नहीं किया जाता है। साधन पद न देने पर सम्यक् अनुभव अर्थात् यथार्थ प्रमा में लक्षण चला जायेगा। प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं, प्रमा को नहीं। अतः लक्षणगत सभी पद आवश्यक हैं, व्यर्थ नहीं।

कुछ विद्वानों ने 'अनधिगत = अज्ञात अर्थ = पदार्थ का गन्तृ = बोधक को प्रमाण कहा है अर्थात् जो अज्ञात अर्थ का ज्ञापक हो, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण के ये दोनों लक्षण वेद में समन्वित नहीं होते। इसलिये उनकी प्रामाणिकता का अवकाश नहीं है। मन्त्र और ब्राह्मण के समुदाय को वेद कहा गया है। उनके कुछ मन्त्र किसी भी अर्थ के बोधक नहीं प्रतीत होते, जैसे :—'अम्यक् सा०', 'यादृश्मिन्०', 'सृण्येव०', 'आपान्त०' इत्यादि। इन मन्त्रों से किसी भी प्रकार के अर्थ का का बोध नहीं होता। इन मन्त्रों से जब अर्थ का अनुभव ही नहीं होता, तब उसमें सम्यक्त्व और अनुभवसाधनत्व कैसे रह सकता है अर्थात् अर्थ का बोध नहीं होने से दोनों में से कोई विशेषण नहीं रह सकता।

'अधस्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्' (ऋ० सं० १०।१२९।५) इति मन्त्रस्य बोधकत्वेऽपि स्थाणुर्वा पुरुषो वा इत्यादिवाक्यवत् सन्दिग्धार्थबोधकत्वात् नास्ति प्रामाण्यम्।

'ओषधे त्रायस्वैनम्' (तै० सं० १।२।१।१) इति मन्त्रो दर्भविषयः (आश्व० गृ० १।१७।८)। 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (तै० सं० १।२।१।१) इति क्षुरविषयः (आश्व० गृ० १।१७।९)। 'शृणोत ग्रावाणः' (तै० सं० १।३।१३।१) इति पाषाणविषयः। एतेषु अचेतनानां दर्भक्षुरपाषाणानां चेतनवत् सम्बोधनं श्रूयते। ततो 'द्वौ चन्द्रमसौ' इति वाक्यवत् विपरीतार्थबोधकत्वादप्रामाण्यम्। 'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' (तै० सं० १।८।६।१), 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम्' (तै० सं० ४।५।११।१) इत्यनयोस्तु मन्त्रयोः 'यावज्जीवमहं मौनी' इति वाक्यवत् व्याघातबोधकत्वादप्रामाण्यम्।

'आप उन्दन्तु' (तै०सं० १।२।१।१) इति मन्त्रो यजमानस्य क्षौरकाले जलेन शिरसः क्लेदनं ब्रूते। 'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम' (आप० मन्त्रपा० २।८।९) इति मन्त्रो विवाहकाले मङ्गलाचरणार्थं पुष्पनिर्मितायाः शुभिकायाः वरवध्वोः शिरसि अवस्थानं ब्रूते। तयोश्च मन्त्रयोर्लोकप्रसिद्धार्थानुवादित्वात् अनधिगतार्थगन्तृत्वं नास्ति। तस्मान्मन्त्रभागो न प्रमाणम्।

'अधस्विदासी३त्' — इस मन्त्र का अर्थ है कि 'नीचे था या ऊपर था।' इस मन्त्र से अर्थ का बोध तो होता है; परन्तु सन्दिग्ध अर्थ का बोध होता है। जिस प्रकार 'स्थाणु है या पुरुष है' यह सन्दिग्ध अर्थ का बोधक है और इसी से प्रमाण भी नहीं होता। उसी प्रकार पूर्वोक्त मन्त्र सन्दिग्ध अर्थ के बोधक होने के कारण प्रामाणिक नहीं हो सकता।

हे ओषधि! इसकी रक्षा करो—यह मन्त्र दर्भ (कुश) को उद्देश्य करके प्रयुक्त है। त्रायस्व = रक्षा करो। हे स्वधिते! इसकी हिंसा न करो—यह मन्त्र क्षुर को उद्देश्य करके प्रयुक्त है—ऐसा महर्षि आश्वलायन भी मानते हैं। हे पत्थर! सुनो—यह मन्त्र पत्थर को सम्बोधित करने के लिये प्रयुक्त है। ग्रावाणः = पत्थर। पूर्वोक्त मन्त्रों में दर्भ, क्षुर तथा पाषाण आदि सभी अचेतन पदार्थों को चेतन के समान सम्बोधित किया गया है। सम्बोधन चेतन-विषयक ही सङ्गत हो सकता है, अचेतन-विषयक नहीं। अतः दो चन्द्रमस्-विषयक वाक्य के समान विपरीत अर्थ का बोधक होगा और विपरीत अर्थ के बोधक वाक्य प्रामाणिक नहीं होते। इसलिये इन मन्त्रों की प्रामाणिकता सम्भव नहीं है। जब अंगुलि से आँख को दबाकर देखते हैं, तब दो चन्द्रमा का भ्रान्त-ज्ञान होता है।

तैत्तिरीय-संहिता के एक प्रसङ्ग में कहा गया कि 'एक ही रुद्र हैं, दूसरा नहीं' और उसी में दूसरे प्रसङ्ग में कहा गया कि 'इस पृथिवी पर हजारों रुद्र हैं। ये दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध अर्थ के बोधक हैं। जैसे कोई मनुष्य बोलते हुए कहे कि 'मैं जीवन-पर्यन्त मौन हूँ' अर्थात् मौन व्रतावलम्बी हूँ, उसी प्रकार पूर्वोक्त दोनों मन्त्र विरुद्ध अर्थ के बोधक हैं। जिस समय स्वमौनीत्वख्यापक वाक्य का प्रयोग

किया, उसी समय उसका मौनभङ्ग हो गया। अतः वह मौनी कैसे कहला सकता है। जब रुद्र एक ही हैं, तो हजार कैसे हो सकते और हजार हैं तो एक कैसे हो सकते। हे जल! यजमान के शिर को क्लेदित करो—यह मन्त्र जल को उद्देश्य करके प्रयुक्त है। आपः = जल। उन्दन्तु = क्लेदित या आर्द्रीकरण करो। जिस समय यजमान को क्षौर बनाया जाता है, उसी समय इस मन्त्र का प्रयोग किया जाता है। यह क्लेदन का प्रतिपादक है। शिर पर जल डालने से स्वयं शिर भींग जायेगा—यह लोक व्यवहार से ज्ञात है। प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमाणित है। आप स्तम्ब मन्त्र पाठ में कहा गया है कि 'हे शुभिके! मेरे मुख को सुशोभित करते हुए मेरे शिर पर चढ़ो। यह मन्त्र विवाह के समय मङ्गलाचरण के लिये फूलों से बनी हुई शुभिका वर और वधू के शिर पर रखना रुप अर्थ का प्रतिपादक है। यह स्वाभाविक है कि शिर पर शुभिका रखने से मुख की शोभा बढ़ जाती है, उसके लिये विधान की आवश्यकता नहीं है।

ये दोनों मन्त्र लोकप्रसिद्ध अर्थ के अनुवादक-मात्र हैं। इसलिये अज्ञात अर्थ के ज्ञापक नहीं हुए। अतः प्रमाण के दोनों लक्षणों को मन्त्रों में समन्वित न होने के कारण वेद का मन्त्र भाग प्रामाणिक नहीं हो सकता।

अत्रोच्यते—अम्यगादिमन्त्राणामर्थो यास्केन निरुक्तग्रन्थेऽवबोधितः। तत्परिचयरहितानामनवबोधो न मन्त्राणां दोषमावहति। अतएव अत्र-लौकिकं न्यायमुदाहरन्ति—'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति' (नि० १।१६) इति।

'अधःस्विदासीत्' इति मन्त्रश्च न सन्देहप्रबोधनाय प्रवृत्तः। किन्तर्हि? जगत्कारणस्य परवस्तुनोऽतिगम्भीरत्वं निश्चेतुमेव प्रवृत्तः। तदर्थमेव हि गुरुशास्त्रसम्प्रदायरहितैर्दुर्बोधत्वं 'अधःस्वित्' इत्यनया वचोभङ्ग्या उपन्यस्यति। स एवाभिप्राय उपरितनेषु 'को अद्धा वेद' (ऋ० सं० १०।१२९।६) इत्यादि मन्त्रेषु स्पष्टीकृतः।

मन्त्रों के विषय में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि अम्यगादि मन्त्रों का अर्थ महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त नामक ग्रन्थ में स्पष्ट किया है। आचार्य सायण ने भी अपने भाष्य में इन मन्त्रों का अर्थ किया है।

उदाहरण—अभ्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति।
अग्निश्चिद्धि ष्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि॥

यह सम्पूर्ण मन्त्र है। हे इन्द्र! ते = तुम्हारा वह प्रसिद्ध ऋष्टि = वज्र अस्मे = हम लोगों को वृष्टि प्रदान करने के लिये मेघ के समीप अभ्यक् = प्राप्त करता है अर्थात् जाता है। मरुतः = वायु सनेमि = चिर काल से संगृहीत अभ्वं = जल को वर्षा के लिये प्रेरित करता है। अग्नि भी अतसे = सतत अपने कर्म में शुशुक्वान् = देदीप्यमान रहता है अर्थात् अपने कर्म को सम्पादित करने के लिये सदा तैयार रहता है।

दूसरा मंत्र—ज्यायासंमस्य यतुनस्य केतुन ऋषिस्वरं चरति यासु नाम ते।
याद्दश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् य उ स्वयं वहते सो अरं करत्॥

ज्यायांसं=अत्यन्त प्रवृद्ध (बढ़ा हुआ) अस्य यतुनस्य=इस जाने वाले गतिमान् सूर्य के केतुना=उदयादिलक्षण ज्ञापक कर्मों से युक्त ऋषिस्वरं=ऋषियों के द्वारा स्तुति के योग्य यासु=जिन स्तुतियों में ते=आपका नाम = नमन (प्रणाम) या तन्नामक रूप विद्यमान है। यजमान याद्दश्मिन्=जिस प्रकार के कामना में मन को धायि= धारण किया है अर्थात् लगाया है, एकाग्र किया है, उन कामनाओं से उन स्तुतियों के द्वारा तुम्हारा भजन=सेवन करता है। उन कामनाओं को अपस्यया=हविः या स्तुति आदि रूप कर्मों से विदत्=प्राप्त करता है। य उ=जो ही स्वयं वहते=फल को धारण करता है वह अरं=अत्यन्त अर्थ का सम्पादन करत्=कुर्यात् अर्थात् करे।

तीसरा मंत्र—सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरु ता मे जराय्वजरं मरायु॥

सृण्येव=अङ्कुश के योग्य मदमत्त हाथी के समान तुर्फरी=शत्रुओं का हनन करने वाले नैतोशेव=नितोश=वध करने वाला, उसके पुत्रादि के समान तुर्फरी= हनन करने वाले पर्फरीकौ=शत्रुओं का विदारन करने वाले। उदन्यजेव=जल में उत्पन्न पदार्थों के समान निर्मल कान्ति युक्त। जेमना=विजय प्राप्त करने के स्वभाव वाले। मदेरू=बलातिशय के कारण अत्यन्त मत्त—इस प्रकार के वे दोनों अश्विनी-कुमार तुम दोनों तथा मेरे जरायु=जरायु से उत्पन्न होने के कारण मरणशील शरीर को अजरं=जरारहित करें।

चौथा मंत्र—आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी।
सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः॥

इस मन्त्र में सोम तथा इन्द्र की स्तुति की गयी है। हे सोम! जब तुम्हें संग्राम आदि में क्रोध उत्पन्न होता है तब शीघ्र ही कठिन प्रहार कर देते हो। आपान्तमन्युः=क्रोध को उत्पन्न करने पर। तृपलप्रभर्मा=शीघ्र प्रहार करने वाला। धुनिः=शत्रुओं को धूनन (कम्पित) करने वाला। शिमीवान्=अपने अधिकार के अनुसार कर्मों से युक्त अर्थात् अनुष्ठान करने वाला। शरुवान्=हिंसा करने वाला। ऋजीषी= वज्र धारण करने वाला। विश्वानि=सभी। अतसा=जो क्षीण नहीं है। वनानि= जल या वनस्पति को अपने महिमा से व्याप्त कर लेते हो। इन्द्र को प्रतिमान= स्तुति आदि से अभिभूत नहीं कर सकते हो। इन्द्र सबसे बड़े देवता हैं।

इस प्रकार मन्त्रों का अर्थ किया गया है; परन्तु उन-उन ग्रन्थों के साथ परिचय प्राप्त न होने के कारण अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इसमें मन्त्रों का क्या दोष है, अर्थात् मनुष्यों का ही दोष है। इसीलिये इस प्रसङ्ग में लौकिक न्याय को प्रस्तुत करते हैं—'अन्धा मनुष्य स्थाणु को नहीं देखता, इसमें स्थाणु का क्या दोष है अर्थात् कुछ नहीं; अपितु मनुष्य का ही अपराध है। डालियों से रहित वृक्ष के तने भाग को स्थाणु कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मन्त्रों का अर्थ-ज्ञान न होने में मनुष्य का ही दोष है, न कि मन्त्रों का।

'अधः स्विदासीत्' इत्यादि मन्त्र सन्देह-ज्ञान के लिये नहीं है; अपितु संसार के कारणीभूत परवस्तु (परब्रह्म परमात्मा) की गम्भीरता का निश्चायक है। गुरु शास्त्र तथा सम्प्रदाय से रहित मनुष्यों को उसका ज्ञान सम्यक् रुप से नहीं हो सकता—यही इस मन्त्र से प्रस्तुत किया गया है। इसी अभिप्राय को "को अद्धा" इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट किया गया है।

ओषध्यादिमन्त्रेष्वपि चेतना एव तत्तदभिमानिदेवतास्तेन तेन नाम्ना सम्बोध्यन्ते। ताश्च देवता भगवता बादरायणेन "अभिमानिव्यपदेशस्तु०" (ब्र० सू० २।१।५) इति सूत्रे सूत्रिताः।

एकस्यापि रुद्रस्य स्वमहिम्ना सहस्रमूर्त्तिस्वीकारान्नास्ति परस्पर व्याघातः ।

जलादिद्रव्येण शिरःक्लेदनादेर्लोकप्रसिद्धत्वेऽपि तदभिमानिदेवताग्रहस्य अप्रसिद्धत्वात् तद्विषयत्वेन अज्ञातार्थज्ञापकत्वम् । ततो लक्षणसद्भावादस्ति मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम् ।

भारतीय वैदिक परम्परा के अनुसार कोई भी चेतनाचेतन ऐसी चीज नहीं है, जिसका अभिमानी देवता न हो । इसीलिये पेड़-पौधों के भी पूजन का विधान है और उनके पूजन से मनः काम की सिद्धि देखी जाती है । इसलिये ओषध्यादि-पद-घटित मन्त्रों में भी उन-उन पदार्थों के अभिमानी देवता रूप चेतनों को ही उन-उन नामों से सम्बोधित किया जाता है; अचेतन को नहीं । अतः अचेतन-विषयक सम्बोधन न होने के कारण वे मन्त्र अनुपपन्न नहीं हो सकते । भगवान् बादरायण ने भी अपने सूत्रों में उन देवताओं की स्थिति को स्वीकार किया है । सम्पूर्ण सूत्र इस प्रकार है—'अभिमानीव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।' इस सूत्र के भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है—किसी ने मिट्टी का नाम लिया, इससे भूतेन्द्रियों को चेतन नहीं समझना चाहिए; क्योंकि यह अभिमानी देवता का व्यपदेश=व्यवहार है । मृदादि तथा वागादि के चेतन अभिमानी देवता चेतनोचित व्यवहारों में देखा जाता है । भूतेन्द्रियों का व्यवहार नहीं होता । अतः ओषध्यादि मन्त्रों में अभिमानी देवता का ही व्यपदेश समझना चाहिए । रुद्र एक ही हैं तथापि अपने महिमा के बल से हजारों मूर्त्तियाँ धारण कर लेते हैं—ऐसा मान लेने पर पूर्वोक्त दोनों वाक्यों में परस्पर विरोध नहीं होगा । जलादि द्रव्यों से यजमान का शिर भिगोना लोक-प्रसिद्ध है तथापि जलादि के अभिमानी देवता के द्वारा उसके अनुग्रह की कामना करना लोक-प्रसिद्ध नहीं है । उससे अनुग्रह-विषयक आज्ञातार्थ ज्ञापकता सिद्ध होती है । अतः पूर्व प्रदर्शित प्रमाण के दोनों लक्षणों को सुसंघटित हो जाने के कारण मन्त्र भाग को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता ।

॥ मन्त्राणां विवक्षितार्थत्वाविवक्षितार्थत्वविचारः ॥

एतदेवाभिप्रेत्य भगवान् जैमिनिर्मन्त्राधिकणे मन्त्राणां विवक्षितार्थत्वमसूत्रयत् (जै० सू० १।२।३१–४५)। तानि च सूत्राणि क्रमेण उदाहृत्य व्याख्यास्यामः। तत्र पूर्वपक्षं सूत्रयति—

'तदर्थशास्त्रात्' (जै० १।२।३१) इति।

यस्यार्थस्य अभिधाने समर्थो मन्त्रः, स एव अभिधेयो यस्य शास्त्रस्य ब्राह्मणवाक्यस्य, तदिदं वाक्यं तदर्थशास्त्रम्। तस्मात् शास्त्राद् अविवक्षितार्थो मन्त्र इत्यवगम्यते। तथाहि—'उरु प्रथस्व' (तै० सं० १।१।८ वा० सं० १।२२) इति मन्त्रेण पुरोडाशप्रथनमभिधीयते 'पुरोडाशं प्रथयति' (तै० ब्रा० ३।२।८।४ श० ब्रा० १।२।२।८) इति ब्राह्मणेनाऽपि तदेवाभिधीयते। तथा सति मन्त्रेणैव प्रतीतत्वात् तदर्थवोधनाय प्रवृत्तं ब्राह्मणमनर्थकं स्यात्। मन्त्रस्य अविवक्षितार्थत्वे तु विनियोगवोधनाय ब्राह्मणमुपयुक्तम्। तस्मान्मन्त्रा उच्चारणेनैव अनुष्ठाने उपकुर्वन्ति।

ननु उच्चारणार्थत्वे सति अदृष्टं प्रयोजनं परिकल्प्येत। अर्थाभिधायकत्वे तु दृष्टं लभ्यते। तस्माद् ब्राह्मणस्य अनुवादकत्वमभ्युपेत्यापि मन्त्रस्य अभिधानार्थत्वमेव इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'वाक्यनियमात्' (जै० १।२।३२) इति।

'अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुद्' (ऋ० सं० ८।४४।१६) इत्येवमेव वाक्यं पठितव्यमिति मन्त्रे नियम उपलभ्यते। अर्थप्रत्यायनं तु मूर्द्धाग्निरित्येवं व्युत्क्रमपाठेऽपि भवत्येव। तस्मान्नियतपाठक्रमसाफल्यायोच्चारणमेव मन्त्रप्रयोजनम्।

प्रमाण के लक्षणों को मन्त्रभाग में सुसंघटित हो जाने के कारण उनका प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। जब उनकी प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है, तब उनके अर्थ के सम्वन्ध में विचार उपस्थित होता है कि मन्त्रों के अर्थ विवक्षित हैं या नहीं। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर महर्षि जैमिनी ने मन्त्राधिकरण में अविवक्षितार्थत्व-पक्ष को पूर्वपक्ष के रुप में प्रस्तुत करके विवक्षितार्थत्व-पक्ष को सिद्धान्तित किया

है। उन सूत्रों को क्रमशः प्रस्तुत करते हुए उनकी व्याख्या भी उपस्थित की जा रही है। पहले पूर्वपक्ष के सूत्रों को प्रस्तुत करके उनकी व्याख्या की जायेगी। मीमांसा के अधिकरण-ग्रन्थों की यही शैली है। उसके अर्थ के प्रतिपादक शास्त्र को विद्यमान रहने के कारण मन्त्रों के अर्थ विवक्षित नहीं हो सकते। तत् = मन्त्र। मन्त्र जिस अर्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ होता है, वही अर्थ वाच्य है जिस शास्त्र अर्थात् ब्राह्मण-वाक्य का उसी को तदर्थशास्त्र कहते हैं। उन ब्राह्मण-वाक्य रुप शास्त्र को विद्यमान रहने के कारण मन्त्रों का अर्थ विवक्षित नहीं है—ऐसा ज्ञात होता है। उदाहरण—"उरू प्रथस्व" इस मन्त्र के द्वारा पुरोडाश का प्रथन विहित है। इसी प्रथन को "पुरोडाशं प्रथयति" यह ब्राह्मण वाक्य भी विधान करता है। मन्त्र-प्रतिपाद्य अर्थों को उसी से ज्ञात हो जाने के कारण उसी (प्रथन) अर्थ को वोध कराने के लिये समुपस्थित ब्राह्मण वाक्य निष्प्रयोजन हो जायेगा; क्योंकि ब्राह्मण वाक्यों का दूसरा कोई प्रयोजन तो है नहीं। इस प्रकार ब्राह्मण वाक्यों का आनर्थक्य-निवारण के लिये मन्त्रों को अविवक्षितार्थक मानना ही समुचित है; क्योंकि मन्त्रों को अविवक्षितार्थक मान लेने पर विनियोग का बोध कराने के लिये ब्राह्मण वाक्य उपयुक्त हो जायेगा। अतः उसकी सार्थकता हो जायेगी। इसलिये मन्त्र उच्चारण-मात्र से ही याग आदि के अनुष्ठान के उपकारक होते हैं; अर्थ-प्रतिपादन करके नहीं।

आचार्य सायण ने प्रत्येक सूत्रों की उपक्रमणिका प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार शङ्का उपस्थित करते हैं कि मन्त्रों को उच्चारणार्थक मान लेने पर उसके अदृष्ट-प्रयोजन की परिकल्पना करनी पड़ेगी। अर्थ-प्रतिपादक मानने से अर्थ-ज्ञान रुप दृष्ट-प्रयोजन ही प्राप्त हो जाता है। अतः ब्राह्मण वाक्यों को अनुवादक मानकर भी मन्त्रों को अर्थ-बोधक ही मानना चाहिए। इस प्रकार की शङ्का करके उसका समाधान देते हैं—वैदिक वाक्यों में पदों का क्रमशः उच्चारण का नियम देखा जाता है। जिस क्रम से वाक्य-घटक पद पठित हैं, उसी क्रम से पढ़ा जाता है; परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता। इससे भी ज्ञात होता है कि मन्त्र अर्थ-बोधक नहीं है; क्योंकि अर्थ-बोध कराने के लिये प्रवृत्त लौकिक वाक्यों में "रामः गच्छति

या गच्छति रामः आदि परिवर्त्तन करने से भी अर्थ-ज्ञान हो जाता है। इसलिये मन्त्रों का केवल उच्चारण ही प्रयोजन है, अर्थ-बोध नहीं। वैदिक वाक्य को उपस्थित करते हुए सायण ने कहा है कि "अग्निर्मूर्द्धा" इसी प्रकार वाक्य पढ़ना चाहिए—ऐसा नियम उपलब्ध होता है। अर्थ-बोधक मान लेने पर "मूर्द्धाग्नि" इस प्रकार विपरीत-क्रम से भी पढ़ा जा सकता था; क्योंकि दोनों क्रमों में अर्थ-ज्ञान समान है। अतः निश्चित पाठक्रम की सफलता के लिये मन्त्रों का उच्चारण मात्र ही प्रयोजन मानना उचित है, अर्थ-ज्ञान नहीं।

ननु पाठक्रमनियममात्रस्य अदृष्टार्थत्वेऽपि मन्त्रपाठोऽर्थबोधार्थ एव इत्याशङ्क्य तत्र दोषान्तरं सूत्रयति—

'बुद्धशास्त्रात्' (जै० १।२।३३) इति।

'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२) इति प्रैषमन्त्रः प्रयोगकाले पठ्यते। तच्च अग्निविहरणादिकं आग्नीध्रेण अध्ययनकाले एव स्वकर्त्तव्यत्वेन बुद्धम्। तस्य च बुद्धस्य अर्थस्य पुनर्मन्त्रोच्चारणेन शासन-मर्थकम्। न हि सोपानत्के पादे पुनरपि उपानहं प्रतिमुञ्चति।

ननु बुद्धस्यापि अर्थस्य प्रामादिकविस्मरणपरिहाराय मन्त्रेण स्मरण-मस्तु इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—'अविद्यमानवचनात्' (जै० १।२।३४) इति।

'चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य' (ऋ०सं० ४।५८।३) इति मन्त्र आम्नायते। न खलु चतुःशृंगत्वाद्युपेतं किञ्चिद् यज्ञसाधनं विद्यते, यन्मन्त्रपाठेन अनुस्मर्येत।

ननु ईदृशी काचिद् देवता स्यादित्याशङ्क्य अन्यं दोषं सूत्रयति—'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' (जै० १।२।३५) इति।

'ओषधे त्रायस्वैनम्' 'शृणोत ग्रावाणः' इत्यादावचेतने द्रव्ये चेतनो-चितरक्षणश्रवणाद्यर्थं बध्नाति। स चायुक्तः।

ननु अभिमानिव्यपदेश इति वैयासिकशास्त्रे सूत्रितत्वात् ओषध्याद्य-भिमानिचेतनदेवता अत्र विवक्ष्यतामित्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अर्थविप्रतिषेधात्' (जै० १।२।३६) इति ।

'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १।८९।१०) इति मन्त्र आम्नायते। यदेव द्यौस्तदेव अन्तरिक्षमित्ययमर्थो विप्रतिषिद्धः। एवं 'एक एव रुद्रः' (तै० सं० १।८।६।१), 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः' (तै० सं० ४।५।११।१) इत्यादिकमपि उदाहर्त्तव्यम्।

मन्त्रों के पाठ-क्रम के नियम को अदृष्टार्थ मान लेने पर भी मन्त्र-पाठ को अर्थ-ज्ञान के लिये मान लेने में कोई दोष नहीं है—इस शङ्का के समाधान के लिये कहते हैं कि मन्त्रों के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को पूर्व से ही ज्ञात होने के कारण मन्त्रों का अर्थ विवक्षित नहीं माना जा सकता। उदाहरण—"अग्नीदग्नीन् विहर" इत्यादि प्रैष-मन्त्र यागादि के अनुष्ठान के समय प्रयुक्त होता है। यह अग्निविहरणादि रूप कार्य को आग्नीध्र नामक ऋत्विक् अपने वेदाध्ययन के समय ही अपने कर्त्तव्य रूप से जान लिया है। उस पूर्व से ज्ञात अर्थ का पुनः मन्त्रोच्चारण के द्वारा ज्ञान कराना व्यर्थ है। मनुष्य अपने पैर में एक जूते को पहन लेने के बाद फिर उसी पैर में दूसरा जूता नहीं पहनता; क्योंकि दूसरा जूता पहनना व्यर्थ है। उसी प्रकार अध्ययन के समय ज्ञात अर्थ का पुनः ज्ञान कराना व्यर्थ है। अतः मन्त्र अविवक्षितार्थक ही है।

यदि कहा जाय कि पूर्व से अर्थ ज्ञात होने पर भी प्रमादवश विस्मरण हो जा सकता है। उस विस्मरण को दूर करने के लिये मन्त्रों के द्वारा अर्थ का स्मरण कराना आवश्यक है। अतः मन्त्रों को विवक्षितार्थक ही मानना चाहिए—इस प्रकार की शङ्का का समाधान करते हैं कि मन्त्र लोक में अविद्यमान पदार्थ का भी वाचक होता है। जो पदार्थ लोक में प्रसिद्ध ही नहीं है, उस प्रकार के अर्थ का बोध कैसे सम्भव है और अविवक्षितार्थक मान लेने पर कोई दोष नहीं होता। उदाहरण—ऋग्वेद में कहा गया कि चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो शिर हैं और सात हाथ हैं। इस तरह के पदार्थ का वाचक भी मन्त्र मिलता है; परन्तु चार सींग आदि से युक्त कोई भी यज्ञ का साधन नहीं है, मन्त्रों से जिसका स्मरण किया जा सके। अतः मन्त्र अविवक्षितार्थक है, अविवक्षितार्थक मान लेने पर कोई आपत्ति की सम्भावना नहीं होती।

यदि कहा जाय कि इस प्रकार की कोई देवता होगी—इस शङ्का के समाधान में कहते हैं कि मन्त्रों में अचेतन द्रव्यों के साथ चेतन के योग्य अर्थों का सम्वन्ध होने से मी मन्त्रों की अर्थ वोधकता सिद्ध नहीं होती। उदाहरण—अचेतन ओषधियों से रक्षा की कामना की गयी है और अचेतन पत्थर से श्रवण के लिये प्रार्थना की गयी है। ये ओषधियाँ और पत्थर स्वरक्षा में भी समर्थ नहीं हैं, दूसरों की रक्षा कैसे कर सकती हैं। अतः अचेतन द्रव्यों में चेतनोचित रक्षग तथा श्रवण का विधान समुचित नहीं है। इससे भी अर्थ को विवक्षा सिद्ध नहीं होती।

यदि कहा जाय कि अचेतन स्थलों में अभिमानिदेवता को उद्देश्य करके व्यवहार किया गया है—ऐसा ही व्यास ने अपने सूत्रों में बतलाया है। इसलिये उन अचेतन स्थलों में ओषध्यादि के अभिमाना देवता की ही विवक्षा की जाय। परन्तु यह ठीक नहीं हैं; क्योंकि मन्त्र विप्रतिषिद्ध (परस्पर विरुद्ध) अर्थ का भी वाचक देखा जाता है। विवक्षितार्थक मान लेने पर विप्रतिषिद्धार्थक भी मन्त्रों को मानना पड़ेगा और अर्थ की विवक्षा न मानने पर यह दोष नहीं हो सकता। अतः मन्त्र अविवक्षितार्थक ही है। उदाहरण—ऋग्वेद में "अदितिर्द्यौ०" इत्यादि मन्त्र श्रुत है। जो "द्यौः" है, वही 'अन्तरिक्ष' है। दोनो का आकाशरूप एक ही अर्थ होता है। यह अर्थ परस्पर विप्रतिषिद्ध है। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता के एक स्थान पर कहा गया कि एक ही रुद्र हैं और दूसरे स्थल में कहा गया कि हजारों रुद्र हैं। ये दोनों वाक्य परस्पर विप्रतिषिद्ध हैं। अतः मन्त्र अविवक्षितार्थक हैं।

ननु 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इत्यादिवद् अन्तरिक्षादिरूपत्वेन अदितिः स्तूयते। एवमेकस्यापि रुद्रस्य योगसामर्थ्याद् वहुमूर्तिस्वीकारोऽस्तु। ततो नार्थविप्रतिषेध इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'स्वाध्यायवदवचनात्' (जै० १।२।३७) इति।

पूर्णिका नाम काचिद् योषिदवघातं करोति। तत्समीपे माणवकः स्वाध्यायग्रहणार्थं कदाचिदवघातमन्त्रमधीते। न च तस्य अर्थप्रकाशनविवक्षा अस्ति। प्रतिमुसलप्रहारं तस्य मन्त्रस्य अपठ्यमानत्वात्। अक्षर-

ग्रहणायैव तं मन्त्रमन्यांश्च मन्त्रान् अभ्यस्यति। तत्र स्वाध्यायकाले पठितोऽपि अवघातमन्त्रो यथा पूर्णिकां प्रति स्वार्थं न ब्रूते, तथा कर्म्म-कालेऽपि स्वार्थं न वक्ष्यति।

ननु तत्र माणवकस्य अर्थे विवक्षा नाऽस्ति। पूर्णिकापि अववोद्धु-मक्षमा। कर्मणि तु अध्वर्योरर्थविवक्षा विद्यते, वोधश्च सम्भवति इत्याशङ्कय दोषान्तरं सूत्रयति—

'अविज्ञेयात्' (जै० १।२।३८) इति।

केषाञ्चिन्मन्त्राणामर्थो विज्ञातुं न शक्यते। तद्यथा—'अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे' इत्येको मन्त्रः। 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यपरो मन्त्रः।

ननु ईदृशमन्त्रार्थवोधाय एव निगमनिरूक्तव्याकरणानि प्रवृत्तानि इत्याशङ्कय दोषान्तरं सूत्रयति—

'अनित्यसंयोगान् मन्त्रानर्थक्यम्' (जै० १।२।३९) इति।

'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु' (ऋ० सं० ३।५३।१४) इति मन्त्रे कीकटो नाम जनपद आम्नातः; तथा नैचाशाखं नाम नगरं, प्रमगन्दो नाम राजा इत्येते अर्था अनित्या आम्नाताः। तथा च सति प्राक् प्रम-गन्दान्नाऽयं मन्त्रो भूतपूर्व इति गम्यते।

तदेवमेतैस्तदर्थशास्त्रादिभिर्हेतुभिर्मन्त्राणामर्थप्रत्यायनार्थत्वं नास्ति, किन्तु उच्चारणाददृष्टार्था एवेति पूर्वपक्षः।

यदि कहा जाय कि जिस प्रकार 'त्वमेव माता' इत्यादि में स्तुति-प्रतिपादन के लिये एक ही में परस्पर विरुद्ध मातृत्व तथा पितृत्व धर्म का कथन किया गया है, उसी प्रकार स्तुति के लिये एक ही अदिति को "द्यौ और अन्तरिक्ष" शब्द से कहा गया है। इसी प्रकार एक ही रुद्र का योग के सामर्थ्य से अनेक मूर्ति मान लिया जाय। इसलिये परस्पर अर्थों का विप्रतिषेध न होगा—ऐसी शङ्का को दूर करने के लिये जैमिनि ने दूसरा दोष उपस्थित किया। स्वाध्याय-काल के समान अनुष्ठान-काल में भी अर्थ की विवक्षा नहीं रहती है। अतः मन्त्रों के अर्थ की

विवक्षा नहीं है। उदाहरण—पूर्णिका नाम की कोई स्त्री अवघात कर रही है अर्थात् धान को कूटकर चावल निष्पन्न कर रही है। उसी के पास वेदों को पढ़ने वाला छात्र स्वाध्याय ग्रहण के लिये कोई अवघात-सम्बन्धी मन्त्रों का अध्ययन कर रहा है। उस बालक को अर्थ-प्रकाशन की विवक्षा नहीं है; क्योंकि मुसल के प्रत्येक प्रहार के अनुसार मन्त्र का पाठ नहीं कर रहा है। केवल अक्षर ग्रहण के लिये ही उन मन्त्रों का तथा अन्य मन्त्रों का अभ्यास कर रहा है; अर्थ की विवक्षा नहीं है। स्वाध्याय के समय अवघात-मन्त्रों का पाठ करने पर भी जिस प्रकार पूर्णिका नामक स्त्री के प्रति अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता; उसी प्रकार अनुष्ठान के समय भी अपने अर्थ की विवक्षा नहीं होगी।

यदि कहा जाय कि पूर्वोक्त स्थल में माणवक को अर्थ की विवक्षा नहीं है और पूर्णिका भी उन मन्त्रों के अर्थों को समझने में समर्थ नहीं है। यज्ञों के अनुष्ठान के समय अध्वर्यु को अर्थ की विवक्षा है और बोध भी सम्भव है। अतः मन्त्रों की अर्थ-विवक्षा माननी चाहिए। इसलिये दूसरा दोष प्रस्तुत करते हैं—कुछ मन्त्र ऐसे हैं कि जिनका अर्थ ज्ञात ही नहीं होता; क्योंकि मन्त्र-घटक पदों के प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान ही नहीं होता और प्रकृति-प्रत्यय के ज्ञान के विना अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। उन मन्त्रों का अर्थ जाना नहीं जा सकता। उदाहरण—अम्यक् सा त०", "सृण्येव जर्भरी०" इत्यादि। अतः मन्त्रों की अर्थ विवक्षा नहीं है।

यदि कहा जाय कि इस प्रकार के मन्त्रों के अर्थ-ज्ञान के लिये ही निगम, निरुक्त तथा व्याकरण शास्त्र है। उन शास्त्रों से ही मन्त्रों का अर्थ-ज्ञान करना चाहिए। इसलिये दूसरा दोष उपस्थित करते हैं—अनित्य पदार्थों के संयोग के कारण मन्त्रों की अनर्थकता सिद्ध होती है अर्थात् अर्थ की विवक्षा न रहने के कारण मन्त्र निष्प्रयोजन सिद्ध होते हैं। वे केवल अदृष्ट के लिये माने जा सकते हैं। उदाहरण—'किं ते कृण्वन्ति' इत्यादि मन्त्रों में कीकट नाम का देश और नैचाशाख नाम का नगर, प्रमगन्द नाम का राजा आदि अनित्य पदार्थ श्रुत हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि प्रमगन्द नाम के राजा के आविर्भाव के पहले यह मन्त्र नहीं था। जब राजा जन्म लिया होगा, तब इस मन्त्र का निर्माण हुआ होगा। अतः वेदों की अनादिता समाप्त हो जायेगी। यदि मन्त्रों के अर्थों की विवक्षा न मानी जाय, तो

वेदों की अनादिता सिद्ध हो जाती है और यही भारतीय-वैदिक-परम्परा-सिद्ध सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का भङ्ग न हो जाय, इसके लिये मन्त्रों के अर्थों की विवक्षा नहीं माननी चाहिए। इस प्रकार पूर्वोक्त हेतुओं के द्वारा मन्त्रों की अर्थ-बोधकता सिद्ध नहीं होती; अपितु मन्त्रों का उच्चारण अदृष्ट के लिये ही है। उसका दृष्ट प्रयोजन नहीं है। यह पूर्वपक्ष हुआ।

तत्र सिद्धान्तं सूत्रयति—

'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (जै० १।२।४०) इति।

'तु' शब्देन मन्त्रणामदृष्टार्थमुच्चारणमात्रं वारयति। क्रियाकारक-सम्वन्धेन प्रतीयमानो वाक्यार्थो लोकवेदयोरविशिष्टः। तथा सति यथा लोके अर्थप्रत्यायनायैव वाक्यमुच्चार्यते, तथा वैदिके यागप्रयोगेऽपि द्रष्टव्यम्। मन्त्रेण प्रकाशितस्तु अर्थोऽनुष्ठातुं शक्यते, न तु अप्रकाशितः। तस्मान्मन्त्रोच्चारणस्य अर्थप्रकाशनरूपं दृष्टमेव प्रयोजनम्।

ननु 'अभ्रिरसि नारिरसि' (वा० सं० ११।१०) इत्यारम्भ 'त्रैष्टुवेन त्वा छन्दसा ददे' (तै० सं० ४।१।१।३–४) इति मन्त्र आम्नातः। तेनैव मन्त्रेण प्रतीतेऽपि अभ्र्यादाने, पुनर्ब्राह्मणे 'तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते' (तै० सं० ५।१।१।४) इति विधीयते। (श० ब्रा० ६।३।१।३९)। तदेतद् विधानं त्वत्पक्षे व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—'गुणार्थेन पुनः श्रुतिः' (जै० १।२।४१) इति मन्त्रेण प्रतीतस्यैव अर्थस्य ब्राह्मणे यत् पुनः श्रवणं तदेतच्चतुःसंख्यालक्षणगुणविधानार्थत्वेन उपयुज्यते। एतस्य विधानस्य अभावे चतुर्णां मन्त्राणां मध्ये येन केनाप्येकेन अभ्रिरादीयेत।

पूर्वपक्ष के सूत्रों की व्याख्या करके सिद्धान्त पक्ष के सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—'लोक और वेद में वाक्यार्थ-बोध समान ही है, अर्थात् जिस प्रकार लोक में पद-पदार्थ तथा क्रिया-कारक सम्वन्ध होने के कारण वाक्यार्थ-ज्ञान होता है, उसी प्रकार वेदों में भी क्रिया-कारक का सम्बन्ध है। अतः वेदों के वाक्यों का भी अर्थ-ज्ञान हो जायेगा और याग आदि के अनुष्ठान के समय अर्थ-ज्ञान के लिए ही मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। सूत्र-घटक 'तु' शब्द के द्वारा मन्त्रों की

अदृष्टार्थता का निवारण किया जाता है। यज्ञों में केवल अदृष्ट के लिये मन्त्रों का उच्चारण नहीं होता है। लौकिक वाक्यों के समान क्रिया-कारक के सम्बन्ध से ज्ञायमान अर्थ वैदिक वाक्यों से भी होता है। इस प्रकार जिस तरह लोक में अर्थ-बोध कराने के लिये वाक्यों का उच्चारण किया जाता है, उसी तरह याग आदि के अनुष्ठान के समय अर्थ-ज्ञान के लिये ही वैदिक वाक्यों का उच्चारण समझना चाहिये। मन्त्रों के द्वारा बोधित पदार्थों का ही अनुष्ठान किया जा सकता है, अबोधित पदार्थों का नहीं। इसलिये मन्त्रों के उच्चारण का अर्थ-बोधन-रूप दृष्ट ही प्रयोजन है, अदृष्ट नहीं।

यदि कहा जाय कि 'अभ्रिरसि०' से प्रारम्भ करके 'त्रैष्टुभेन त्वा' इस मन्त्र पर्यन्त श्रुत मन्त्रों से ही अभ्रि (खनित्र) का ग्रहण प्रतिपादित है—ऐसा ज्ञात है, तथापि पुनः 'तां चतुर्भि०' इस ब्राह्मण वाक्य से अभ्रि के आदान का विधान किया जाता है। यह विधान दृष्टार्थ पक्ष में व्यर्थ हो जायेगा। इसका समाधान करते हैं—'पुनः श्रवण गुणविधान के लिये है।' मन्त्रों के द्वारा ज्ञात अर्थ का ही ब्राह्मण में जो पुनः श्रवण है, उसका चतुष्ट्व-संख्या रूप गुण का विधान ही प्रयोजन है, यही उसका उपयोग है। यदि इस ब्राह्मण वाक्य के द्वारा पुनः विधान न किया जाय, तो इन चारों मन्त्रों में से किसी भी एक मन्त्र के द्वारा अभ्रि का ग्रहण हो जाता, यह समुचित नहीं है; क्योंकि चारों मन्त्रों का अभ्रि-ग्रहण में ही विनियोग होता है। यह ब्राह्मण-वाक्य भी चरितार्थ है।

ननु 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' (वा० सं० २२।२) 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' (तै० सं० ५।१।२।१) इत्यत्र मन्त्रसामर्थ्यादेव प्राप्तस्य रशनादानस्य पुनर्ब्राह्मणवाक्यं (श० ब्रा० १३।१।८।१) विनियोजकमाम्नायते। तदेतत् त्वन्मते व्यर्थमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'परिसंख्या' (जै० १।२।४२) इति।

'गर्दभाभिधानीं नादत्ते' इति निषेधः परिसंख्या। तदर्थमिदं ब्राह्मणवाक्यम्।

ननु परिसंख्यायां त्रयो दोषाः प्राप्नुयुः—'आदत्ते' इति शब्दो रशनादानलक्षणं स्वार्थं जह्यात् । तन्निषेधलक्षणः परार्थोऽस्य शब्दस्य कल्प्येत, रशनात्वसामान्येन च प्राप्तं गर्दभरशनाया आदानं वाध्येत इति त्रयो दोषाः । नैवम्, गर्दभरशानाया अप्राप्तत्वात् । तथा हि—तत्पक्षे प्रकरणपाठान्यथानुपपत्त्या मन्त्रेणानेन आदानं कुर्यादिति वाक्यं परिकल्प्यते । तेन च वाक्येन मन्त्रादानयोः सम्वन्धे सिद्धे सति पश्चात् किंविषयकमादानमिति वीक्षायां लिङ्गात् रशनामात्रस्य आदानमुपेत्य गर्दभरशनायाः प्राप्तिर्वक्तव्या । सा च विलम्ब्यते । 'इति अश्वाभिधानीम्' इति प्रत्यक्षेण वाक्येन मन्त्रादानयोः सम्वन्धे सति लिङ्गाद् रशनामात्रे प्राप्तमादानम् । 'अश्वाभिधानीम्' इति श्रुत्या विशेषे व्यवस्थाप्यते । ततो मन्त्रस्य निराकाङ्क्षत्वाद् गर्दभरशनाया अप्राप्तत्वान्नास्ति प्राप्तवाधः । अतएव निषेधार्थो न कल्प्यते, विध्यर्थश्च न त्यज्यते । तत्र कुतो दोषत्रयम् ? ईदृशमप्राप्तिरूपमेव गर्दभरशनाया निवारणमभिप्रेत्य 'परिसंख्या' इति सूत्रितम् ।

यदि कहा जाय कि 'इमामगृभ्णन्०' इस मन्त्र से रशना (लगाम) के आदान (ग्रहण) का ज्ञान हो जाता है, फिर इसी अर्थ का वोधक व्राह्मण वाक्य भी श्रुत होता है । वह व्राह्मण रशनादान का विनियोजक माना जाता है । पूर्वपक्षी के अनुसार यह व्यर्थ माना जायेगा; क्योंकि जिस अर्थ का वह विनियोजक है, उसका पहले ही ज्ञान हो चुका है । इसके समाधान के लिये 'परिसंख्या' सूत्र अवतरित है । 'गर्दभ के लगाम का ग्रहण न करे'—यह निषेध ही परिसंख्या कहलाती है । इसी निषेध के लिये व्राह्मण वाक्य प्रस्तुत है । एक ही काल में एक ही विधि दो स्थलों में प्राप्त हो और उसमें एक की निवृत्ति का वोध हो, उसी विधि को परिसंख्या विधि कहते हैं । कहा भी है—'तत्र चान्यत्र च प्राप्ता परिसंख्येति गीयते ।' परिसंख्या मानने में तीन दोष आते हैं—श्रुत अर्थ का परित्याग, अश्रुत अर्थ की कल्पना तथा प्राप्त का वाध । इसीलिये परिसंख्या को त्रिदूषणा कहते हैं । अतः परिसंख्या मानने पर ये तीनों दोष प्राप्त हो जायेंगे ।

'आदत्ते' शब्द का रशना का आदान अर्थ है। इस प्रकार के स्वार्थ का परित्याग करना पड़ेगा। रशनादान के निषेध रूप अन्य अर्थ की कल्पना करनी पड़ेगी। इसी प्रकार प्राप्त गर्दभरशना का बाध मानना पड़ेगा, क्योंकि रशनात्व रूप धर्म अश्व की रशना के समान गर्दभरशना में भी रहता है। इसीलिये उसकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार परिसंख्या मानने पर तीनों दोष प्राप्त हो जायेंगे। अतः परिसंख्या मानना उचित नहीं है। परन्तु इस प्रकार की शंका ही समुचित नहीं हैं; क्योंकि गर्दभरशना की प्राप्ति ही नहीं है। उदाहरण—परिसंख्या पक्ष में प्रकरणपाठ की उपपत्ति के लिये इस मन्त्र के द्वारा 'आदान करना चाहिए' इस वाक्य की कल्पना की जाती है, वाक्य की कल्पना किये विना उसकी दूसरे किसी भी प्रकार से उपपत्ति सम्भव नहीं है। उस परिकल्पित वाक्य से मन्त्र और आदान का परस्पर सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। उसके पश्चात् 'किंविषयक आदान है' अर्थात् किसका आदान होगा—इस प्रकार की आकांक्षा होने पर शब्दसामर्थ्य-रुप लिङ्ग प्रमाण से रशना मात्र का आदान मानकर गर्दभरशना की प्राप्ति का प्रतिपादन करना पड़ेगा; क्योंकि अश्वरशना के समान ही गर्दभरशना में रशनात्व अवस्थित है। उस गर्दभरशना की प्राप्ति की विलम्ब से उपस्थिति होती है। "अश्वाभिधानीम्" इस प्रत्यक्ष विधायक वाक्य के द्वारा मंत्र और आदान का परस्पर सम्बन्ध ज्ञात होने पर लिङ्ग प्रमाण से रशनात्व से युक्त रशना-सामान्य का ज्ञान होता है, तथापि यह "आश्वाभिधानीम्" इस द्वितीया श्रुति से अश्वरशना रुप रशनाविशेष अर्थ का व्यवस्थापक होता है। अश्वरशना का प्रतिपादन करके मन्त्र निराकांक्ष हो जाता है। अतः गर्दभरशना की प्राप्ति ही नहीं होती। इस प्रकार प्राप्तबाधरुप दोष नहीं दिया जा सकता है। इसलिए न निषेधार्थ की कल्पना की जाती है और न विध्यर्थ का परित्याग ही किया जाता है।

शङ्का—जब तीनों दोषों में से एक दोष भी उसमें संघटित नहीं होता, तो परिसंख्या स्थलों में तीन दोष का प्रतिपादनरुप प्रसिद्धि कैसे सिद्ध होती है ?

समाधान—इस प्रकार के गर्दभरशना की अप्राप्तिरुप निवारण के अभिप्राय से ही जैमिनि ने 'परिसंख्या' सूत्र का निर्माण किया है। अतः ब्राह्मण

वाक्य निरर्थक नहीं माना जा सकता और मन्त्रों का उच्चारण भी दृष्ट प्रयोजन के लिये ही है, अदृष्ट के लिये नहीं।

ननु 'उरू प्रथस्व इति प्रथयति' इति ब्राह्मणस्य वैयर्थ्यं तदवस्थमेव इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अर्थवादो वा' (जै० १।२।४३) इति।

'वा' शब्दो वैयर्थ्यं वारयति। अस्त्यत्र अर्थवादः 'यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति' इति। तेन अर्थवादेन सम्बन्धाय ब्राह्मणे विधिः पठ्यते।

ननु 'प्रथयति' इत्यनेनैवविधिशब्देन प्रथनमनूद्य 'यज्ञपतिमेव' इत्यादिना अर्थवादेन स्तोतव्यम्। तदेव तु प्रथनं कुतः प्राप्तमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'मन्त्राभिधानात्' इति। अध्वर्युः पुरोडाशमुद्दिश्य मन्त्रे 'प्रथस्व' इत्येवमभिधत्ते। तस्मादभिधानात् अध्वर्युकर्तृकं प्रथनं प्राप्तम्। यथा—लोके यः कुरू इति ब्रूते स कारयत्येव, तथा अत्रापि यः प्रथस्व इति ब्रूते, स प्रथयत्येव।

यदुक्तम्, 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः' (ऋ० सं० ८।४४।१६) इति पाठक्रमनियमात् अदृष्टार्थो मन्त्र इति, तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'अविरुद्धं परम्' (जै० १।२।४४) इति।

परं द्वितीयसूत्रोक्तमस्मत्पक्षेऽपि अविरुद्धम्। न हि वयं पाठक्रमनियमाद् अदृष्टं निवारयामः। किं तर्हि मन्त्रोच्चारणेन जायमानमर्थप्रत्यायनं दृष्टप्रयोजनत्वात् न उपेक्षितव्यमित्येतावदेव ब्रूमः।

ननु "प्रोक्षणीरासादय" (वा०सं० १।२८) इति मन्त्रो बुद्धमेव अर्थं शास्ति, तदयुक्तम्। सोपानत्कस्य उपानदन्तरासम्भवात् इत्युक्तमिति चेत्? तस्य परिहारं सूत्रयति—

'सम्प्रैषकर्मणो गर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात्" (जै० १।२।४५) इति।

सम्प्रैषकर्मणो गर्हा त्वदुक्तदोषो न उपलभ्यते। बुद्धस्याप्यर्थस्य मन्त्रेणैव अनुस्मरणे सति नियमादृष्टलक्षणस्य संस्कारस्य सद्भावात्।

यदि कहा जाय 'उरू प्रथस्व' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य पूर्ववत् व्यर्थ ही रह गया; क्योंकि इस ब्राह्मण वाक्य का जो अर्थ होता है, वह मन्त्र से ही प्रतिपादित है। इसका उत्तर देते हैं कि यह अर्थवाद के लिए है। सूत्रस्थ 'वा' शब्द के द्वारा ब्राह्मण वाक्य के वैयर्थ्य का निवारण किया जाता है। इस ब्राह्मण से सम्बन्धित यह अर्थवाद है—'यज्ञपति' = यजमान को ही वह 'प्रथयति' = प्रजा तथा पशुओं के द्वारा विस्तृत करता है, बढ़ाता है। इसी अर्थवाद के साथ सम्बन्ध बतलाने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ में विधि पढ़ी जाती है। अध्वर्यु पुरोडाश से प्रार्थना करता है कि तुम्हारे लिये सुशोभन और चिकना आसन रखा है। उस पर तुम फैल जाओ। इसी प्रकार यजमान भी पशु पुत्रादि के द्वारा फैल जाय अर्थात् पुरोडाश का विस्तार यजमान का ही विस्तार है।

यदि कहा जाय कि 'प्रथयति' इसी विधि शब्द से ज्ञात प्रथन का अनुवाद करके 'यज्ञपतिमेव' इत्यादि अर्थवाद से स्तुति माननी चाहिए; परन्तु उस प्रथन का ही ज्ञान कैसे होगा?—इस शङ्का के समाधान के लिये कहते हैं कि मंत्र के अभिधान = कथन के द्वारा। यह जैमिनि-सूत्र नहीं, अपितु शाबरभाष्य का एक अंश है। प्रजा तथा पशु के द्वारा यजमान के प्रथन को फल न मानते हुए स्तुति को ही फल माना है। जब मन्त्र यजमान के प्रथन का प्रतिपादक ही नहीं है, तब 'प्रथयति' शब्द का प्रयोग कैसे हुआ? इसी के समाधान में कहा है कि "मन्त्राभिधानात्" अर्थात् मन्त्र के अभिधान से प्रथन प्राप्त होता है। अध्वर्यु पुरोडाश को उद्देश्य करके 'प्रथस्व' (प्रथन करो)—ऐसा अभिधान करता है। उस अभिधान से अध्वर्युकर्तृक प्रथन प्राप्त होता है। उदाहरण :—जैसे लोक में जो पुरुष 'कुरु' (करो)—ऐसा कहता है, वह कराता ही है, उसी प्रकार इस स्थल में भी जो 'प्रथस्व' (प्रथन करो) ऐसा कहता है, वह प्रथन करवाता ही है। अतः मन्त्र के अभिधान से ही प्रथन प्राप्त होता है।

यह जो कहा गया कि "अग्निर्मूर्द्धा०" इत्यादि मन्त्रों में पाठक्रम के नियम होने के कारण मन्त्र अदृष्ट प्रतिपादन के लिए ही है, दृष्ट प्रयोजन नहीं है। उसका समाधान देते हैं—पाठक्रम के नियम मेरे पक्ष में भी विरुद्ध नहीं है। परम् = 'वाक्यनियमाद्' इस द्वितीय सूत्र से प्रतिपादित नियम मेरे पक्ष में भी विरुद्ध नहीं

है, अपितु अनुकूल ही है; क्योंकि मैं पाठक्रम के नियम से अदृष्ट की उत्पत्ति का निवारण नहीं करता हूँ; किन्तु मन्त्रों के उच्चारण से उत्पन्न होने वाला अर्थ-ज्ञान रुप दृष्टप्रयोजन का परित्याग नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि दृष्टफल का परित्याग करके अदृष्ट फल की कल्पना करना समुचित नहीं है। कहा भी है—'लभ्यमाने फले दृष्टे नाऽदृष्टपरिकल्पना' इति।

यदि कहा जाय कि "प्रोक्षणीरासादय" इत्यादि मन्त्र पहले से ज्ञात अर्थ का ही बोध कराता है—यह समुचित नहीं है; क्योंकि पैर में एक जूता पहन लेने के पश्चात् पुनः दूसरा जूता पहनना सम्भव नहीं होता। अतः मन्त्रों की अर्थ-विवक्षा मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। इसका समाधान देते हैं—अनुज्ञा के वाचक वाक्यों की निन्दा उचित नहीं है; क्योंकि वह संस्काररुप है। प्रैष-सम्बन्धी कर्मों का त्वत्प्रतिपादित दोष ठीक नहीं है, वह दोष समुपलब्ध नहीं होता। कारण यह है कि पहले से ज्ञात अर्थ का भी मन्त्र से ही ज्ञान करने का नियम है और उससे नियमादृष्ट रुप संस्कार होता है। यह नियमापूर्व भी परमापूर्व के सहायक होकर परम्परया फल का जनक होता है। अतः व्यर्थ भी नहीं कहा जा सकता।

यच्चोक्तं, 'चत्वारिश्रृङ्गा' (ऋ० सं० ४।५८।३) इति मन्त्रो असन्तमेव अर्थमभिवत्त इति तस्य उत्तरं सूत्रयति—

'अभिधानेऽर्थवादः' (जै० १।२।४६) इति।

असतोऽर्थस्य अभिधायके वाक्ये गौणस्य उक्तिर्द्रष्टव्या। तद्यथा—चत्वारो होत्रध्वर्यूगातृब्रह्मणोऽस्य कर्मणः श्रृङ्गाणि, प्रातः सवनादयस्त्रयः पादाः, पत्नीयजमानौ द्वे शीर्षे, गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि हस्ताः, ऋग्वेदादिभिस्त्रिभिर्वेदैस्त्रेधा बन्धनम्। कामान् वर्षति इति वृषभः, रोरवीति स्तोत्रशस्त्रादिशब्दान् पुनः-पुनः करोति, महो देव, सोऽयं प्रौढो यज्ञरूपो देवः मर्त्यान् आविवेश इति मनुष्या एव अत्राधिकारिणः। लोकेऽपि एवं गौणप्रयोगा दृश्यन्ते—'चक्रवाकस्तनी, हंसदन्तावली, काशवस्त्रा, शैवालकेशिनी' इत्येवं नद्याः स्तूयमानत्वात्। एवम् 'ओषधे त्रायस्व', 'श्रृणोत

ग्रावाण:' इत्याद्यचेतनानि स्तुतिपरत्वेन योजनीयानि। यस्मिन् वपने ओषधिरपि त्रायते, तत्र वपनकर्त्ता त्रायत इति किमु वक्तव्यम्। तथा ग्रावाणोऽपि प्रातरनुवाकं शृण्वन्ति किमुत विद्वांसो ब्राह्मणा इत्यादि आमन्त्रणाभिप्राय: ।

जो यह कहा गया कि 'चत्वारि शृङ्गा' इत्यादि से लोक में अविद्यमान पदार्थ का ही प्रतिपादन किया गया है; क्योंकि चार सींग आदि से युक्त यज्ञ का कोई साधन-सामग्री नहीं है, जिसका वर्णन इस मन्त्र में है। अत: मन्त्रों की अर्थ-विवक्षा नहीं हो सकती—इसका समाधान देते हैं कि ऐसे अभिधानों में अर्थवाद (गौण प्रयोग) समझना चाहिए। जब मन्त्र अविद्यमान अर्थ का प्रतिपादक हो, तब गौण अर्थ का प्रतिपादन समझना चाहिए। यह मन्त्र साङ्गोपाङ्ग याग का प्रतिपादक है, जैसे—होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा—ये चार याग आदि कर्मों के सींग हैं। प्रात:सवन, माध्यन्दिनसवन तथा सायंसवन इसके तीन पाद हैं। पत्नी और यजमान इसके दो शिर हैं। गायत्री आदि सात छन्द इसके सात हाथ हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के द्वारा तीन प्रकार से बँधा हुआ है। यजमान के कामनाओं का वर्षण करता है अर्थात् पूर्ण करता है। इसीलिये वृषभ कहा जाता है। रोरवीति = स्तोत्र तथा शस्त्र आदि शब्दों का बार-बार प्रयोग करता है। रुधातु शब्दकर्मक है। यज्ञ में स्तोत्र आदि का बार-बार प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के महो = प्रौढ़ यज्ञरुप देवता मरणधर्मा मनुष्यों में आविष्ट हुआ अर्थात् मनुष्य ही यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान के अधिकारी हैं। लोक में भी इस प्रकार के गौण प्रयोग देखे जाते हैं, जैसे—किसी कवि ने नदी को नायिका के रुप में वर्णन करते हुए कहा है कि नदी रुपी नायिका के चक्रवाक की जोड़ी ही मानो स्तनयुगल हैं। जिस प्रकार नायिका के दोनों स्तन एक स्थान में सदा प्रतिस्पर्धित रहते हैं, उसी प्रकार नदी में चक्रवाक युगल भी सदा प्रतिस्पर्धित रहते हैं। जिस प्रकार नायिका की शुभ्र दन्तपक्तियाँ सुशोभित होतीं हैं, उसी प्रकार नदी रुपी नायिका में हँसों की शुभ्र पक्तियाँ हैं अर्थात् वे ही दन्तपंक्ति स्थानीय हैं। नायिका सुन्दर वस्त्रों से आच्छादित रहती है, नदी कासों से आच्छादित रहती है। अत: वे कास ही उसके

वस्त्र हैं। नायिका के शिर में सुन्दर केश होते हैं। नदी-नायिका के शिर में शैवाल ही केश हैं। यहाँ पर नदी में स्तन आदि सम्भव नहीं है तथापि कवि ने गौण-प्रयोग के द्वारा उत्प्रेक्षित किया है। इसी प्रकार वेदों में भी गौण-प्रयोग समझना चाहिए। इन स्तनादि के गौण-प्रयोग से केवल नदी की स्तुति की गयी है। इसी प्रकार 'ओषधे त्रायस्व' इत्यादि स्थलों में जो अचेतन-सम्बन्धी सम्बोधन का प्रयोग है, उसे स्तुति का विधायक ही मानना चाहिए। जिस वपन में ओषधि भी रक्षा कर रही है, उसमें वपनकर्तृक रक्षा की क्या बात ? अर्थात् जब अचेतन रक्षा कर सकता है, तो चेतन क्यों नहीं रक्षा करेगा। जब पत्थर भी प्रातरनुवाक का श्रवण कर सकता है, तो विद्वान् ब्राह्मण क्यों नहीं सुन सकते अर्थात् अवश्य ही सुनेंगे। ये सब आमन्त्रण के अभिप्राय से कहे गये हैं। इन सबों से भी स्तुति सिद्ध होती है।

योऽपि, 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १।८९।१०) इति विप्रतिषेध उक्तः, तस्य उत्तरं सूत्रयति—

'गुणादविप्रतिषेधः स्यात्' (जै० १।२।४७) इति।

यथा 'त्वमेव पिता त्वमेव माता' इत्यत्र गौणप्रयोगात् अविरोधस्तद्वत्। एवमेकरुद्रदेवत्ये कर्मणि एको रुद्रः, शतरुद्रदेवत्ये शतं रुद्रा इति अविरोधः।

यदप्युक्तं, स्वाध्यायमधीयानो माणवकः पूर्णिकाया अवहन्ति न प्रकाशयितुमिच्छतीति, तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'विद्यावचनमसंयोगात्' (जै० १।२।४८) इति।

वेदविद्याग्रहणकालेऽर्थस्य यदवचनं तदयज्ञसंयोगादुपपद्यते। न हि पूर्णिकाया अवघातो यज्ञसंयुक्तः, नाऽपि माणवको यज्ञमनुतिष्ठति, अतो यज्ञानुपकारात् न तत्र अर्थविवक्षा।

जो 'अदितिर्द्यौः०' इत्यादि मन्त्रों से विप्रतिषिद्ध अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, उसका समन्वय कैसे होगा ? इसका समाधान देते हैं कि गौण प्रयोग होने के कारण विप्रतिषेध (विरोध) नहीं है। जिस प्रकार "तुम ही पिता और तुम

ही माता हो"—इस स्थल में गौण प्रयोग होने के कारण विरोध नहीं माना जाता; उसी प्रकार उपर्युक्त स्थल में भी समझना चाहिए। एक ही व्यक्ति में परस्पर विरुद्ध पितृत्व तथा मातृत्व धर्म न रहने के कारण मुख्य प्रयोग नहीं माना जा सकता।

इसी प्रकार एक रुद्रदेवताक कर्म में एक ही रुद्र हैं और शतरुद्रदेवताक कर्म में शत (सौ) रुद्र हैं। इसलिये परस्पर विरोध की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। जो यह कहा गया कि "स्वाध्याय का अध्ययन सम्पादन कर रहा बालक पूर्णिका नाम की स्त्री के अवघात का प्रकाशन करना नहीं चाहता है। इसलिये मन्त्रों में अर्थ की विवक्षा नहीं है। उसका समाधान है कि स्वाध्याय के समय याग आदि का संयोग न रहने के कारण मन्त्रों की अर्थ-विवक्षा नहीं होती है वेदविद्या के ग्रहण के समय अर्थ का प्रतिपादन करना यज्ञसंयोगाभाव के कारण ही उपपन्न हो जाता है। पूर्णिका का अवघात यज्ञ के साथ संयुक्त नहीं है और न बालक यज्ञ का अनुष्ठान ही सम्पन्न कर रहा है। अतः यज्ञ का उपकारक न होने के कारण बालक के स्वाध्याय में अर्थ की विवक्षा नहीं है। इससे यज्ञानुष्ठान काल में भी अर्थ-विवक्षा नहीं होगी—यह नहीं कहा जा सकता है। अनुष्ठान के समय पदार्थों के अनुस्मरण के लिये अर्थ की विवक्षा आवश्यक है।

यदप्युक्तं, 'अम्यक् सा त इन्द्र' सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यादौ अर्थस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् नास्त्येवार्थ इति, तत्र उत्तरं सूत्रयति—
'सतः परमविज्ञानम्' (जै० १।२।४९) इति।

विद्यमान एव अर्थः प्रमादालस्यादिभिर्न विज्ञायते। तेषां निगम-निरुक्त-व्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः परिकल्पयितव्यः। तद्यथा—'जर्भरी तुर्फरीतू' इत्येवमादीनि अश्विनोरभिधानानि, तेषु हि द्विवचनान्तत्वं लक्ष्यते। आश्विनं चेदं सूक्तम्, अश्विनोः काममप्राः' (१०।१०६।११) इति। दर्शनात्। एतदेव अभिप्रेत्य निरुक्तकारो व्याचष्टे 'जर्भरी भर्त्तारौ' इत्यर्थः, 'तुर्फरीतू हन्तारौ' इत्यर्थः (नि० १३।५) इति। एवम् 'अम्यक् सा ते' इत्यादावपि उन्नेयम्।

जो यह कहा गया कि "अम्यक् सा त०" इत्यादि मन्त्रों का अर्थ-ज्ञान नहीं किया जा सकता। अतः उनका अर्थ ही नहीं है—इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि अर्थ विद्यमान है; परन्तु ज्ञात नहीं है। अर्थ विद्यमान है तथापि प्रमाद एवं आलस्यादि के कारण उसका ज्ञान नहीं होता है। निगम, निरुक्त तथा व्याकरण आदि के द्वारा धातु आदि की कल्पना करके अर्थ का परिज्ञान करना चाहिए। जैसे :—जर्भरी, तुर्फरीतू इत्यादि अश्विनीकुमारों का नाम है। उनके नामों में सर्वत्र द्विवचनान्तत्व ही परिलक्षित होता है। यह आश्विनसूक्त है; क्योंकि इसमें "अश्विनोः काममप्रा" इत्यादि उनका नाम देखा जाता है। इसी अभिप्राय से निरुक्तकार यास्क ने व्याख्या प्रस्तुत की है—जर्भरी = भरण करने वाले और तुर्फरीतू = हनन करने वाले —यही इसका अर्थ है। इसी प्रकार 'अम्यक् सा ते०' इत्यादि मन्त्रों के भी अर्थ की परिकल्पना करनी चाहिए। इस का अर्थ पहले सायण के अनुसार स्पष्ट भी किया गया है।

यदप्युक्तं, प्रमगन्दाद्य (ऋ० ३।५३।१४) नित्यार्थसंयोगान्मन्त्रस्य अनादित्वं न स्यादिति, तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'उक्तश्च अनित्यसंयोगः' (जै० १।२।५०) इति।

प्रथमपादस्य अन्तिमाधिकरणे सोऽयमनित्यसंयोगदोष उक्तः परिहृतः।

तथाहि-तत्र पूर्वपक्षे वेदानां पौरुषेयत्वं वक्तुं काठकं, कालापकमित्यादि पुरुषसम्बन्धाभिधानं हेतूकृत्य—

'अनित्यदर्शनाच्च' (जै० सू० १।१।२८) इति हेत्वन्तरं सूत्रितम्।

तस्यायमर्थः—'ववरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) इति अनित्यानां ववरादीनामर्थानां दर्शनात् ततः पूर्वमसत्त्वात् पौरुषेयो वेद इति, तस्योत्तरमेवं सूत्रितम्—'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० सू० १।१।३१) इति। तस्यायमर्थः—यत् काठकादिसमाख्यानं तत् प्रवचननिमित्तम्। यत्तु परं ववराद्यनित्यदर्शनं तत् शब्दसामान्यमात्रम्; न तु तत्र अनित्यो ववराख्यः कश्चित् पुरुषो विवक्षितः, किन्तु ववर इति शब्दानुकृतिः। तथा

सति ववर इति शब्दं कुर्वन् वायुरभिधीयते; स च प्रावाहणिः प्रकर्षेण वहनशीलः। एवमन्यत्रापि ऊहनीयम्। तदेवं कस्यचिदपि दोषस्य असम्भवात् विवक्षितार्था मन्त्राः स्वार्थप्रकाशनायैव प्रयोक्तव्याः।

पहले जो यह कहा गया कि प्रमगन्द नाम के राजा तथा कीकट नाम के देश आदि अनित्य पदार्थों का वर्णन होने के कारण मन्त्रों की अनादिता सिद्ध नहीं हो सकती है और मन्त्रों की अनादिता सिद्ध न होने पर तत्समूह रुप वेदों का भी नित्यत्व (अपौरुषेयत्व) सिद्ध नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जब वेद में प्रमगन्द नाम के राजा का वर्णन है, तब यह प्रतीत होता है कि उस राजा के जन्म लेने के पहले यह मन्त्र नहीं रहा होगा; अन्यथा उसका वर्णन उस मन्त्र में कैसे सम्भव होगा। अतः मन्त्रों की अनित्यता के द्वारा वेदों की भी अनित्यता हो जायेगी। इसका समाधान देते हैं कि अनित्य पदार्थों के संयोग के द्वारा वेदों के अनित्यत्व-सम्बन्धी शङ्का का समाधान पूर्व में ही कर दिया गया है। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का अन्तिम अधिकरण वेदापौरुषेयत्वाधिकरण है और प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद का अन्तिम अधिकरण मन्त्राधिकरण है। वेदापौरुषेयत्वाधिकरण में ही इसका समाधान हो चुका है। इसीलिये जैमिनि ने "उक्तः" शब्द का प्रयोग किया है। इन्हीं बातों को ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है कि प्रथम पाद के अन्तिमाधिकरण में इस अनित्य-पदार्थप्रयुक्त वेदों की अनित्यता का परिहार कर दिया गया है। जैसे—उस अधिकरण के पूर्वपक्ष में वेदों को पौरुषेय सिद्ध किया गया और उसमें काठक, कालापक इत्यादि पुरुषों के सम्बन्ध को हेतु रुप से प्रस्तुत किया गया है। इन हेतुओं को परिपुष्ट करने के लिये "अनित्यदर्शनाच्च" (वेदों में अनित्य पदार्थों के दर्शन से अनित्यत्व सिद्ध होता है) दूसरा हेतु प्रदर्शित किया। उसका यह अर्थ है—"बबरः प्रावाहणिरकामयत" इत्यादि मन्त्रों में बबर आदि अनित्य पदार्थों का वर्णन है। अतः यह मन्त्र इस पुरुष के पहले नहीं था और इसके जन्म लेने के पश्चात् किसी व्यक्ति ने इसे लिखा होगा। अतः वेद पौरुषेय है, अपौरुषेय नहीं। जैमिनि ने इस शङ्का के समाधान के लिये "परंतु श्रुति सामान्यमात्रम्" सूत्र बनाया। उसका यह अर्थ है—वेदों में जो काठक आदि समाख्या (नाम) की उपलब्धि होती है, उसमें प्रवचनमात्र ही निमित्त (कारण) है। कठ आदि ऋषियों ने जिन

शाखाओं का प्रवचन किया, उस शाखा का काठक आदि नाम पड़ गया, इन्होंने उन मन्त्रों को लिखा नहीं। इसलिये उन समाख्याओं के आधार पर वेदों को पौरुषेय नहीं सिद्ध किया जा सकता। ववर आदि अनित्य पदार्थों का वर्णन होने से वेदों की अनित्यता सिद्ध की गयी है। यह भी समुचित नहीं है; क्योंकि ववर आदि केवल शब्दों की समानतामात्र हैं। ववर नाम का कोई अनित्य पुरुष विवक्षित नहीं है; अपितु ववर शब्द का अनुकरणमात्र है। उस शब्द का अनुकरण मान लेने पर ववर शब्द से 'बबर' ऐसा शब्द करने वाला वायु अभिहित है और वह प्रावाहणि अर्थात् विशेष रूप से वहन शील है। अतः इन स्थलों में ववर आदि अनित्य पदार्थों का वर्णन न होने से वेदों की अपौरुषेयता सुरक्षित रहती है। मन्त्रों में जहाँ-कहीं भी इस प्रकार के अनित्यत्व की शङ्का हो, वहाँ इसी तरह का अर्थ करना चाहिए। इस प्रकार मन्त्रों में कोई दोष न होने के कारण उनका अर्थ विवक्षित है और अर्थ-बोध कराने के लिये ही याग आदि अनुष्ठानों में उनका प्रयोग किया जाता है।

ननु अर्थप्रकाशनार्थत्वे सति दृष्टं प्रयोजनं लभ्यत इति युक्तिमात्रमिदमुच्यते; न तु एतदुपोद्बलकं किञ्चिच्छ्रौतं लिङ्गं पश्याम इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्' (जै० १।२।५१) इति।

'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठते' इति श्रूयते। तस्यायमर्थः—अग्निर्देवता यस्या ऋचः सेयम् आग्नेयी, तया आग्नीध्रस्थापनमुपतिष्ठत इति। अत्र हि उपस्थानमुपदिशद् ब्राह्मणम् 'अग्ने नय' (ऋ० सं० १।१८९।१) इत्यनया 'उपतिष्ठते' इति मन्त्रप्रतीकं पठित्वा नोपदिशति, किन्तु आग्नेयीत्वलिङ्गेन उपदिशति। यदा यस्यामृचि अग्निः प्राधान्येन प्रतिपाद्यते, तदा तस्या ऋचोऽग्निर्देवता भवति। तथा सति आग्नेय्या इति देवतावाचितद्धितान्तनिर्देश उपपद्यते। तस्मादयमुपदेशस्तन्मन्त्रवाक्यार्थवदिति बोधयति। अतो विवक्षितार्थत्वादर्थप्रत्यायनार्थं प्रयोगकाले मन्त्रोच्चारणम्।

मन्त्रों का अर्थ-ज्ञान रूप दृष्ट ही प्रयोजन है—यह केवल युक्तिमात्र है अर्थात् केवल तर्कों के आधार पर उनका अर्थवत्त्व सिद्ध किया जा सकता है; किन्तु

इसका प्रमापक कोई श्रौत (श्रुतिप्रतिपादित) हेतु नहीं है—इस शङ्का का समाधान देते हैं कि श्रौत लिङ्ग के द्वारा उपदेश किया गया है, अतः मन्त्र अर्थवान् ही माना जायेगा। उसका अर्थ विवक्षित ही है, अविवक्षित नहीं; क्योंकि अर्थ-ज्ञान न होने पर उपदेश ही निष्प्रयोजन हो जायेगा।

उदाहरण :—"आग्नेय्या" इत्यादि ब्राह्मण-वाक्य है। उसका यह अर्थ है-- जिस ऋचा की देवता अग्नि है, वह ऋचा आग्नेयी कहलाती है इसी ऋचा के द्वारा आग्नीध्र स्थान का उपस्थान करे। इसमें ब्राह्मण ग्रन्थ उपस्थान का उपदेश करते हुए 'अग्ने नय' इसके द्वारा 'उपतिष्ठते' इस मन्त्र-प्रतीक को पढ़कर उपदेश नहीं करता है, अपितु आग्नेयीत्व रूप लिङ्ग के द्वारा ही उपदेश करता है। जब ऋचा में प्रधान रूप से अग्नि का प्रतिपादन किया जाता है, तब उस ऋचा का देवता अग्नि होता है। इसी प्रकार 'आग्नेय्या' यह देवता अर्थ में विहित तद्धितप्रत्ययान्त निर्देश उपपन्न होता है। इसलिए यह उपदेश 'वे सभी मन्त्र-वाक्य अर्थवान् है'— ऐसा बोध कराता है। अतः मन्त्रों का अर्थ विवक्षित होने के कारण यज्ञादि के अनुष्ठान के समय अर्थबोध कराने के लिए ही मन्त्रों का उच्चारण सिद्ध होता है।

तस्मिन्नेव विवक्षितार्थत्वे लिङ्गान्तरं सूत्रयति--

'ऊहः' (जै० १।२।५२) इति।

प्रकृतावाम्नातस्य मन्त्रस्य विकृतौ समवेतार्थत्वाय तदुचितपदान्तरस्य प्रक्षेपेण पाठ ऊहः। तद्यथा—'अन्वेनं माता मन्यतामनु पितानु भ्राता' (तै० ब्रा० ३।६।६।१) इति प्राकृतः पशुविषयो मन्त्रपाठः (मै० सं० ४।१३।४)। तस्य च मन्त्रस्य विकृतौ पशुद्वये सति 'अन्वेनौ माता मन्यताम्' इत्यूहः। पशुबहुत्वे सति 'अन्वेनान् माता मन्यताम्' इत्यूहः कर्त्तव्यः। एतन्मन्त्रव्याख्यानरूपं ब्राह्मणमेवमाम्नायते—'न माता वर्द्धते न पिता' इति। तत्रेदं चिन्तनीयम्, किमत्र शरीरवृद्धिर्निषिध्यते, आहोस्विच्छब्द-वृद्धिरिति एकवचनान्तस्य मातृशब्दस्य मातराविति द्विवचनान्तत्वेन वा, मातर इति बहुवचनान्तत्वेन वा प्रयोगः शब्दवृद्धिः। तत्र न तावच्छरीर-वृद्धिर्निषेद्धुं शक्यते, बाल्यकौमारयौवनादिवयोऽनुसारेण तद्वृद्धेः प्रत्यक्षत्वात्।

अतः शब्दवृद्धिनिषेध एव परिशिष्यते। मातृशब्दपितृशब्दयोर्विशेषाकारेण वृद्धिनिषेधात् इतरस्य एनमिति शब्दस्य अर्थानुसारिणी वृद्धिः सूचिता भवति। तत्र यद्यर्थो न विवक्ष्येत, तदा पशुद्वित्वे द्विवचनं पशुवहुत्वे वहुवचनं च कथमूह्येत ? तस्मात् विवक्षितार्था मन्त्राः।

जैमिनि मन्त्रों की विवक्षितार्थता में ही दूसरा हेतु प्रस्तुत करते हैं—

प्रकरण के अनुसार पुरुष, लिंग तथा वचन आदि का आवापोद्वाप करना ही ऊह है। विकृति में ऊह करने के कारण मन्त्रों की अर्थविवक्षा सिद्ध होती है। प्रकृति में श्रुत मन्त्रों का विकृति में समन्वय-सम्पादन के लिए प्रकरण के अनुसार समुचित पदान्तर (भिन्न पद) का प्रक्षेप करके पाठ करना ही ऊह है।

उदाहरण :—'अन्वेनं माता मन्यताम्०' इत्यादि। प्रकृति याग में पशु को उद्देश्य करके यह मन्त्र पढ़ा गया है। पशु के विषय में कहा गया कि इसी को माता, पिता तथा भ्राता मानो। प्रकृति याग में पशु की संख्या एक है। इसलिए 'एनम्' इस एकवचनान्त पद का प्रयोग किया गया है। जब विकृति याग में पशुओं की संख्या दो हो जाती है, तब एकवचनान्त पद के स्थान पर 'एनौ' यह द्विवचनान्त पद का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार अनेक पशु हो जाने पर 'एनौ' का भी परित्याग करके 'एनान्' यह वहुवचनान्त प्रयोग करना पड़ता है। आवश्यकता के अनुसार पूर्व-प्रयुक्त पद को हटा करके दूसरे पद का प्रयोग ही ऊह वतलाया गया है। यही ऊह है। इस मन्त्र के व्याख्यान रूप ब्राह्मण ग्रन्थ इस प्रकार श्रुत हैं—'न माता वर्द्धते न पिता' अर्थात् न माता की वृद्धि होती है, न पिता की। इस प्रसंग में यह वात विचारणीय है कि यहाँ शरीर की वृद्धि का निषेध है या शब्द की वृद्धि का। एकवचनान्त मातृशब्द का 'मातरौ' यह द्विवचनान्त रूप से या 'मातरः' यह बहुवचनान्त रूप से प्रयोग करना ही शब्द की वृद्धि है।

शब्द-वृद्धि और शरीर-वृद्धि में शरीर-वृद्धि का निषेध नहीं किया जा सकता; क्योंकि बाल्य, कौमार तथा यौवनादि अवस्थाओं के अनुसार शरीर की वृद्धि

प्रत्यक्ष सिद्ध है। शरीर का यह स्वाभाविक धर्म है। इसको रोका नहीं जा सकता है। अतः शरीर-वृद्धि का निषेध सम्भव नहीं है। अब शब्द-वृद्धि का निषेध ही अवशिष्ट है। विशेष रूप से मातृशब्द तथा पितृशब्द की वृद्धि का निषेध किया गया है। इसलिए उससे भिन्न 'एनम्' इस शब्द की अर्थ के अनुसार वृद्धि सूचित होती है। यदि मन्त्रों की अर्थ-विवक्षा न मानी जाय, तब दो पशुओं का बोध कराने के लिए द्विवचन और अनेक पशुओं का बोध कराने के लिए बहुवचन का ऊह कैसे हो सकेगा अर्थात् अर्थ-विवक्षा के अभाव में ऊह सम्भव नहीं है। इसलिए मन्त्रों की अर्थ-विवक्षा अवश्य ही माननी चाहिए।

तस्मिन्नेवाऽर्थे लिङ्गान्तरं सूत्रयति—

'विधिशब्दाच्च' (जै० १।२।५३) इति।

मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्द इत्युच्यते। स चैवमाम्नायते—'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यासः स्म इत्येव एतदाह' (श० ब्रा० २।३।४।२१) इति। तत्र 'शतं हिमा' इत्येतद् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्, अवशिष्टन्तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम्। मन्त्रस्य अविवक्षितार्थत्वे तु किं नाम तात्पर्यं मन्त्रे व्याख्यायेत। तस्माद् विवक्षितार्था मन्त्राः प्रयोगकाले स्वार्थप्रकाशनायैव उच्चारयितव्याः।

मन्त्रों की विवक्षितार्थता में ही दूसरे हेतु को उपस्थित करते हैं— विधि शब्दों के द्वारा भी अर्थ-विवक्षा सिद्ध होती है। मन्त्रों की व्याख्या रूप ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों को विधि कहते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ में वह इस प्रकार श्रुत है—"शतं हिमाः" यह मन्त्र—"सौ वर्ष तक जीवित रहें"—यही अर्थ बतलाता है। इस ब्राह्मण में 'शतं हिमाः' व्याख्यानविषयीभूत मन्त्र का प्रतीकमात्र है और "शतं वर्षाणि०" इत्यादि उस मन्त्र के तात्पर्य का व्याख्यान किया गया है। यदि मन्त्रों की अर्थ-विवक्षा न मानी जाय, तो मन्त्रों का तात्पर्य-व्याख्यान कैसे सम्भव होगा अर्थात् तात्पर्य-व्याख्यान नहीं हो सकता। तात्पर्य-व्याख्यान न होने पर उसका प्रतिपादक ब्राह्मण-ग्रन्थ निष्प्रयोजन हो जायेगा। अतः मन्त्रों की अर्थ-विवक्षा माननी आवश्यक है और याग आदि के अनुष्ठान के समय अर्थ-बोध कराने के लिये ही उसका उच्चारण करना चाहिए।

तत्र संग्रहश्लोकौ—

मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः ।
यागेषूत पुरोडाशप्रथनादेश्च भासकाः ॥
ब्राह्मणेनाऽपि तद्भानान्मन्त्राः पुण्यैकहेतवः ।
न, तद्भानस्य दृष्टत्वाद् दृष्टं वरमदृष्टतः ॥
(जै० न्या० १/३/४) इति ।

उपर्युक्त संग्रहश्लोक जैमिनीयन्यायमाला से उद्धृत किये गये हैं । उस ग्रन्थ में श्लोकों के द्वारा ही अधिकरण-रचना की गयी है । अधिकरण में मुख्य रूप से पाँच अवयव (विचार के अङ्ग) पाये जाते हैं—विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त तथा निर्णय । कुछ लोग निर्णय को सिद्धान्त के अन्तर्गत मानकर उसके स्थान पर सङ्गति को स्वीकार करते हैं । इसी क्रम से ऊपर के श्लोकों में विचार प्रस्तुत किया गया है ।

"उरु प्रथस्व" इत्यादि मन्त्र-वाक्य इस अधिकरण के विषय हैं । याग आदि अनुष्ठानों में इनका प्रयोग केवल (अदृष्ट) पुण्य के लिये होता है अथवा पुरोडाश-प्रथन आदि अर्थ का बोध कराने के लिये है—यही संशय है ।

पूर्वपक्ष :— मन्त्र से ज्ञात पुरोडाश-प्रथन आदि अर्थ का ज्ञान ब्राह्मण-वाक्य से भी हो जाता है । अतः मन्त्रों का प्रयोग केवल पुण्य के लिये है, अर्थ-बोध के लिये नहीं । सिद्धान्त :—अनुष्ठान के समय मन्त्रों का प्रयोग केवल पुण्य के लिये नहीं है, अपितु अर्थ-ज्ञान के लिये है; क्योंकि अर्थ-ज्ञान दृष्ट प्रयोजन है । दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजनों में अदृष्ट की अपेक्षा दृष्ट प्रयोजन को श्रेष्ठ माना जाता है । कहा भी है— "लभ्यमाने फले दृष्टे नाऽदृष्ट परिकल्पना" इत्यादि ।

अतः मन्त्रों के उच्चारण का दृष्ट प्रयोजन प्राप्त होने पर केवल अदृष्ट फल नहीं माना जा सकता । इसलिए मन्त्र विवक्षितार्थक हैं, यह निर्णय होता है ।

ब्राह्मणभागप्रामाण्यनिरूपणम् ।

ननु अस्तु मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम्; ब्राह्मणभागस्य तु न तद् युज्यते ।।

तथा हि, द्विविधं ब्राह्मणम्—विधिरर्थवादश्चेति । तथा चाऽपस्तम्वः— कर्मचोदना ब्राह्मणानि, ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः' (आप० परि० ३४-३५) इति विधिरपि द्विविधः—अप्रवृत्तप्रवर्त्तनमज्ञातार्थज्ञापनञ्चेति । 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्' (ऐ० ब्रा० १-१) इत्याद्याः कर्मकाण्डगत विधयोऽप्रवृत्तप्रवर्त्तकाः । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० आ० २/४/१) इत्यादयो ब्रह्मकाण्डगता अज्ञातज्ञापकाः । तत्र कर्मकाण्ड-गतानां 'जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा' (तै० सं० ५/४/३/२) इत्यादिविधीनां नास्ति प्रामाण्यम् ; प्रवृत्त्ययोग्यद्रव्यविधानेन सम्यगनुभवसाधनत्वाभावात् । अयोग्यत्वञ्च वाक्यशेषे समाम्नातम्— 'अनाहुतिर्वै जर्त्तिलाश्च गवीधुकाश्च (तै० सं० ५/४/३/२) इति । तत्र हि आरण्यतिलानां आरण्यगोधूमानां च आहुतिद्रव्यत्वं निषिद्धम् । तस्माद् वाधितो जर्त्तिलादिविधिरप्रमाणम् । एवमैतरेयतैत्तिरीयादिब्राह्मणेषु 'तत्तन्नादृत्यम्' (ऐ० ब्रा० २।२३), 'तत्तथा न कार्यम्' (तै० ब्रा० १।१।८।६) इति वाक्याभ्यां वहवो विधयो निषिद्धाः ।

पहले ही कहा जा चुका है कि मन्त्र और ब्राह्मण के समुदाय को वेद कहते हैं। उनमें मन्त्रों के प्रामाण्य का प्रतिपादन किया गया । अब पूर्वपक्षी का कहना है कि मन्त्रभाग का प्रामाण्य भले ही मान लिया जाय; किन्तु ब्राह्मण भाग के प्रामाण्य को मानना समुचित नहीं है । जैसे, ब्राह्मण दो प्रकार के होते हैं—विधि और अर्थवाद । आपस्तम्ब ने भी कहा है—याग आदि कर्मों के प्रति प्रेरित करने वाले वाक्य ब्राह्मण (विधि) कहलाते हैं और उसका (ब्राह्मण का) शेष (उपकारक) अर्थवाद कहलाता है । शवरस्वामी ने भी कहा है कि क्रिया के प्रवर्त्तक वाक्य को चोदना कहते हैं तथा वार्त्तिककार ने चोदना, उपदेश और विधि को एकार्थवाचक माना है । अर्थवाद-वाक्य विधि के स्तावक होने के कारण शेष (अवयव) कहलाते हैं । विधि भी दो प्रकार के है—अप्रवृत्तप्रवर्त्तनरूप और अज्ञातार्थज्ञापनरूप । याग आदि कर्मों के प्रति अप्रवृत्त पुरुष को प्रवृत्त कराने वाली विधियाँ अप्रवृत्तप्रर्त्तन रूप मानी जातीं हैं । उदाहरण :—अग्नि और विष्णु देवता को उद्देश्य करके पुरोडाश

(हविः) का निर्वाप करे—इत्यादि कर्मकाण्ड में विहित विधियाँ अप्रवृत्तप्रवर्तक रुप हैं। पहले से अज्ञात पदार्थ का ज्ञापन (बोध) करानेवाली विधियाँ अज्ञातार्थज्ञापनरुप कहलातीं हैं। उदाहरण :—'सृष्टि के प्रारम्भ में केवल यह आत्मा ही था' इत्यादि ब्रह्मकाण्ड-प्रतिपादित विधियाँ अज्ञातज्ञापक रुप मानी जातीं हैं। कर्मकाण्ड भाग में विहित "जर्त्तिल के यवागू से होम करे या गवीधुक के यवागू से" इत्यादि विधियों का प्रामाण्य नहीं हो सकता; क्योंकि प्रवृत्ति के अयोग्य द्रव्य का विधान करने से सम्यक् अनुभव का साधन नहीं हो सकता। सम्यक् अनुभव के साधन को ही प्रमाण कहा जाता है। उनकी कर्मसम्बन्धी अयोग्यता अर्थवाद वाक्य में श्रुत है—जर्त्तिल और गवीधुक अनाहुति अर्थात् आहुति के अयोग्य द्रव्य हैं। इस वाक्य के द्वारा जङ्गल में उत्पन्न होने वाले तिल और गोधूम (गेहूँ) का आहुति-द्रव्यत्व निषिद्ध है। इसलिये होम के लिये जर्त्तिल या गवीधुक का विधान करने वाली विधियाँ प्रमाण नहीं हो सकतीं। वन में स्वतः उत्पन्न होने वाले तिल और गोधूम क्रमशः जर्त्तिल और गवीधुक कहलाते हैं। इसी प्रकार ऐतरेय तथा तैत्तिरीय आदि ब्राह्मणों में—'वे वे विधियाँ आदरणीय अर्थात् अनुष्ठान के योग्य नहीं हैं।' 'उस विधि को उस प्रकार से नहीं करना चाहिए' इत्यादि वाक्यों से अनेक विधियाँ निषिद्ध हैं।

अपि च ऐतरेयब्राह्मणेऽनुदितहोमं बहुधा निन्दित्वा—'तस्मादुदिते होतव्यम्' (ऐ० ब्रा० ५।३१) इति असकृद् निगदितम्। तैत्तिरीयाश्च तथैव आमनन्ति—'यदनुदिते सूर्य्ये प्रातर्जुहुयाद् उभयमेवाग्नेयं स्यादुदिते सूर्य्ये प्रातर्जुहोति' (तै० ब्रा० २।१।२।७) इति। पुनरपि त एव उदित-होमे दोषमामनन्ति—'यदुदिते सूर्य्ये प्रातर्जुहुयाद्, यथा अतिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथायाहार्य्यं हरन्ति। तादृगेव तद्' (तै० ब्रा० २।१।२।१२) इति। तथैव 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति विधिः 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति निषेधेन बाध्यते। ज्योतिष्टोमादिषु अपि अनुष्ठानानन्तरमेव स्वर्गादिफलं नोपलभ्यते। न हि भोजनानन्तरं तृप्तेरनु-पलम्भोऽस्ति। तस्मात् कर्मविधिषु प्रामाण्यं दुःसम्पादम्।

ऐतरेय ब्राह्मण में अनुदित होम का अनेक प्रकार से निन्दा करके फिर यह अनेक बार कहा गया कि 'सूर्य के उदय होने के पश्चात् होम करना चाहिए'। इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी कहा है कि 'जो प्रातःकालीन होम सूर्य के उदय होने के पहले अनुष्ठित हो चुका' वे दोनों अर्थात् सायंकालीन और प्रातःकालीन होम अग्निदेवताक ही हो जाते हैं। अतः 'सूर्य के उदय होने के पश्चात् प्रातःकालीन होम करे।' पुनः वे ही उदित होम में दोष बतलाते हैं—'सूर्य के उदय होने पर जो प्रातःकालीन होम किया जाता है'—वह निष्फल है। जिस प्रकार घर में अतिथि के आने पर स्वागत न किया गया और उसके चले जाने पर अतिथि से रहित गृह के लिए स्वागत-सामग्री प्रस्तुत करना व्यर्थ होता है, उसी प्रकार सूर्य के उदय के पश्चात् अनुष्ठित होनेवाला होम भी व्यर्थ है। इसी प्रकार 'अतिरात्र नामक याग में षोडशिनामक ग्रह (पात्र) का ग्रहण करे' यह विधि 'अतिरात्र याग में षोडशी का ग्रहण न करे' इस निषेध से बाधित है। ज्योतिष्टोमादि में भी स्वर्गादिफल का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु उसके अनुष्ठान के पश्चात् स्वर्गादि की उपलब्धि नहीं होती है। इसलिये उसका फलप्रतिपादन भी निरर्थक है। भोजन के पश्चात् तृप्ति की अनुपलब्धि कभी नहीं होती। अतः कर्मों के प्रतिपादक विधियों का प्रामाण्य-सम्पादन नहीं किया जा सकता।

अज्ञातज्ञापकेषु ब्रह्मविधिष्वपि परस्परविरोधान्नास्ति प्रामाण्यम्—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इति ऐतरेयिण आमनन्ति (ऐ० उ० १।१)। 'असद्वा इदमग्र आसीद्' (तै०आ० ८।७) इति तैत्तिरीयाः। सोऽयं विरोधः। तस्माद् वेदे विधिभागः सर्वोऽप्यप्रमाणमिति प्राप्ते ब्रूमः—

अज्ञात पदार्थों के ज्ञापक (बोधक) ब्रह्म के प्रतिपादक विधियों में भी परस्पर विरोध होने के कारण उनका प्रामाण्य नहीं हो सकता है। जैसे—ऐतरेय-शाखाध्यायी कहते हैं कि 'सृष्टि के प्रारम्भ में यह एक आत्मा ही था' और तैत्तिरीय लोग कहते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में असत् अर्थात् कुछ नहीं था।' यही दोनों का परस्पर विरोध है। प्रमत्त के समान विरुद्धार्थ-प्रतिपादक प्रमाण नहीं हो सकता। अतः वेद के सम्पूर्ण विधिभाग अप्रमाण है—यह पूर्वपक्ष हुआ।

अस्तु एवं जर्त्तिलादिविधेरप्रामाण्यम्, तदर्थस्य अननुष्ठेयत्वात्। अनुष्ठेयस्तु अर्थ उपरितने 'अजाक्षीरेण जुहोति' (तै० सं० ५।४।३।२) इति वाक्ये विधीयते। तत्प्रशंसार्थमत्र जर्त्तिलादिकमनूद्य निन्द्यते। यथा गवामश्वानां च प्रशंसार्थम्, अपशवो वाऽन्ये गो अश्वेभ्यः' (तै० सं० ५।२।९।४) इति वाक्येन अर्थवादरूपेण अजादीनां पशुत्वं निन्द्यते, तद्वत्। एवं तर्हि अजादेर्यथा वस्तुतः पशुत्वमस्ति तथा जर्त्तिलादिविधिरत्र निन्द्यमानोऽपि क्वचिच्छाखान्तरे भवेदिति चेत्? भवतु नाम, प्रामाण्यमपि तच्छाखाध्यायिनं प्रति भविष्यति। यथा गृहस्थाश्रमे निषिद्धमपि परान्नभोजनमाश्रमान्तरेषु प्रामाणिकं तद्वत्। अनेन न्यायेन सर्वत्र परस्परविरुद्धौ विधिनिषेधौ पुरुषभेदेन व्यवस्थापनीयौ। यथा मन्त्रेषु पाठभेदः शाखाभेदेन व्यवस्थितस्तद्वत्। तैत्तिरीयाः 'वायवः स्थोपायवः स्थ' (तै० सं० १।१।१) इति मन्त्रमामनन्ति। वाजसनेयिनस्तु 'उपायवः स्थ' इत्येतं भागं नामनन्ति (वा० सं० १।१)। प्रत्युत शतपथब्राह्मणे स भागोऽनूद्य निराकृतः (श० ब्रा० १।७।१।३)।

जर्त्तिल आदि के विधायक विधियों को अप्रमाण होने पर भी कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि उन विधियों से विहित पदार्थ याग आदि के अनुष्ठान के योग्य नहीं है। अनुष्ठान के योग्य पदार्थ का 'अजा (बकरी) के क्षीर (दूध) से होम करे' इस वाक्य से पहले ही विधान कर दिया गया है। अनुष्ठेय पदार्थों की प्रशंसा के लिये जर्त्तिलादि का अनुवाद करके उसकी निन्दा की गयी है। कहा भी है—'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवृत्ताऽपि तु विधेयं स्तोतुम्' अर्थात् निन्दा के योग्य पदार्थों की निन्दा के लिये निन्दा की प्रवृत्ति नहीं होती, अपितु विधान के योग्य पदार्थों की प्रशंसा के लिये ही उसकी प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार गौ तथा अश्व की प्रशंसा के लिये कहा गया कि गौ और अश्व से भिन्न पशु पशु नहीं है। इस अर्थवाद वाक्य के द्वारा अजा आदि में रहने वाली पशुता की निन्दा की गयी है। अजा आदि को पशु होने के कारण मुख्य पशुत्व का बाध सम्भव नहीं है। इसलिये यागविशेष के प्रति उसकी अनुष्ठेयता का निवारण मात्र किया गया है। उसी प्रकार जर्त्तिलादि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

शङ्का—पूर्वोक्त प्रकार से निन्दा श्रुत होने पर और अजा आदि में रहने वाली मुख्य पशुता के समान जर्त्तिलादि विधियों की निन्दा होने पर भी किसी अन्य शाखा में उसकी प्रामाणिकता मान ली जाय, तो क्या आपत्ति है? अभिप्राय यह है कि पशुत्व की निन्दा होने पर भी वास्तविक पशुत्व का बाध नहीं होता, उसी प्रकार उन विधियों की निन्दा श्रुत होने पर भी उसके विधित्व का विनाश नहीं होगा।

समाधान—इन विधियों को दूसरे शाखाओं में रहने पर भी कोई दोष नहीं है; क्योंकि उस शाखा को पढ़ने वाले पुरुषों के प्रति ही उन विधियों की प्रामाणिकता भी होगी, अन्य शाखाओं के पढ़ने वालों के प्रति नहीं। जैसे—गृहस्थाश्रम में दूसरे का अन्न खाना निषिद्ध है तथापि सन्यास आदि दूसरे आश्रमों में प्रामाणिक माना जाता है; उसी प्रकार शाखाभेद के आधार पर प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की व्यवस्था समझनी चाहिए। इसी न्याय से सभी परस्पर विरुद्ध विधि तथा निषेध स्थलों में पुरुष भेद से व्यवस्था- सम्पादन करना चाहिए। जैसे मन्त्रों के विषय में शाखा के भेद से पाठ का भेद व्यवस्थित किया जाता है, उसी प्रकार पुरुष के भेद से परस्पर के विरोध का परिहार करना चाहिए।

उदाहरण—तैत्तिरीय शाखा का अध्ययन करने वाले 'वायवः स्थोपायवः स्थ' ऐसा मन्त्र-पाठ मानते हैं। वाजसनेयी शाखा को पढ़ने वाले वैदिक 'उपायवः स्थ' इतने भाग को नहीं मानते हैं. अपितु शतपथ-ब्राह्मण में इतने भाग का अनुवाद करके निराकरण कर दिया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि विधि तथा निषेध की व्यवस्था भी पुरुष के भेद से व्यवस्थित मानना चाहिए।

तथा सूक्तवाकमन्त्रे शाखान्तरपाठं निराकृत्य पाठान्तरं तैत्तिरीया आमनन्ति—'यद् ब्रूयात् सूपावसाना च स्वध्यवसाना चेति प्रमायुको यजमानः स्यात्' (तै० सं० २।६।९।६) इति निराकरणम्। 'सूपचरणा च स्वधिचरणा चेत्येव ब्रूयाद्' इति पाठान्तरोपदेशः। तत्र अनुष्ठातृपुरुषभेदेन व्यवस्था। तद्वद् विधिषु द्रष्टव्यम्। षोडशिग्रहणादिदूषणं तु अश्रुत मीमांसावृत्तान्तस्य तवैव शोभते। पूर्वमीमांसायां दशमाध्यायस्य अष्टम-

पादे षोडशिनो ग्रहणाग्रहणविकल्पो निर्णीतः (जै० सू० १०।८।५)। द्वितीयस्य अध्यायस्य प्रथमपादे कालान्तरभाविफलसिद्ध्यर्थमपूर्वं निर्णीतम् (जै० सू० २।१।५)। तद्वद् उत्तरमीमांसायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थे पादे 'कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः' (ब्र० सू० १।४।१४) इत्यस्मिन् सूत्रे जगत्कारणे परमात्मनि श्रुतिविप्रतिपत्तिर्निराकृता। द्वितीयाध्यायस्य प्रथमे पादे आरम्भणाधिकरणे तु (असद्व्यपदेशान्नेति चेन्, न, धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्' (ब्र० सू० २।१।१७) इति सूत्रे तैत्तिरीयवाक्यगतस्य असच्छब्दस्य न शून्यपरत्वं किन्तु अव्यक्तावस्थापरत्वमिति निर्णीतम्। तथा जैमिनिश्चोदनासूत्रे (जै० १।१।२) विधिवाक्यं धर्मे प्रमाणमिति प्रतिज्ञाय औत्पत्तिकसूत्रे (जै० १।१।५) तत्प्रामाण्यं समर्थयामास। व्यासोऽपि 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति सूत्रे वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यं प्रतिज्ञाय 'तत्तु समन्वयात्' इत्यादिसूत्रैः समर्थयामास। तस्मान् अमीमांसकस्य तव पूर्वोक्तस्थाण्वन्धन्यायो दुष्परिहरः। अतो विधिभागस्य प्रामाण्यं सुस्थितम्।

इसी प्रकार सूक्तवाक मन्त्र में तैत्तिरीय शाखा को अध्ययन करने वाले शाखान्तर पाठ का निराकरण करके भिन्न पाठ मानते हैं। उदाहरण :—'यद् ब्रूयात्०' इत्यादि मन्त्र में सूपावसाना और स्वध्यवसाना शब्द का प्रयोग करने वाला यजमान मृत्युयुक्त होगा। इसलिये इन दोनों शब्दों का निराकरण करके उसके स्थान पर सूपचरणा और स्वधिचरणा शब्द के उच्चारण का उपदेश दिया। इस पाठान्तर उपदेश का अनुष्ठान करने वाले पुरुषों के भेद से व्यवस्था मानी जाती है। इसलिए किसी एक पाठ में अप्रामाणिकता का सन्देह नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य विधि-वाक्यों में पुरुष भेद से व्यवस्था माननी चाहिए। अतिरात्र याग में षोडशि पात्र का ग्रहण करना चाहिए या नहीं करना चाहिए—इस विरोध का उपस्थापन भी समुचित नहीं है; क्योंकि आप (पूर्वपक्षी) के समान जो मीमांसादर्शन का श्रवण नहीं किये हैं, उन्हीं लोगों के लिए यह शोभा की बात है, जो मीमांसादर्शन का श्रवण कर चुका है, उसके लिये नहीं। विधायक और निषेधक दोनों वैदिक वाक्य हैं। इसलिये किसी की अप्रामाणिकता

सम्भव नहीं है। अतः उस स्थल में विकल्प माना जाता है। पूर्वमीमांसा के दशम अध्याय के अष्टमपाद में षोडशी के ग्रहण तथा अग्रहण के विधायक वाक्यों से विकल्प का निर्णय किया गया है। जो पुरुष इस निर्णय को नहीं जानता है, उसी को सन्देह हो सकता है, दूसरे को नहीं। स्वर्ग आदि को उद्देश्य करके याग का विधान किया गया है। देवता को उद्देश्य करके द्रव्य का परित्याग ही याग कहलाता है। अग्नि में हवि द्रव्य का प्रक्षेप करने पर शीघ्र ही भस्मीभूत हो जाता है और स्वर्गादि फल की प्राप्ति नहीं देखी जाती है। यदि कहा जाय कि यजमान के मरने के पश्चात् फल मिलेगा। यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जब याग रूप कारण है, तब स्वर्ग रूप कार्य नहीं हो रहा है और जिस समय कार्य (फल) होगा, उस समय कारण का अभाव रहेगा। अतः याग और स्वर्ग का परस्पर कार्यकारणभाव सम्पन्न नहीं हो सकता—इस शङ्का के समाधान के लिए जैमिनि ने द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में कालान्तर में उत्पन्न होने वाले स्वर्गादि फलों की सिद्धि के लिये अपूर्व का निश्चय किया है। यही अपूर्व कारण और कार्य के मध्य की अवधि को पूर्ण करने वाला व्यापार होता है। इसलिये फलोत्पत्ति के समय कारण के न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति में कोई दोष नहीं होता। वह अपूर्व यागजन्य तथा याग-जन्य स्वर्गादि का जनक भी है। इसीलिये उसमें व्यापारत्व रहता है। उसी तरह उत्तरमीमांसा (वेदान्त) के प्रथम अध्याय के चौथे पाद में 'कारणत्वेन चाकाशादिषु' इत्यादि सूत्र में जगत् के कारण परमात्मा के सम्बन्ध में श्रुति-जनित अनेक प्रकार के संशयों का निराकरण किया किया गया है। द्वितीयाध्याय के प्रथम पाद के आरम्भणाधिकरण में 'असद्व्यपदेशात्' इत्यादि सूत्रों के द्वारा तैत्तिरीयोपनिषत्प्रतिपादित 'असत्' शब्द के शून्यपरत्व का निराकरण करके अव्यक्तावस्था-वाचकत्व का निश्चय किया है। इसी प्रकार जैमिनि ने भी चोदना सूत्र में विधि वाक्यों का धर्म के प्रति प्रामाण्य की प्रतिज्ञा करके औत्पत्तिक सूत्र में उसका समर्थन किया है। वेदान्त-सूत्र के रचयिता व्यास ने भी 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र में सभी वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म के प्रतिपादन में तात्पर्य है और उसी ब्रह्म रूप अर्थ में उन वाक्यों का प्रामाण्य है—ऐसी प्रतिज्ञा करके 'तत्तु समन्वयात्' इत्यादि सूत्रों से उसका समर्थन किया है। इन्हीं

कारणों से मीमांसा का ज्ञान न रहने वाले पूर्वपक्षी के सम्बन्ध में स्थाण्वन्ध-न्याय दुष्परिहर है अर्थात् उसका परिहार नहीं किया जा सकता है। स्थाणु को अन्धा पुरुष नहीं देख पाता, इसमें स्थाणु का दोष नहीं, अपितु पुरुष का ही अपराध माना जाता है। उसी तरह अनेक प्रकार से विधि भाग का प्रामाण्य सिद्ध किया है। यदि पूर्वपक्षी को उसका ज्ञान नहीं है तो विधि भाग का दोष नहीं है, किन्तु पूर्वपक्षी का ही दोष सिद्ध होता है। इस प्रकार विधि भाग का प्रामाण्य सुस्थिर हो जाता है। अतः उसके अप्रामाण्य की शङ्का ही समुचित नहीं है।

॥ अर्थवादानां प्रामाण्याप्रामाण्यविचारः ॥

अर्थवादभागस्य प्रामाण्यं महता प्रयत्नेन जैमिनिः समर्थयामास। तत्सूत्राणि व्याख्यास्यन्ते (जै० सू० १।२।१-१८)। तत्र पूर्वपक्षं सूत्रयति—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते (जै० १।२।१) इति। आम्नायस्य सर्व्वस्य क्रियाप्रतिपादनाय प्रवृत्तत्वाद् अक्रिया-प्रतिपादकानामर्थवादानां नास्ति कश्चिद् विवक्षितः स्वार्थः। ते च अर्थवादा एवमाम्नायन्ते—'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१।१)। 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' (तै० सं० २।१।१।४), 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन् (तै० सं० ६।१।५।१) इति।

यस्मादीदृशस्य वाक्यस्य विवक्षितोऽर्थः कश्चिदपि नास्ति, तस्मादिदं वाक्यमनित्यमुच्यते। यद्यपि अनादित्वात् स्वरूपेण अनित्यत्वं नास्ति, तथापि धर्मविवोधनलक्षणस्य नित्यकार्यस्य अभावाद् अनित्यैः काव्यालापैः समानत्वादप्रमाणमित्यर्थः।

वाक्यों के वर्गीकरण के अनुसार वेद को पाँच भागों में विभक्त किया गया है, जैसे—विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद। इनमें विधि और अर्थवाद ब्राह्मण के ही भेद हैं। इस ग्रन्थ में नामधेय और निषेध का विचार नहीं किया गया है। विधि और मन्त्र के प्रामाण्य का प्रतिपादन हो चुका है। अब अर्थवाद अवशिष्ट है। अर्थवाद भी वेद का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। इसके विना विधि भाग भी निष्प्रयोजन हो जायेगा। इसलिये जैमिनि ने अत्यधिक परिश्रम से अर्थवाद भाग

के प्रामाण्य का समर्थन किया है। इसके प्रामाण्य के लिये अनेक प्रमाण तथा युक्तियाँ उपस्थित की गयीं हैं। ग्रन्थकार जैमिनि के सूत्रों का निर्देश करते हुए उनकी व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। मीमांसा के अधिकरण-ग्रन्थों की शैली के अनुसार सर्वप्रथम पूर्वपक्ष समुपस्थित करते हैं—

आम्नाय = वेद। सम्पूर्ण वेद क्रिया का प्रतिपादक है। अतः जो भाग (अर्थवाद) क्रिया के प्रतिपादक नहीं हैं, वे निष्प्रयोजन हैं। अतएव वे अप्रामाणिक कहे जाते हैं। आनर्थक्य = निष्प्रयोजनत्व। अनित्य = अप्रामाणिक। यही सूत्रार्थ हुआ।

सम्पूर्ण वेद क्रिया के प्रतिपादन के लिये प्रवृत्त है! इसलिये क्रिया-प्रतिपादकता से रहित अर्थवादों का कोई अपना विशेष अर्थ विवक्षित नहीं है। वे अर्थवाद इस प्रकार सुने जाते हैं—'उसने रोदन किया, रोदन करने के कारण रुद्र कहलाये, यही रुद्र की रुद्रता हैं। 'वह अपने वपा का उद्खेदन किया अर्थात् बाहर निकला'। नाभि के समीप आमाशय को आच्छादित करके रहने वाला सूक्ष्म वस्त्राकार मांस विशेष कों वपा कहते हैं। देवता लोग देवयजन = यज्ञमण्डप को प्राप्त करके अर्थात् वहाँ पहुँच करके दिशाओं को भूल गये, दिशाओं को न जान सके। इस प्रकार के वाक्यों का कोई भी अर्थ विवक्षित नहीं हैं। इसलिए ये वाक्य अप्रमाणिक होंगे। अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त सभी वाक्य सिद्ध अर्थ के प्रतिपादक हैं। सिद्ध अर्थ के प्रतिपादक होने के कारण क्रिया के प्रतिपादक नहीं हो सकते। इसलिये इनकी प्रामाणिकता भी नहीं हो सकती। यद्यपि अर्थवाद वाक्य भी वेद के ही एक अङ्ग हैं। अतः अर्थवाद वाक्य भी वैदिक वाक्य हैं। वैदिक वाक्य होने के कारण वे स्वरूपतः अप्रामाणिक नहीं हो सकते; तथापि धर्मावबोधनरूप नित्य कार्य के प्रतिपादक न होने के कारण तथा अनित्य अर्थ के बोधक काव्य-ग्रन्थों के समान होने से अप्रामाणिक माने जाते हैं।

ननु उदाहृतानामर्थवादानामनुष्ठेये धर्मे प्रामाण्याभावेऽपि स्वार्थे प्रामाण्यमस्तु, तत्प्रत्यायकत्वेन स्वतः प्रामाण्यस्य अपवदितुमशक्यत्वात्

इत्याशङ्क्य अन्येषु केषुचिदर्थवादेषु मानान्तरविरोधदर्शनादप्रामाण्ये सति तद्दृष्टान्तेन सर्वेषामपि अर्थवादानामप्रामाण्यमित्यभिप्रेत्य सूत्रयति—

'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च' (जै० १।२।२) इति ।

शास्त्रविरोधो दृष्टविरोधः शास्त्रदृष्टविरोध इति त्रिविधो विरोधो अर्थवादेषु उपलभ्यते । तथा हि—'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाग्, इत्यत्र श्रूयमाणं मानसं चौर्य्यं वाचिकमनृतवदनञ्च प्रतिषेधशास्त्रेण विरुद्धम् । 'तस्माद् धूम एव अग्नेर्दिवा ददृशे नार्च्चिस्तस्मादर्च्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः' (तै० ब्रा० २।१।२) इत्यत्र दृष्टविरोधः; तथा 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' (मै० सं० १।४।११) इत्यत्रापि प्रत्यक्ष-विरोधः । 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिन् लोकेऽस्ति वा न वा' (तै० सं० ६।१।१।१) इत्यत्र शास्त्रदृष्टविरोधः । 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि शास्त्रे हि आमुष्मिकं फलं दृश्यते । तस्मान् विरोधात् अर्थवादानामप्रामाण्यम् ।

यदि कहा जाय, पूर्वोक्त अर्थवादों का अनुष्ठेय (अनुष्ठानविषयीभूत) धर्म में प्रामाण्य न रहने पर भी अपने अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण उस अर्थ के प्रति उसका प्रामाण्य अवश्य ही रहेगा । पद-जन्य पदार्थ-बोध ही शाब्द-बोध के प्रति कारण होता है और अर्थ-बोध कराकर ही पदादि सार्थक होते हैं । अर्थवादों में भी पद हैं और उनसे पदार्थों की उपस्थिति होती है । जब पदार्थ की उपस्थिति हो जाती है, तब क्रिया, कारकादि सम्बन्ध से शाब्दबोध होगा, उसको किसी प्रकार से अवरुद्ध नहीं किया जा सकता है । जब अर्थवाद क्रिया, कारकादि के सम्बन्ध से अर्थ का प्रतिपादन करेगा, तब उस अर्थ के बोधक होने के कारण वह स्वतः प्रमाण भी होगा । उसके स्वतः प्रामाण्य का किसी भी प्रकार से अपवाद (अपलाप) नहीं किया जा सकता । इस प्रकार की शङ्का उपस्थित करके अन्य कुछ अर्थवादों में भिन्न-भिन्न प्रमाणों के साथ विरोध प्रदर्शित होने के कारण अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है और उसी के दृष्टान्त से सभी अर्थवादों का अप्रामाण्य सिद्ध हो जायेगा—इसी अभिप्राय से जैमिनि ने सूत्र बनाया—"शास्त्र और दृष्ट के साथ विरोध होने के कारण अर्थवाद अप्रामाणिक होते हैं" । अर्थ-

वादों के विषय में तीन प्रकार के विरोध उपलब्ध होते हैं—१. शास्त्र के साथ विरोध २. दृष्ट (प्रत्यक्ष) के साथ विरोध ३. शास्त्रदृष्ट के साथ विरोध।

उदाहरण—सुना जाता है कि मन चोर है और वाणी मिथ्याभाषणशील है। इसमें प्रतिपादित मन-सम्बन्धी चौर्य और वाणी-सम्बन्धी मिथ्याभाषणशीलता 'चौर्यं न कर्त्तव्यम्' 'नानृतं वदेत्' इत्यादि निषेध शास्त्रों के विरुद्ध हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया कि दिन में अग्नि का धूम ही दिखलाई पड़ता है, ज्वाला नहीं। रात्रि में अग्नि की ज्वाला ही दिखलाई पड़ती है, धूम नहीं। यहाँ पर प्रत्यक्ष के साथ विरोध है; क्योंकि दिन तथा रात्रि में भी ज्वाला और धूम दोनों देखे जाते हैं। इसी प्रकार मैत्रायणी-संहिता में कहा गया है कि हमलोग यह नहीं जानते हैं कि ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण। यह ब्राह्मणत्व आदि भी प्रत्यक्ष है। सब लोग अपने सम्बन्ध में जानता है कि हम ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण। अतः इसमें भी प्रत्यक्ष-विरोध है। तैत्तिरीय संहिता में कहा है कि यह कौन जानता है कि यह लोक (परलोक) है या नहीं। इसमें शास्त्रदृष्ट अर्थ के साथ विरोध है; क्योंकि 'स्वर्ग की कामना से याग करें, इत्यादि शास्त्रों में पारलौकिक फल का प्रतिपादन देखा जाता है। जब परलोक ही नहीं है, तब पारलौकिक फल कैसे हो सकता है ? अतः शास्त्रों के द्वारा दृष्ट स्वर्गादि के साथ विरोध होता है। इसलिये इन विरोधों के कारण अर्थवादों की प्रामाणिकता नहीं हो सकती।

ननु सोऽरोदीद्' इत्यादीनां निष्प्रयोजनत्वात् 'स्तेनं मनः' इत्यादीनाञ्च विरोधादप्रामाण्येऽपि फलप्रतिपादकानामर्थवादानां तदुभयवैलक्षण्यादस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'तथा फलाभावात्' जै० १।२।३) इति।

तथा मानान्तरविरुद्धमर्थवादैरुक्तं तथा फलमपि अविद्यमानमेव तैरुच्यते। तथा हि—गर्गत्रिरात्रं प्रकृत्य श्रूयते—'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' (ताण्ड्य ब्रा० २०।१६।६) इति, दर्शपूर्णमासयोर्वेदाभिमर्शनं प्रकृत्य श्रूयते—'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' (तै० सं० १।७।४।६) इति। न च वयं वेदितॄणां तत्फलमुपलभामहे।

यदि कहा जाय कि 'सोऽरोदीत्' इत्यादि अर्थवाद निष्प्रयोजन हैं और 'स्तेनं मनः' इत्यादि विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक हैं। इसलिये इन अर्थवादों की प्रामाणिकता न हो; तथापि फल के प्रतिपादक अर्थवादों को दोनों से विलक्षण (भिन्न) होने के कारण उनकी प्रामाणिकता मान ली जाय—इस शङ्का के समाधान के लिये उत्तर देते हैं—अर्थवादों में जिस प्रकार के फल का प्रतिपादन देखा जाता है, वैसा फल प्राप्त न होने से अर्थवादों का धर्माधर्म के प्रति प्रामाण्य नहीं हो सकता। जिस प्रकार अर्थवादों से प्रमाणान्तर-विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन है, उसी प्रकार अविद्यमान फल भी प्रतिपादित होता है। उदाहरण :—गर्गत्रिरात्र नाम के यज्ञ के प्रकरण में कहा गया है कि जो इस याग को जानता है, उसका मुख सुशोभित होता है; किन्तु शोभा रूप फल किसी को प्राप्त नहीं होता; अपितु उसके वार-वार अभ्यास करने से परिश्रम के कारण ज्ञान-काल में मुख-शोष प्राप्त होता है। इसी प्रकार वेदाभिमर्शन-प्रकरण में कहा गया कि जो इसको जानता है, उसकी सन्तति अन्न-सम्पन्न होती है। उन यागों के ज्ञान रखने वालों को इस तरह के फल की प्राप्ति नहीं देखी जाती है। इन फलों की उपलब्धि ज्ञान करने वालों को नहीं होती। अतः अर्थवाद-वाक्य धर्म आदि के प्रति प्रामाणिक नहीं हो सकते।

ननु ऐहिकफलवाक्यानां विसंवादादप्रामाण्येऽपि आमुष्मिकफलवाक्यानामस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अन्यानर्थक्यात्' (जै० १।२।४) इति।

एवं हि श्रूयते—'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति' (तै० ब्रा० ३।८।१०।५) 'पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानभिजयति; 'तरति मृत्युं, तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (तै० सं० ५।३।१२।२) तत्र अग्न्याधेयगतया पूर्णाहुत्या सर्वकामप्राप्तेरन्यानि अग्निहोत्रादीनि उत्तरकालीनानि अनर्थकानि स्युः। तथा निरूढपशुबन्धानुष्ठानेन सर्वलोकाभिजयात् ज्योतिष्टोमादीनामानर्थक्यम्। अध्ययनकालीनेनैव अश्वमेधवेदनेन ब्रह्महत्यादितरणात्तदनुष्ठानं च व्यर्थं स्यात्। तस्मादामुष्मिकफलवाक्यानामपि अप्रामाण्यम्।

शङ्का—ऐहलौकिक फलों के प्रतिपादक अर्थवाद-वाक्यों को परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक अथवा मिथ्या अर्थ के बोधक होने के कारण अप्रामाणिक मान लिया जा सकता है; परन्तु पारलौकिक फलों के प्रतिपादक वाक्यों की प्रामाणिकता स्वीकार करनी चाहिए।

इसका समाधान देते हैं कि अन्य कर्मों के अनर्थक होने से अर्थवाद अप्रामाणिक होते हैं। तैत्तिरीय संहिता तथा ब्राह्मण में इस प्रकार सुना जाता है—पूर्णाहुति से सभी प्रकार के कामनाओं को प्राप्त करता है। पशुबन्ध नामक याग करने वाला सभी लोकों को जीत लेता है। जो पुरुष अश्वमेध के द्वारा यजन करता है या उसको अच्छी तरह जानता है, वह मृत्यु को पार कर जाता है, पापों को पार कर जाता है, ब्रह्महत्या जैसे महापातक को पार कर जाता है अर्थात् इन सबों से रहित हो जाता है। जब आधान के समय होने वाली पूर्णाहुति से ही सभी कामनायें पूर्ण हो जायेंगी; तब उसके बाद होने वाले अग्निहोत्र आदि कर्म अनर्थक (निष्प्रयोजन) हो जायेंगे। इसी प्रकार निरूढपशुबन्ध के अनुष्ठान से सभी लोकों को जीत लेने के कारण ज्योतिष्टोम आदि अनर्थक हो जायेंगे। वेदाध्ययन के समय ही अश्वमेध आदि का ज्ञान हो जाता है और उसी से ब्रह्महत्या आदि पाप भी समाप्त हो जाते हैं। पुनः उसका अनुष्ठान करना व्यर्थ हो जायेगा। अतः पारलौकिक फलप्रतिपादक अर्थवाद-वाक्यों को अप्रमाण मानना चाहिए।

ननु मा भूत् फलवाक्यानां प्रामाण्यम्, तथापि निषेधवाक्येषु विरोधानुपलम्भादस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अभागिप्रतिषेधात्' (जै० १।२।५) इति।

'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' (तै० सं० ५।२।७।१) इत्यत्र अन्तरिक्षस्य च दिवश्च प्रतिषेधभागित्वं नाऽस्ति, तत्र चयनप्रसङ्गस्यैव अभावात्।

मा भूत्तर्हि निषेधानां प्रामाण्यम्। 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० स० ७।१।१०।२) इत्यादीनां पूर्वपुरुषवृत्तान्ताभिधायिनां विरोधानुपलम्भादस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अनित्यसंयोगात्' (जै० १।२।६) इति।

ववरादिरूपेण अनित्येन अर्थेन संयोगे सति अस्य वाक्यस्य ततः पूर्वमभावात् कालिदासादिवाक्यवत् पौरुषेयत्वं प्रसज्येत। किं वहुना ? सर्वथाऽपि नास्त्येव अर्थवादानां प्रामाण्यमिति पूर्वपक्षः।

यदि कहा जाय कि फल के प्रतिपादक वाक्यों की प्रामाणिकता न हो, तथापि निषेध के बोधक वाक्यों में परस्पर विरोध न होने के कारण उन निषेध-वाक्यों का प्रामाण्य हो—इस शङ्का के समाधान के लिए कहते हैं कि प्रतिषेध की योग्यता से रहित में भी प्रतिषेध करने के कारण अर्थवाद प्रामाणिक नहीं हो सकते। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि अग्निचयन न पृथिवी पर करना चाहिए, न अन्तरिक्ष में करना चाहिए और न द्युलोक में करना चाहिए। इसमें पृथिवी का निषेध करना समुचित है; क्योंकि पृथिवी पर अग्निचयन प्राप्त है और प्राप्त का ही निषेध किया जाता है, अप्राप्त का नहीं। अन्यथा निषेध व्यर्थ हो जायेगा। अन्तरिक्ष और द्युलोक में चयन की प्राप्ति ही नहीं है, क्योंकि उसमें चयन की योग्यता नहीं है। अतः उसमें चयन की प्राप्ति ही सम्भव नहीं है। प्राप्त न होने पर भी निषेध करना व्यर्थ होगा। अतः इस प्रकार के अर्थवाद-वाक्य अप्रमाण होंगे।

यदि कहा जाय कि निषेध-वाक्यों की प्रामाणिकता न हो; परन्तु 'प्रवाहण के पुत्र ववर ने कामना किया' इत्यादि पूर्व काल में उत्पन्न पुरुषों के इतिहास के वोधक अर्थवादों में विरोध की प्राप्ति न होने के कारण इनका प्रामाण्य मान लिया जाय—इस शङ्का को दूर करने के लिए जैमिनि ने सूत्र वनाया—अनित्य पदार्थों के संयोग से अर्थात् अनित्य पदार्थों के प्रतिपादन करने के कारण अर्थवादों का प्रामाण्य नहीं हो सकता। बवर आदि अनित्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर यह प्रतीत होता है कि ववर नामक पुरुष के उत्पन्न होने के पहले यह वाक्य नहीं था। जब वह उत्पन्न हुआ, तब इस मन्त्र का निर्माण हुआ। इसलिए कालिदास आदि के वाक्यों के समान अर्थवाद-वाक्य भी किसी पुरुष के द्वारा रचित हैं। अतः पौरुषेय हैं। भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार वेदों का पौरुषेयत्व किसी भी प्रकार से नहीं माना जा सकता। इसलिए अर्थवाद-वाक्यों

की प्रामाणिकता किसी भी तरह मानने के योग्य नहीं है। अर्थवाद धर्माधर्म के प्रति प्रामाणिक नहीं हो सकते। यह पूर्वपक्ष हुआ।

सिद्धान्तं सूत्रयति—

'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० १।२।७) 'तु' शब्दोऽर्थवादानामप्रामाण्यं वारयति। 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा' इत्येवमादीनामर्थवादानां 'वायव्यं श्वेतमालभेत' (तै० सं० २।१।१।१) इत्यादिना विधिना सह एकवाक्यत्वादस्ति धर्मे प्रामाण्यम्। न च विधिवाक्यस्य अर्थवादनैरपेक्ष्येण पदान्वयसम्पूर्त्तेस्तत्र अर्थवादानां नास्ति उपयोग इति शङ्कनीयम्। ते हि अर्थवादाः पुरुषप्रवृत्तिमाकांक्षतां पुरुषस्तत्र प्रवर्त्तते।

पूर्वपक्ष के प्रतिपादन के पश्चात् अर्थवाद के सम्बन्ध में सिद्धान्त-पक्ष को प्रस्तुत करते हैं—

'अर्थवाद-वाक्य विधि वाक्यों के स्तावक है। स्तावक (स्तुति-प्रतिपादक) होने से विधि वाक्यों के साथ अर्थवाद-वाक्यों की एकवाक्यता होती है और एकवाक्यता के द्वारा शाब्दबोध सम्पन्न होने के कारण वे अर्थवाद वाक्य भी धर्माधर्म के प्रति प्रमाण हैं, अप्रमाण नहीं। सूत्रस्थ 'तु' शब्द अर्थवादों की अप्रमाणिकता का निवारण करता है। 'वायु अत्यन्त शीघ्रगामी देवता है' इत्यादि अर्थवादों का 'वायुदेवताक श्वेत पशु का आलम्भन करे' इत्यादि विधि वाक्यों के साथ एकवाक्यता होने के कारण उनका धर्म के प्रति प्रामाण्य है, अप्रामाण्य नहीं।

शङ्का—वाक्यगत पदों का आकांक्षा आदि सहकारिकारणों के द्वारा परस्पर अन्वय हो जाने पर ही वाक्यार्थ-बोध होता है। वाक्यार्थ-बोध के लिए ही वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। विधि-वाक्यों के अर्थज्ञान के लिए अर्थवाद-वाक्यों की कोई अपेक्षा नहीं है; क्योंकि वाक्यार्थ-ज्ञान के प्रति अर्थवादों को कारण नहीं माना गया है। अतः विधि वाक्यों के ज्ञान के लिए अर्थवादों का कोई उपयोग न होने के कारण अर्थवाद धर्म के प्रति प्रमाण नहीं हो सकते।

समाधान—विधि-वाक्यों के अर्थज्ञान में अर्थवादों का उपयोग होता है। 'कष्टं कर्म' इस न्याय से विहित कर्मों में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती और विधि

कर्मों में प्रवृत्ति कराना चाहती है। अर्थवाद वाक्य विधि की स्तुति करते हैं। वह स्तुति दो प्रकार की होती है—क—प्रशंसा-वाचक; ख—निन्दा-वाचक। जब कर्मों में प्रवृत्ति अभीष्ट होती है, तब विधि की स्तुति की जाती है और जब उससे निवृत्ति चाहते हैं, तब उसकी निन्दा की जाती है। विधि स्थल में अर्थवाद विधि की स्तुति करके पुरुष को उसमें प्रवृत्त करा देता है। इसी प्रकार विधि वाक्यों के साथ एकवाक्यता होने के कारण उनका उपयोग होता है। स्तुति (प्रशंसा) के द्वारा लोभाकृष्ट पुरुष याग आदि कर्मों में प्रवृत्त होता है। निषेध-स्थल में निन्दा के द्वारा उस निन्दित कर्म से निवृत्त हो जाता है। इसी तरह अर्थवादों का उपयोग होता है। अतः धर्म के प्रति अप्रमाण नहीं हो सकता।

ननु अर्थवादानां प्रमादपठितत्वेन उपेक्षणीयत्वात् किमनेन एकवाक्यताप्रयासेन इत्याशङ्क्य आह—

'तुल्यं च साम्प्रदायिकम्' (जै० १।२।८) इति।

अनध्यायवर्जनादिनियमपुरःसरं गुरुसम्प्रदायादध्ययनं यत् तत् साम्प्रदायिकम्। तच्च विधीनामर्थवादानां च समानम्। तस्माद् विधिवदेतेषामपि प्रमादपाठो न भवति।

ननु शास्त्रदृष्टविरोधाच्च इत्येवमर्थवादेषु अनुपपत्तिरुक्ता इत्याशङ्क्य आह—

'अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत' (जै० १।२।९) इति।

'स्तेनं मनः' इत्यादौ शास्त्रविरोधाद्यनुपपत्तिः प्राप्ता, प्रयोगस्य अनुक्तत्वात्। प्रयोगे हि स्तेयादीनामुच्यमाने शास्त्रविरोधः स्यात्; न चात्र स्तेयं कर्त्तव्यमिति प्रयोग उच्यते, किन्तु स्तेयशब्दार्थ एव उच्यते। न च स्तेयशब्दार्थः प्रयोगभूतः। तस्माच्छब्दार्थवचनमात्रेण शास्त्रविरोधाभावादयमर्थवाद उपपन्न एव।

यदि कहा जाय कि वेदों में अर्थवाद वाक्य प्रमादवश पढ़ दिया गया है। अतः लौकिक प्रमत्त-वाक्यों के समान वैदिक अर्थवाद भी उपेक्षणीय हैं। इसलिए विधि वाक्यों के साथ एकवाक्यता का प्रयास निष्प्रयोजन है अर्थात् विधि के साथ

अर्थवादों की एकवाक्यता मानकर सार्थक समझने का प्रयास उचित नहीं है। इसका समाधान देते हैं कि विधि और अर्थवाद दोनों में वैदिक सम्प्रदाय के अनुसार अनध्याय आदि समान हैं। विधि के अनध्याय काल में अर्थवादों का भी अनध्याय ही माना जाता है। अनध्याय काल में वेदों के अध्ययन आदि के निषेध पूर्वक गुरु सम्प्रदाय से जो अध्ययन सम्पादन किया जाता है, वही साम्प्रदायिक कहलाता है। यह साम्प्रदायिक नियम विधि की तरह अर्थवादों में भी समान रूप से पाया जाता है। अतः विधि के समान ही अर्थवादों को भी प्रमाद-पठित नहीं माना जा सकता। इसलिये विधि के समान ही अर्थवाद भी धर्म के प्रति प्रमाण हैं, अप्रमाण नहीं।

यदि कहा जाय कि अर्थवादों में शास्त्र तथा दृष्ट के साथ विरोध प्रस्तुत किया गया है। अतः उन विरोधों के कारण अर्थवाद धर्म के प्रति प्रमाण नहीं हो सकते। इसका समाधान देते हैं कि पूर्वोक्त अनुपपत्ति अर्थवाद के प्रामाण्य पक्ष मे प्राप्त नहीं होती। प्रयोग मान लेने पर विरोध हो सकता था; किन्तु शब्दों के अर्थ प्रयोगभूत नहीं हैं। अतः अर्थवादों का प्रामाण्य उपपन्न हो जायेगा। 'मन चोर है' इत्यादि अर्थवादों में शस्त्रविरोध आदि अनुपपत्ति प्राप्त नहीं होती; क्योंकि 'चोरी करनी चाहिए' (स्तेयं कर्त्तव्यम्) ऐसे अनुष्ठान का प्रतिपादन नहीं किया गया है। चोरी करने का विधान किया जाता, तब 'स्तेयं न कर्त्तव्यम्' इत्यादि शास्त्र के साथ विरोध हो सकता था; परन्तु इन स्थलों में 'चोरी करनी चाहिए' इस प्रकार के प्रयोग का प्रतिपादन नहीं किया जाता; अपि तु केवल 'स्तेय' शब्द के अर्थ का कथन किया गया है। 'स्तेय' शब्द का अर्थ प्रयोगभूत नहीं है। अतः शब्द के अर्थ का प्रतिपादन मात्र से शास्त्रों के साथ विरोध न होने के कारण अर्थवाद वाक्य उपपन्न हो जाता है, अनुपपन्न नहीं।

ननु 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति यदुक्तं तदसत्, वैयधिकरण्यात्। 'वेतसशाखया चावकाभिश्चाग्निं विकर्षत्यापो वै शान्ता' (तै० सं० ५।४।४।३) इत्यत्र वेतसावके विधीयेते, आपश्च स्तूयन्त इति वैयधिकरण्य-मित्याशङ्क्याह—

'गुणवादस्तु' (जै० १।२।१०) इति ।

'तु' शब्दो वैयधिकरण्यदोषं वारयति । गुणवादो ह्यत्र विवक्षितः । यथा लोके कश्मीराभिजनो देवदत्तः कश्मीरदेशेषु स्तूयमानेषु स्तुतमात्मानं मन्यते, एवमत्रापि अद्भ्यो जाते वेतसावके अप्सु स्तुतासु स्तुते एव भवतः । शान्ताभ्योऽद्भ्यो जातत्वात् वेतसावके स्वयमपि शान्ते सत्यौ यजमानस्य अनिष्टं शमयतः इत्येतादृशस्य गुणस्य वादोऽत्र अभिप्रेतः ।

यदि कहा जाय कि सिद्धान्त पक्षीय प्रथम सूत्र में कहा गया कि विधि के स्तावक होने के कारण अर्थवाद की प्रामाणिकता सिद्ध होती है—यह समुचित नहीं है । कारण यह है कि स्तुत्य और स्तुति दोनों एक अधिकरण में नहीं रहता है । एक अधिकरण में रहने को समानाधिकरण और एक अधिकरण में न रहने को व्यधिकरण कहते हैं । उसमें भाव अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय होता है । जिसका विधान किया जाय, उसी की स्तुति भी की गई हो, तभी समानाधिकरण माना जायेगा और वही समुचित भी है; परन्तु अर्थवाद के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है । विधान दूसरे का किया जाता है और स्तुति दूसरे की की जाती है ।

उदाहरण—'बेंत की शाखा या अवकाओं से अग्नि का विकर्षण करे' 'जल शान्त प्रकृति के होते हैं ।' इसमें अग्नि-विकर्षण के लिए बेंत की शाखा और अवका का विधान है तथा शान्त गुण के द्वारा जल की स्तुति की गयी है । इसलिये व्यधिकरण हुआ । अवका शैवाल को कहते हैं । जब बेंत या अवका का विधान किया गया था, तव उसी की स्तुति भी की जाती; तभी सामानाधिकरण्य सम्पन्न हो सकता था । परन्तु ऐसी बात नहीं है । अतः वैयधिकरण्य होने के कारण एकवाक्यता के द्वारा अर्थवाद धर्म के प्रति प्रमाण नहीं हो सकते ।

इसका समाधान देते हैं कि इन स्थलों में गौण अर्थ का वाद (प्रतिपादन या कथन) समझना चाहिए । मुख्यार्थ का बोध नहीं माना जाता । पूर्वोक्त वैयधिकरण्य दोष को दूर करने के लिए सूत्र में 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है । पूर्वोक्त स्थलों में गुणवाद (गौण अर्थ का कथन) विवक्षित है । गौण अर्थ के द्वारा ही विधेय की स्तुति की जाती है । उदाहरण—लोक में भी देखा जात ा

है कि कश्मीर देश की स्तुति करने पर उस देश के निवासी देवदत्त अपने को ही स्तुति का पात्र समझता है। वह समझता है कि मेरी ही स्तुति हो रही है। परन्तु स्तुति उस देश की है, देवदत्त की नहीं। इसी प्रकार बेंत और अवका जल से उत्पन्न हुआ है और जल की स्तुति करने पर बेंत और अवका भी स्तुत हो जाता है। अभिप्राय यह है कि शान्त प्रकृति से युक्त जल से उत्पन्न होने के कारण बेंत और अवका स्वयं भी शान्त प्रकृति से युक्त होती हुई यजमान के अनिष्ट का शमन (शान्त) करेंगी। इस प्रकार के गौण अर्थ विवक्षित हैं।

सोऽरोदीत्' इत्यत्रापि रजतस्य पतिताश्रुरूपत्वाद् रजतदाने गृहेऽपि रोदनप्रसङ्गात् 'बर्हिषि रजतं न देयम्' (तै० सं० १।५।१।२) इति तन्निषेधेन विधेयेन अर्थवादस्य एकवाक्यत्वम्। तत्र रजतदानाभावे रोदनाभावरुपो गुणोऽत्र विवक्षितः; तेन च गुणेन रजतदाननिवारणरुपो विधिः स्तूयते। यद्यपि रजतस्य अश्रुप्रभवत्वमत्यन्तमसत् तथापि यथोक्तरीत्या विधेः स्तुतिः सम्पद्यते।

बर्हिष् नाम के याग में रजत की दक्षिणा न देनी चाहिए' यह विधि है। इसी विधि का 'सोऽरोदीत्' यह अर्थवाद है। इससे बर्हिष् नामक याग में रजत-दक्षिणा की निन्दा की गयी है। रजत को गिरी हुई आँसू रुप होने के कारण रजत-दक्षिणा देने पर दक्षिणा देनेवाले यजमान के घर में रोदन होगा। अतः उस दक्षिणा की निन्दा की गयी। 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इस निषेध वाक्य से प्रतिपाद्य रजत-दान निषेध रुप अर्थ के साथ पूर्वोक्त अर्थवाद को एकवाक्यता होती है और इस निषेध-वाक्य का रजतदान-निवृत्ति ही फल होता है। इसमें बर्हिष् नाम के याग में रजतदानाभावप्रयुक्त घर में रोदनाभाव रुप गुण विवक्षित है। इस गौण अर्थ से रजतदान की निवृत्ति के प्रतिपादक विधि की स्तुति होती है। यद्यपि आँसू से रजत की उत्पत्ति अत्यन्त मिथ्या है तथापि अर्थ के कथन से निषेध के विधायक वाक्य की स्तुति सम्पन्न होती है। अतः निवर्त्तना का प्रतिपादन करके यह भी धर्म के प्रति प्रमाण है, अप्रमाण नहीं।

'यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत' (तै० सं० २।१।१ ४-५) इत्ययं विधिः प्रजापतिवपोत्खेदेन स्तूयते।

तस्मात् प्रजापतिः स्ववपामपि उत्खिद्य अग्नौ प्रहृत्य ततो जातं तूपरम् अजम् आत्मार्थम् आलभ्य प्रजाः पशूंश्च लब्धवान्, तस्मात् प्रजादिसम्पादकोऽयं तूपर इति तूपरगुणस्य वादोऽत्र विवक्षितः।

जो प्रजा या पशु की कामना करे, वह इस प्रजापतिदेवताक तूपर अज का आलम्भन करे—यह विधि है। अज = वकरा। तूपर = शृंग रहित। प्रजापति के वपोत्खेदन के द्वारा इस विधि की स्तुति की जाती है। प्रजापति ने अपने वपा का भी उत्खेदन करके अग्नि में प्रक्षेप किया। उसके वाद उससे उत्पन्न सींग-रहित अज का अपने लिये आलम्भन करके प्रजाओं तथा पशुओं को प्राप्त किया। अतः यह सिद्ध होता है कि यह तूपर प्रजा आदि का सम्पादक है। पूर्वोक्त अर्थवाद में यही तूपरगुण का कथन विवक्षित है और इसी गुण के द्वारा विधि की स्तुति करने से दोनों की एकवाक्यता होती है तथा धर्म के प्रति प्रमाण माना जाता है।

'आदित्यः प्रायणीयश्चरुः' (तै० सं० ६।१।५।१) इत्येष विधिः 'दिशो न प्राजानन्' इत्यनेन दिङ्मोहेन स्तूयते। यथेयमदितिर्देवता दिङ्मोहमपि अपनीय दिग्विशेषं ज्ञापयति, तथा वहुविधकर्मसमुदायरुपे सोमयागे अनुष्ठानविषयं भ्रममपनयतीति किमु वक्तव्यमित्येवमदितिदेवतागतस्य गुणस्य वादोऽत्र विवक्षितः। स्वकीयवपोत्खेदो देवयजनाध्यवसानमात्रेण दिङ्मोहश्च इत्युभयमस्तु वा मा वा, सर्वथाऽपि स्तुतिपरत्वमभ्युपगच्छतामस्माकं न किञ्चिद् हीयते। 'शिखा ते वर्धते वत्स गुडूचीं श्रद्धया पिब' इत्यादौ अविद्यमानेनापि अर्थेन लोके स्तुतिदर्शनात्।

'आदित्यः प्रायणीयश्चरुः' इस विधि से आदित्यदेवताक प्रायणीय चरु का विधान किया गया है। 'दिशा को न जान सके' इस अर्थवाद से प्रतिपादित दिङ्मोह से इस विधि की स्तुति की जाती है। जिस प्रकार यह अदिति देवता दिङ्मोह को भी दूर करके दिग्विशेष का बोध करा देते हैं, उसी प्रकार के कर्मों के समुदाय रूप सोमयाग के अनुष्ठानविषयक भ्रम को दूर कर देता है—इसमें क्या कहना है अर्थात् अवश्य ही भ्रम को दूर देगा। इस प्रकार अदिति देवता में रहने वाले गुणों का कथन इसमें विवक्षित है। अपने वपा का उत्खेदन और

देवयजन के अध्यवसानमात्र से दिङ्मोह ये दोनो हों अथवा नहीं, परन्तु केवल स्तुति के वाचक मानने वाले मीमांसकों की कोई हानि नहीं होती। लोक में भी अविद्यमान (मिथ्या) पदार्थ से स्तुति देखी जाती है, जैसे—'तुम्हारी शिखा बढ़ जायगी, श्रद्धा से गुड्ची को पिओ।' गुड्ची पीने से शिखा की वृद्धि कहीं देखी नहीं जाती है; परन्तु बच्चे को पिलाने के लिए शिखावर्द्धन रूप अविद्यमान गुण से उसकी स्तुति की गयी है।

अथ पूर्वपक्षिणा शास्त्रविरोधं दर्शयितुं यदुदाहृतं 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाग्' इति, तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'रूपात् प्रायात्' (जै० १।२।११) इति।

'हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृभ्णाणि' (मै० सं० ४।८।२।३) इत्येतं विधिं स्तोतुमयमर्थवाद उच्यते। यथा लोके, 'किमृषिणा देवदत्त एव पूजयितव्यः' इत्यत्र देवदत्तपूजां स्तोतुमेव औदासीन्यमृषौ उपन्यस्यते, न तु पूज्यत्वमृषेर्वारयितुम्, एवमत्रापि हस्ते हिरण्यग्रहणं प्रशंसितुं मनसः स्तेनरूपत्वं वाचोऽनृतवादित्वं च उपन्यस्यते। तत्र गुणवादेन शब्दार्थो योजनीयः। यथा स्तेनाः प्रच्छन्नरूपा एवं मनोऽपीति प्रच्छन्नरूपत्वमत्र गुणः। प्रायेण वाग् अनृतं वक्ति इति प्रायिकत्वं तत्र गुणः। हस्तस्तु न प्रच्छन्नो नाऽपि अनृतबहुलः। अतो हस्ते हिरण्यधारणं प्रशस्तमिति स्तूयते।

पूर्वपक्षी ने शास्त्रविरोध-प्रदर्शन करने के लिये "स्तेनं मनः" इत्यादि उदाहरण प्रस्तुत किया था उसका समाधान देते हैं—उन स्थलों में तद्रूपत्व एवं प्रायिकत्व-रूप गुण का प्रतिपादन करने से अर्थवाद अप्रामाणिक नहीं हो सकते। हाथ में हिरण्य (सोना) हो अर्थात् धारण करे, इसलिये ग्रहण करता है अर्थात् हाथ में सोना धारण करता है" इस विधि की स्तुति के लिये' स्तेनं मनः' इत्यादि अर्थवाद कहा गया है। जैसे—"ऋषि की क्या बात ? देवदत्त की ही पूजा करनी चाहिए' इस लौकिक वाक्य में देवदत्त की पूजा की स्तुति करने के लिये ही ऋषि के प्रति उदासीनता प्रकट की गयी है ऋषि की पूजनीयता का निवारण करने के लिये नहीं।

इसी प्रकार प्रकृतस्थल में भी हाथ में सोना धारण करने की प्रशंसा के लिये मन की स्तेनरूपता तथा वाणी की मिथ्याभाषणशीलता का कथन किया गया है। इन स्थलों में गौण अर्थ के द्वारा ही शब्दार्थ की योजना करनी चाहिए जिस प्रकार चोर छिपे हुए रहते हैं, उसी प्रकार मन भी छिपा हुआ रहता है। यहाँ प्रच्छन्न-रूपता ही गुण अर्थात् गौण अर्थ है। वाणी प्रायः मिथ्या बोलती है—इसमें प्रायिकत्व ही गुण है। हाथ न प्रच्छन्न है और न अनृतबहुल (अधिक मिथ्या बोलने वाला) ही है। इसलिये हाथ में सोना धारण करना श्रेष्ठ कार्य है—इसी से स्तुति की जाती है।

यदपि दृष्टविरोधाय 'धूम एव अग्नेर्दिवा ददृशे' इत्यादिकमुदाहृतं तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'दूरभूयस्त्वात्' (जै० १।२।१२) इति।

'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिसूर्यः स्वाहेति प्रातः' इत्येतौ विधी (ऐ० ब्रा० ५।५।६) स्तोतुं सोऽर्थवादः। यस्माद् अर्चिर्दिवा न दृश्यते तस्मात् सूर्यमन्त्र एव प्रातः प्रयोक्तव्यः। यस्माद् रात्रावर्चिरेव दृश्यते तस्मादग्निमन्त्रो रात्रौ प्रयोक्तव्यः सूर्यमन्त्रश्च दिवा—इत्येवं तयोर्मन्त्रयोः स्तुतिः। धूमार्चिषोरदर्शनोपन्यासस्तु दूरभूयस्त्वगुणनिमित्तः। भूयसि हि दूरे पर्वताग्रे वृक्षादयोऽपि न विस्पष्टं दृश्यन्ते, किन्तु तृणसादृश्येन तेषां दर्शनाभास एव। तद्वदत्राऽपि।

जो दृष्टविरोध दिखलाने के लिए 'धूम एव०' इत्यादि उदाहरण उपस्थित किया गया, उसका समाधान देते हैं—अधिक दूर होने के कारण धूमादि का दर्शन नहीं होता। 'अग्निर्ज्योतिः०' इत्यादि मन्त्र से सायंकाल हवन करना चाहिए और 'सूर्यो ज्योतिः०' इत्यादि मन्त्र से प्रातः काल हवन करना चाहिए—इन दोनों विधियों की स्तुति के लिये यह अर्थवाद समुपस्थित है। दिन में अर्चि नहीं दिखलाई पड़ती, अतः प्रातः काल सूर्यदेवताक मन्त्र का प्रयोग करना चाहिए और रात्रि में अर्चि ही दिखलाई पड़ती है, धूम नहीं; इसलिये रात्रि में अग्नि देवताक मन्त्र का प्रयोग करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि दिन में सूर्यदेवताक मन्त्र तथा

रात्रि में अग्निदेवताक मन्त्र का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार उन दोनों मन्त्रों की स्तुति हो जाति है। दूरभूयस्त्वगुण प्रयुक्त धूम और अर्चि के दर्शनाभाव का कथन किया गया है। लोक में भी यह देखा जाता है कि अत्यन्त दूर पर्वत आदि के ऊपर के वृक्षादि भी स्पष्ट रूप से नहीं देखे जाते हैं; अपितु तृण के समान उनका दर्शनाभास ही होता है। उसी प्रकार पूर्वोक्त स्थलों में भी समझना चाहिए। दिन में अर्चि का स्पष्ट दर्शन नहीं होता और रात्रि में धूम का स्पष्ट दर्शन नहीं होता; अपितु दर्शनाभास ही होता है।

यद्यप्यन्यद् दृष्टविरोधाय उदाहृतं, 'न चैतद्विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' इति, तत्र उत्तरं सूत्रयति —

'स्त्र्यपराधात् कर्त्तुश्च पुत्रदर्शनम्' (जै० १।२।१३) इति।

'प्रवरे प्रव्रियमाणे ब्रूयाद् देवाः पितरः' (मै० सं० १।४।११) इत्यस्य विधेः एतावकोऽयमर्थवादः। यदि यजमानो 'देवा पितरः' (तै० ब्रा० ३।७।५।४) इत्यादि मन्त्रेण प्रवरमनुमन्त्रयेत् तदानीमब्राह्मणोऽपि ब्राह्मणो-भवेदिति अनुमन्त्रणस्य स्तुतिः। 'न चैतद् विद्मः' इत्येतदज्ञानवचनं दुर्ज्ञानत्वगुणेन तत्र प्रयुज्यते। यत्र स्त्रिया अपराधो भवति तत्र कर्त्तुरुत्पाद-यितुर्जारस्यापि पुत्रो दृश्यते। अतः पत्युपपत्युरुभयोः पुत्रदर्शनात् स्वकीयं जन्म कीदृशमिति दुर्ज्ञानम्। अनेन अभिप्रायेण प्रयुक्तत्वात् नास्ति तत्र दृष्टविरोधः। न हि तत्र दृश्यमानं स्वब्राह्मण्यमपवदितुं 'न चैतद् विद्मः' इत्युपन्यस्तम्।

दृष्टविरोध दिखलाने के लिये 'न चैतद् विद्मः' इत्यादि से जो दूसरा उदाहरण दिखलाया गया था, उसका समाधान देते हैं—स्त्रियों के अपराध (कुलटापन) के कारण उपपति (जार) का भी पुत्र देखा जाता है।

'प्रवरों के अनुमन्त्रण के समय 'देवाः पितरः' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करे' इस विधि की स्तुति के लिये यह अर्थवाद उपस्थित है। यदि यजमान 'देवाः पितरः' इत्यादि मन्त्र के द्वारा प्रवर का अनुमन्त्रण करे, तब उस समय अब्राह्मण यजमान भी ब्राह्मण हो जाय—इस प्रकार अनुमन्त्रण की स्तुति की जाती है।

'न चैतद् विद्मः' यह अज्ञान के बोधक वचन दुर्ज्ञानत्व रूप गुण के द्वारा प्रयुक्त हुआ है। जब स्त्रियों का अपराध होता है तब पुत्र के उत्पादयिता जार का भी पुत्र देखा जाता है। इसलिये पति और उपपति दोनों से पुत्र की उत्पत्ति होने के कारण 'अपना जन्म किस प्रकार का है' इसका ज्ञान सम्भव नहीं है। इस अभिप्राय से अर्थवाद का प्रयोग होने के कारण पूर्वोक्त स्थल में दृष्टविरोध नहीं है। परिदृश्यमान अपने ब्राह्मणत्व के निराकरण के लिए 'न चैतद् विद्मः' इस अर्थवाद का प्रयोग नहीं किया गया है।

यदपि शास्त्रीयदर्शनविरोधाय उदाहृतं, को हि तद् वेद यद्यमुष्ल्लोकेऽस्ति वा न वा इति। तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'आकालिकेप्सा' (जै० १।२।१४) इति।

'दिक्ष्वतीकाशान् करोति' (तै० सं० ६।१।१।१) इति प्राचीनवंशस्य द्वारविधिः। तस्य शेषोऽयं, 'को हि तद् वेद' इति। धूमाद्युपद्रवपरिहारेण प्रत्यक्षेण फलेन द्वारविधिः स्तूयते। स्वर्गप्राप्तिरूपं तु फलमाकालिकम्। अकाले भवमाकालिकं विप्रकृष्टकालीनं, न तु इदानीन्तनमित्यर्थः। तस्य ईप्सा प्राप्तुमिच्छा। सा च 'को हि तद्' इति अनिश्चयोपन्यासे कारणम्। यथा भाविकालीनः पौत्रप्रपौत्रादिवृत्तान्तो निश्चेतुं न शक्यते, तद्वत् स्वर्गप्राप्तिभाविकालीनेति गुणयोगादनिश्चयोपन्यासः। धूमादिपरिहारस्तु प्रत्यक्षत्वात् निश्चित इत्यभिप्रायः।

जो शास्त्रों के द्वारा दृष्ट फलों के साथ विरोध दिखलाने के लिये 'को हि तद् वेद' इत्यादि उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, उसका समाधान देते हैं—'अत्यन्त अधिक दिन के बाद भी अनुष्ठानों के फलों को प्राप्त करने की इच्छा रहती है।' अतः अनिश्चयोपन्यास किया गया है। 'दिशाओं में अतीकाश—धूम निकलने के लिये द्वार या खिड़की का निर्माण करें' यह प्राचीनवंश नामक मण्डप में द्वार निर्माण विधायक विधि है। जिस मण्डपविशेष के बाँस का अग्रभाग पूर्वदिशा की ओर रहता है, उसी मण्डप को प्राचीनवंश की संज्ञा दी जाती है। इसी के द्वार के विधायक वाक्य का 'को हि तद् वेद' अङ्ग है। धूम आदि से जन्य उपद्रवों का परिहार रुप प्रत्यक्ष फल के

द्वारा द्वारविधि की स्तुति की जाती है। अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाले स्वर्गादि के प्राप्ति रूप फल आकालिक हैं। अकाल में होने वाले फल को आकालिक कहते हैं अर्थात् बहुत दिन के बाद होने वाला; अनुष्ठान के पश्चात् तुरन्त होने वाला नहीं। उस फल को प्राप्त करने की इच्छा को ही आकालिकेप्सा कहते हैं। वही 'को हि तद् वेद' इत्यादि के द्वारा अनिचश्य के कथन में कारण हैं। अभिप्राय यह है कि मण्डप में द्वार न बनाने से धूम बाहर न निकल सकेगा। इसलिए उस मण्डप में काम करनेवाले ऋत्विजों की प्राणहानि की भी सम्भावना हो सकती हैं। स्वर्गादि फल बहुत दिन बाद मिलना है और धूमादि उपद्रवों से मृत्यु अभी सम्भावित है। अतः अनिश्चय के कथन से द्वारविधि की स्तुति की गयी है। जिस प्रकार भविष्यत् काल में उत्पन्न होने वाले पुत्र, पौत्र आदि के इतिहास का सम्प्रति निश्चय नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार भविष्य में होने वाले स्वर्ग आदि का भी निश्चय नहीं किया जा सकता है। अतः तात्कालिक लाभ के लिए मण्डप में द्वार बनाना आवश्यक है। स्वर्ग की प्राप्ति भविष्यत् काल में होगी—इस प्रकार के गुण के योग (गौण अर्थ के सम्बन्ध) से अनिश्चय का कथन किया गया है प्रत्यक्ष होने के कारण धूमादि का परिहार तो निश्चित ही है। इसका यही अभिप्राय है।

यद्यप्यन्यत् दृष्टविरोधाय उदाहृतं 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' (ता० म० ब्रा० २०/१६/६) इति। तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'विद्याप्रशंसा' (जै० १/२/१५) इति।

सोऽयं गर्गत्रिरत्रविधेः शेषः। तद्विषयं वेदनमपि मुखशोभाहेतुः, किमुत अनुष्ठानमिति स्तूयते। यथा कर्णाभरणादिना मुखं शोभितं भवति, एवं वेदितुरुत्साहेन विकसितं वदनं शोभितमिव शिष्यैरुद्वीक्ष्यते। अतः शोभा-सादृश्यगुणयोगात् 'शोभते' इत्युच्यते।

दृष्टविरोध दिखलाने के लिए जो 'शोभतेऽस्य मुखम्' इत्यादि दूसरा उदाहरण दिया गया हैं, उसका समाधान देते हैं—'यह विद्या की प्रशंसा हैं।' 'शोभतेऽस्य मुखम्' यह गर्गत्रिरात्र विधि का अङ्ग है। गर्गत्रिरात्र का ज्ञान भी मुख के शोभा का कारण है अर्थात् गर्गत्रिरात्र के ज्ञान हो जाने पर मुख सुशोभित हो जाता है। जब

ज्ञानमात्र से मुख की शोभा हो जाती हैं; तब अनुष्ठान की क्या बात ? वह मुख शोभा के हेतु तो अवश्य ही होगा। इसी प्रशंसा के लिए ज्ञान से मुखशोभा का प्रतिपादन किया गया है। जिस प्रकार कर्णों में भूषण पहन लेने पर मुख सुशोभित हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान-युक्त पुरुष का उत्साह से प्रफुल्लित मुख शोभायमान रत्नादि पदार्थ के समान शिष्यों के द्वारा देखा जाता है। अतः शोभा-सादृश्य रुप गौण अर्थ के सम्बन्ध से 'शोभते' यह कहा गया है। अभिप्राय यह है कि जब गुरु उत्साह के साथ विषयों का स्पष्ट प्रतिपादन प्रारम्भ करता है, तब समझने के लिए शिष्य उनके मुख का अवलोकन करने लगता है और एकटक देखता रहता है। जो सुशोभित पदार्थ होता है, मनुष्य उसी को तन्मयता के साथ देखता है। इसी सादृश्य के कारण 'शोभते' इत्यादि अर्थवादों से गर्गत्रिरात्र विद्या की प्रशंसा की गयी है। इस बात को प्रायः सभी पढ़ने-पढ़ाने वाले विद्वान् सदा अनुभव करते हैं।

यदप्यन्यद् विरोधाय उदाहृतम् 'आस्य प्राजायां वाजी जायते य एवं वेद' इति, सोऽपि वेदानुमन्त्रणविधेः शेषः। अत्रापि कैमुतिकन्यायेन स्तुतिः पूर्ववद् योजनीया। वेदितुः पुत्रः पितृशिक्षया स्वयमपि विद्वान् भवति, ततः प्रतिग्रहेण अन्नं प्राप्नोति। तस्मादीदृशं गुणमभिप्रेत्य 'वाजी जायते' इत्युक्तम्।

विरोध-प्रदर्शन के लिए जो 'आस्य प्रजायाम्' यह दूसरा उदाहरण दिया गया वह भी वेदानुमन्त्रण-विद्या का अङ्ग है। इस स्थल में भी पूर्व के समान कैमुतिक न्याय से स्तुति की ही योजना करनी चाहिए अर्थात् स्तावक ही मानना चाहिए। ज्ञानवान् पिता के पुत्र अपने पिता की शिक्षा से स्वयं भी विद्वान् हो जाता है और प्रतिग्रह से अन्न आदि को प्राप्त करता है। अतएव इस प्रकार के गुणों के अभिप्राय से 'वाजी जायते' यह कहा गया है। वाज=अन्न और वाजी=अन्नवान् होता है।

यदप्यान्यानर्थक्याय उदाहृतं, 'पूर्णाहुत्या सर्व्वान् कामानवाप्नोति' इति। तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'सर्व्वत्वमाधिकारिकम्' (जै० १/२/१६) इति।

पूर्णाहुतिं जुहुयाद् इत्यस्य विधेः शेषोऽयम्। सर्वकामावाप्तिहेतुत्वात्

प्रशस्तेयमाहुतिरिति स्तूयते। यथा सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्र सर्वत्वं स्वगृहागतब्राह्मणविषयम्। एवं पूर्णाहुत्या कर्मसाङ्गत्वे यत् फलं तस्मिन्नधिकारे प्रस्तावे सम्भावितं तद्विषयमेव सर्वत्वं द्रष्टव्यम्। पूर्णाहुतेर-भावे सति आधानरुपं कर्म अङ्गविकलं भवति। तच्च वैकल्यं पूर्णाहुत्या समाधीयत इत्येकः कामः। तस्मिन् समाहिते सति आहवनीयाद्यग्नयोऽग्नि-होत्रादिकर्मसु योग्या भवन्ति इत्ययमन्यः कामः। तैश्च कर्मभिस्तत् तत्फलं प्राप्यत इति कामान्तरम्। ईदृशी सर्वकामावाप्तिराहुत्यन्तरेष्वपि विद्यत इति चेत्? विद्यतां नाम। किं नश्छिन्नम्? न खलु एतावता पूर्णाहुतिस्तुतेः काचिद् हानिरस्ति।

अन्य विधियों के वैयर्थ्य दिखलाने के लिए जो 'पूर्णाहुत्या सर्वान्' इत्यादि उदाहरण उपस्थित किया है, उसका समाधान देते हैं—'सर्व शब्द आधिकारिक अर्थात् प्रसङ्ग-प्राप्त अशेषत्व (सर्वत्व) का वाचक है। यह अर्थवाद 'पूर्णाहुति होम करें' इस विधि का स्तावक है। सभी प्रकार के कामनाओं के प्राप्ति का हेतु होने के कारण 'यह आहुति प्रशस्त है'—ऐसी स्तुति की जाती है। जिस प्रकार 'सभी ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए' इस वाक्य में प्रयुक्त सर्व शब्द अपने घर में आये हुए सभी ब्राह्मणों का वाचक होता है, संसार के सभी ब्राह्मणों का नहीं। इसी प्रकार पूर्णाहुति से कर्म की साङ्गता सिद्ध होती है और कर्म की साङ्गता सिद्ध हो जाने पर उस कर्म के अधिकार (प्रस्ताव या प्रारम्भ अथवा अनुष्ठान) में जो सम्भावित फल है, तद्विषयक ही सर्व्वत्व समझना चाहिए। पूर्णाहुति के अभाव हो जाने पर आधान रुप कर्म अङ्गविकल = अङ्गरहित हो जायेगा पूर्णाहुति से उस अङ्गराहित्य का समाधान किया जाता है—यह एक कामना हुई।

उसका समाधान हो जाने पर आहवनीय आदि अग्नि अग्निहोत्र आदि कर्मों के योग्य होतेहैं—यह दूसरी कामना है। उन कर्मों से उनके फलों को प्राप्त किया जाता है—यह भिन्न कामना है। इस प्रकार सभी कामनाओं को प्राप्त करता है। यदि कहा जाय कि इस प्रकार की सभी कामनाओं की प्राप्ति दूसरी आहुतियों में भी है, तब इसी की प्रशंसा क्यों की गयी? समाधान—दूसरी आहुतियों में भी

कामना-प्रदायकता रहे, मुझे कोई आपत्ति नहीं है। दूसरी आहुतियों में कामना-साधकता रहने पर भी पूर्णाहुति की स्तुति में कोई हानि नहीं है।

ननु पूर्णाहुतेरङ्गभावत्वात् तदीयफलश्रुतेरर्थवादत्वेन स्तावकत्वं भवतु, 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः; (जै० ४।३।१) इति सूत्रेण निर्णीतत्वात्। पशुबन्धवाक्यस्य तु कर्मविधायकत्वात् सर्वलोकाभिजयस्य मुख्यफलत्वात् अन्यानर्थक्यं दुर्वारमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति–

'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्' (जै० १।२।१७) इति।

पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अन्यतमलोकाभिजयरूपं फलं पशुबन्धकर्मणा निष्पाद्यते। तेषाञ्च पृथिव्यादीनां फलानां कर्मान्तरेण परिमाणाधिक्यं सारत्वं वा सम्पद्यते। ततः फलविशेषः स्यादिति नाऽस्ति आनर्थक्यम्। लोकवदित्युक्तार्थे दृष्टान्तः। यथा लोके निष्केण खारीपरिमितान् व्रीहीन् विक्रीय निष्कान्तरेण पुनः क्रमे सति परिमाणाधिक्यं भवति; यथा वा निष्केण वस्त्रमात्रं लभ्यते, निष्कद्वयेन तु सारभूतं दुकूलम्। तथा भोगाधिक्यं भोगसारत्वं वा कर्मान्तरेण द्रष्टव्यम्। ब्रह्महत्याया अपि मानस्याः स्वल्पाया वेदनमात्रेण तरणम्। कायिक्यास्तु महत्या अश्वमेधेन, इति नास्ति अन्यानर्थक्यम्।

'पूर्णाहुतिं जुहुयाद्' यह विधि है और 'पूर्णाहुत्या सर्वान्०' इत्यादि उसका अर्थवाद है। इसलिये उसके अर्थवाद के द्वारा प्रतिपादित फल अर्थवादत्व रूप से स्तावक मान लिया जा सकता है; क्योंकि चौथे अध्याय के तीसरे पाद के पहले अधिकरण में यह निर्णय किया गया है कि द्रव्य, संस्कार और कर्मों के फल-श्रवण अर्थवाद रूप से ही सङ्गत माना जाता है; क्योंकि ये सब परार्थ (दूसरे के लिये) हैं। ये सब अपने प्रधान के लिये होते हैं। परन्तु 'पशुबन्ध याग करने वाला सभी लोकों को जीत लेता है' यह वाक्य कर्म का विधायक है और लोकों को जीत लेना उसका मुख्य फल है। अतः पशुबन्ध से ही सभी लोक-विषयक विजय प्राप्त होने के कारण अन्य कर्म निष्प्रयोजन अवश्य ही हो जायेंगे। इसका समाधान देते

हैं—'कर्मों के अनुष्ठान से फल की निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती है। उन फलों में भी लोक के समान परिमाण में अधिक अथवा सारतत्व से युक्त विशेष फल की प्राप्ति होती है।

पशुबन्ध नामक कर्म से पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोकों में से किसी एक लोक के अभिजय रूप फल का निष्पादन किया जाता है। उन पृथिवी आदि फलों में भिन्न-भिन्न कर्मों से परिमाण में अधिकता अथवा सारवत्ता सम्पन्न होती है। इस प्रकार फलविशेष को प्राप्ति होती है। अतः पूर्णाहुति से भिन्न कर्मों की अनर्थकता नहीं हो सकती। इसी अर्थ को प्रमाणित करने के लिये सूत्र में 'लोकवत्' यह दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार लोक में एक निष्क (चार भर सोना) से एक खारी (प्राचीन तौल) धान बेंचकर पुनः उसमें दूसरा निष्क मिलाकर दो निष्कों से धान खरीदने पर धान का परिमाण अधिक हो जाता है; अथवा एक निष्क से साधारण वस्त्रमात्र प्राप्त होता है और दो निष्कों से सारभूत रेशमी वस्त्र प्राप्त होता है। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मों से भोगों की अधिकता या सारवत्ता मिलती है—ऐसा समझना चाहिए। ब्रह्महत्या के विषय में भी मन से सङ्कल्पित अत्यन्त अल्प ब्रह्महत्या का अश्वमेध आदि के ज्ञानमात्र से तरण हो जाता है और स्वशरीर-व्यापार से सम्पादित ब्रह्महत्या का अश्वमेध आदि महान् यागों के अनुष्ठान से तरण होता है। इस प्रकार फलभेद सिद्ध होने पर पूर्णाहुति से भिन्न कर्मों की अनर्थकता नहीं हो सकती।

योऽपि, 'नान्तरिक्षे न दिवि' इत्यप्रसक्तप्रतिषेध उदाहृतस्तथा 'बबरः प्रावाहणिः' इत्यनित्यसंयोग उदाहृतस्तत्र उभयत्रोत्तरं सूत्रयति—

'अन्त्ययोर्यथोक्तम्' (जै० १।२।१८) इति।

अन्त्ययोरुदाहरणयोरुत्तरं पूर्वोक्तमेव द्रष्टव्यम्। अन्तरिक्षादौ चयन-निन्दारूपोऽर्थवादो 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' (तै० सं० ५।२।७।१) इत्यस्य विधेः शेषः। अतोऽत्र 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्युक्तमेव उत्तरम्। अन्त-रिक्षे चयनप्रसक्त्यभावात् तन्निन्दा नित्यानुवादोऽस्तु। तेनाऽपि विधिः स्तोतुं शक्यते, नित्यसिद्धार्थानुवादिना वायोः क्षेपिष्ठत्वेन पशुविधेः

स्तुतत्वात् । 'बवरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यत्रापि बवरनामकः कश्चिदनित्यः पुरुषो मनुष्यो न विवक्षितः, किन्तु बवरध्वनियुक्तः प्रकर्षेण वहनशीलो वायुर्व्यवहारदशायां नित्य एव अर्थो विवक्षितः। इत्येतदुत्तरं प्रथमपादस्य अन्तिमाधिकरणे प्रोक्तम् ।

तस्मात् सम्भावितदोषाणां परिहृतत्वान् अर्थवादानां अस्ति प्रामाण्यम ।

जो 'न अन्तरिक्ष में न द्युलोक में' इत्यादि के द्वारा अन्तरिक्षादि में अप्राप्त चयन का प्रतिषेध दिखलाया गया है । इसी प्रकार 'प्रवाहण के पुत्र बबर ने कामना किया' इत्यादि के द्वारा अनित्य पदार्थों के संयोग का प्रतिपादन किया गया है । इन दोनों के समाधान के लिये इस सूत्र का निर्माण किया है । पूर्वपक्ष के अन्त में इन दोनों अर्थवादों को प्रस्तुत करके जो समाधान पूर्व में दे दिया गया है, इस प्रसंग में भी वही समाधान समझना चाहिए । 'नान्तरिक्षे न दिवि' यह अर्थवाद 'हिरण्य रखकर चयन करना चाहिए' इस विधि का अङ्ग है । इस अर्थवाद से अन्तरिक्षादि में चयन की निन्दा की गयी है । अभिप्राय यह है कि जैसे अन्तरिक्षादि में चयन नहीं हो सकता, वैसे ही केवल पृथिवी पर भी चयन नहीं हो सकता । जब पृथिवी पर भी चयन करना हो, तो हिरण्य रखकर चयन करना चाहिए । इसी प्रकार यह स्तावक मान लिया जाता है । इस तरह के स्थलों के लिये पहले ही समाधान दे दिया जा चुका है कि विधियों की स्तुति करने के कारण अर्थवादों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है । अन्तरिक्ष में चयन की प्राप्ति न होने के कारण उसकी निन्दा नित्यानुवादमात्र है अर्थात् पहले से सिद्ध चयन के अभाव का ही इस अर्थवाद से निषेध किया गया है । इस नित्यानुवाद के द्वारा भी विधि की स्तुति कर सकते हैं; क्योंकि नित्य सिद्ध अर्थ के अनुवादक वायु के शीघ्रगामित्व के द्वारा पशुविधि की स्तुति की गयी है । 'बबरः प्रावाहणिः' इत्यादि अर्थवादों में भी बबर नाम के कोई अनित्य पुरुष विवक्षित नहीं है; अपि तु बबरध्वनि से युक्त प्रकृष्ट रूप से वहनशील वायु व्यवहार दशा में नित्य ही पदार्थ है और यहाँ वही विवक्षित है । प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के अन्तिम अधिकरण में इसका समाधान दे दिया गया है ।

अतः सम्भावित दोषों के परिहार हो जाने के कारण अर्थवादों का धर्म के प्रति प्रामाण्य सिद्ध होता है।

तत्र संग्रहश्लोकाः—

वायुर्वा इत्येवमादेरर्थवादस्य मानता।
न विधेयेऽस्ति धर्मे किं किं वाऽसौ तत्र विद्यते॥
विध्यर्थवादशब्दानां मिथोऽपेक्षापरिक्षयात्।
नास्त्येकवाक्यता धर्मे प्रामाण्यं सम्भवेत् कुतः॥
विध्यर्थवादौ साकाङ्क्षौ प्राशस्त्यपुरुषार्थयोः।
तेनैकवाक्यता तस्माद् वादानां धर्ममानता॥

(जै० न्या० मा० १।२।१)

माधवाचार्य ने जैमिनीयन्यायमाला में इन सभी विषयों को श्लोकों में संगृहीत कर दिया है —

"वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता" इत्यादि अर्थवाद वाक्य इस अधिकरण के विषय हैं। विधेय धर्म के प्रति प्रमाण है या नहीं—यह संशय है। विधियों और अर्थवादों के परस्पर अपेक्षा न होने के कारण दोनों की एकवाक्यता न होगी और जब एकवाक्यता न होगी, तब अर्थवादों का प्रामाण्य भी न होगा—यह पूर्वपक्ष है।

विधि और अर्थवाद परस्पर साकांक्ष हैं; क्योंकि अर्थवाद को पुरुषार्थ की अपेक्षा है तथा विधि को प्राशस्त्य की अपेक्षा है। इसलिए दोनों की एकवाक्यता हो जाती है। एकवाक्यता सम्पन्न हो जाने के कारण अर्थवाद भी धर्म के प्रति प्रमाण होता है।

तदेवं वेदे विद्यमानानां त्रयाणां मन्त्रविध्यर्थवादभागानामप्रामाण्ये कारणाभावात् बोधकानां तेषां प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वाङ्गीकाराच्च कृत्स्नस्यापि वेदस्य प्रामाण्यं सिद्धम्।

इस प्रकार वेद में विद्यमान मन्त्र, विधि और अर्थवाद रूप तीनों भागों की अप्रामाणिकता में कोई कारण नहीं है। वे तीनों भाग धर्म तथा अधर्म के बोधक हैं। उन तीनों का स्वतः प्रामाण्य माना जाता है। अतः सम्पूर्ण वेद धर्माधर्म के प्रति प्रमाण सिद्ध होता है।

॥ वेदानां पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वविचारः ॥

ननु एवमपि वेदस्य पौरुषेयत्वेन विप्रलम्भकवाक्यवत् अप्रामाण्यं स्यात्। पौरुषेयत्वञ्च प्रथमपादे पूर्वपक्षत्वेन जैमिनिः सूत्रयामास—

'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या' (जै० १।१।२७) इति।

एके वादिनो वेदान् प्रति सन्निकर्षं मन्यन्ते। कालिदासादिभिर्निर्मितानां रघुवंशादिग्रन्थानां समुच्चयार्थश्चकारः। ते ह्यत्र दृष्टान्ततया समुच्चीयन्ते; यथा रघुवंशादय इदानीन्तनास्तथा वेदा अपि। न तु वेदा अनादयः; अतएव वेदकर्त्तृत्वेन पुरुषा आख्यायन्ते। वैयासिकं भारतं वाल्मीकीयं रामायणमित्यत्र यथा भारतादिकर्त्तृत्वेन व्यासादय आख्यायन्ते तथा काठकं, कौथुमं, तैत्तिरीयमित्येवं तत्तद्वेदशाखाकर्त्तृत्वेन कठादीनामाख्यातत्वात् वेदाः पौरुषेयाः।

अभी तक वेदों का प्रामाण्य सिद्ध किया गया; परन्तु यह समुचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वेद पौरुषेय अर्थात् पुरुष-रचित है। पौरुषेय सिद्ध हो जाने पर वञ्चकों के वाक्यों के समान अप्रामाणिक होगा। जैमिनि ने प्रथम पाद में पूर्वपक्ष रूप से वेदों का पौरुषेयत्व उपस्थित किया है।

वेदों में पुरुषों के नाम आते हैं। अतः कुछ विद्वान् उसमें पुरुष-सम्बन्ध को मानते हुए पौरुषेय सिद्ध करते हैं। इसी सूत्रार्थ को ग्रन्थकार स्पष्ट करते हैं कि एक वादी वेदों में पुरुष-सम्बन्ध मानते हैं। कालिदासादि के द्वारा निर्मित रघुवंश आदि ग्रन्थों के समुच्चय के लिए सूत्र में 'च' कहा गया है। यह रघुवंश आदि दृष्टान्त रूप से समुच्चित होता है। जैसे रघुवंश आदि ग्रन्थ इस समय के मनुष्यों के द्वारा रचित है, वैसे ही वेद भी मनुष्यों के द्वारा रचित है। रघुवंश आदि ग्रन्थों को दृष्टान्त रूप से उपस्थित करने के कारण अनुमान प्रमाण भी प्रस्तुत हो जाता है। कुछ लोग अनुमान को उपस्थित करने के लिए ही सूत्रस्थ चकार को मानते हैं। वेद पौरुषेय है, वाक्यरूप होने से; कालिदासादि के रघुवंश आदि ग्रन्थों के समान। अतः अनुमान से भी वेदों की पौरुषेयता सिद्ध होती है। वेद अनादि नहीं हो सकते। इसीलिये वेदों के कर्त्ता रूप से मनुष्यों का नाम लिया जाता है।

जिस प्रकार वैयासिक (व्यास-रचित) महाभारत वाल्मीकीय (वाल्मीकि-रचित) रामायण इत्यादि में महाभारत आदि के कर्त्ता रुप से व्यास आदि कहे जाते हैं, उसी प्रकार काठक (कठ-निर्मित) कौथुम (कुथुम-निर्मित) तैत्तिरीय (तित्तिरि-रचित) आदि उन-उन वेद के शाखाओं के कर्त्ता रुप से कठ आदि का नाम लिया गया है। अतः भारतादि के समान वेद भी पौरुषेय है, अनादि नहीं।

ननु नित्यानामेव सतां वेदानामुपाध्यायवत् सम्प्रदायप्रवर्त्तकत्वेन काठकादिसमाख्या स्यादित्याशङ्क्य युक्त्यन्तरं सूत्रयति—

'अनित्यदर्शनाच्च' (जै० १।१।२८) इति।

अनित्या जननमरणवन्तो ववरादयो वेदे श्रूयन्ते—'ववरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) 'कुसुरुविन्द औद्दालकिरकामयत' (तै० सं० ७।२।२।१) इति। तथा सति ववरादिभ्यः पूर्वमभावात् अनित्या वेदाः। विमतं वेदवाक्यं, पौरुषेयं, वाक्यत्वात्, कालिदासादिवाक्यवत् इत्याद्यनुमानसमुच्चयार्थश्चकारः।

यदि कहा जाय कि वेद नित्य हैं और उन नित्य वेदों के प्रवचन करने के कारण कठ आदि के नाम का उल्लेख मिलता है। जैसे—अध्यापन करने के कारण उपाध्याय (अध्यापन करने वाले) भी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। अतः वेद नित्य ही होगा। इसका समाधान देते हैं—वेदों में अनित्य पदार्थों का वर्णन पाया जाता है। इसलिये वेद अनित्य है, अनादि या नित्य नहीं।

वेद में उत्पत्ति और विनाश से युक्त ववर आदि अनित्य पदार्थों का वर्णन सुना जाता है। जैसे—'प्रवाहण का पुत्र ववर ने कामना किया'। 'उद्दालक के पुत्र कुसुरुविन्द ने कामना किया' इत्यादि। ऐसा मान लेने पर यह ज्ञात होता है कि ये सब मन्त्र ववरादि के पहले नहीं थे और ववर के जन्म लेने के बाद ये मन्त्र लिखे गये। अतः वेद अनित्य है। दृष्टान्त-वाक्य के आधार पर जिस अनुमान को पहले दिखलाया गया है, उसको ग्रन्थकार स्वयं उपस्थित कर रहे हैं—विवादास्पद वेदवाक्य पौरुषेय है, वाक्य रुप होने से, कालिदासादि के वाक्यों के समान। वेद वाक्य पक्ष है; क्योंकि जिसमें साध्य का सन्देह रहता है, वही पक्ष कहलाता है।

पौरुषेयत्व साध्य है, क्योंकि पक्ष में जो सिद्ध किया जाता है, वही साध्य कहलाता है। यहाँ पर वेद वाक्य रूप पक्ष में पौरुषेयत्व सिद्ध किया जा रहा है। वाक्यत्व हेतु है, जिसके द्वारा साध्य की सिद्धि होती है, वही हेतु कहलाता है। दृष्टान्त रूप से कालिदासादि के वाक्यात्मक रघुवंश आदि को प्रस्तुत किया गया है। यही उदाहरण है। जिन-जिनमें वाक्यत्व रहेगा, वे सब पौरुषेय कहलायेंगे। वेद में भी वाक्यत्व है। इसलिये वह भी पौरुषेय है। वेद भी भारतादि के समान वाक्यत्व विशिष्ट है। यही उपनय कहलाता है। अतः वेद भी पौरुषेय है—यह निगमन होता है। इस प्रकार पञ्चावयव संघटित होता है। यह नैयायिकों की दृष्टि से विचार हुआ। मीमांसक के मत में तीन ही अवयव माने जाते हैं। सम्भवतः ग्रन्थकार ने इसीलिए तीन अवयव प्रदर्शित किया है। वेद के सम्बन्ध में यह पूर्वपक्ष हुआ।

सिद्धान्तं सूत्रयति—

'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' (जै० १।१।२९) इति।

'तु' शब्दो वेदानामनित्यत्वं वारयति। शब्दस्य वेदरूपस्य कठादि पुरुषेभ्यः पूर्वत्वमनादित्वं प्राचीनैरेव सूत्रैरुक्तम्। 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' (जै० सू० १।५) इत्यस्मिन् सूत्रे 'औत्पत्तिक' शब्देन सर्वेषां शब्दानां वेदानां तदर्थानां तदुभयसम्बन्धानां च नित्यत्वं प्रतिज्ञाय उत्तराभ्यां शब्दाधिकरणवाक्याधिकरणाभ्यामुपपादितत्वात्।

सिद्धान्त पक्ष उपस्थित करते हैं—

'मनुष्यों के अपेक्षा शब्दों का पूर्वभावित्व (अनादित्व) पूर्वोक्त सूत्रों से ही सिद्ध कर दिया जा चुका है।' सूत्रस्थ 'तु' शब्द अनित्यत्व का निवारण करता है। वेद रुप शब्दों का कठ आदि पुरुषों से प्राचीन साबित किया गया है। औत्पत्तिक सूत्र में 'औत्पत्तिक' शब्द से वेद के सभी शब्दों, उसके अर्थों तथा उन दोनों के सम्बन्धों के नित्यत्व की प्रतिज्ञा (निश्चय) किया और उसके बाद शब्दाधिकरण एवं वाक्याधिकरण के द्वारा उसका सम्यक् रूप से उपपादन किया।

का तर्हि काठकाद्याख्याया गतिरित्याशङ्क्य सम्प्रदायप्रवर्त्तनात् सेयमुपपद्यत इत्युत्तरं सूत्रयति—

'आख्या प्रवचनात्' (जै० १।१।३०) इति।

अस्तु इयमाख्याया गतिः। ततः परं ववराद्यनित्यदर्शनं यदुक्तं तस्य किमुत्तरमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० १।१।३१) इति।

यत् परं ववरादिकं तच्छब्दसामान्यमेव, न तु मनुष्यो ववरनामकोऽत्र विवक्षितः। ववरध्वनियुक्तस्य प्रवहणस्वभावस्य वायोरत्र वक्तुं शक्यत्वात्।

शब्दों की नित्यता के कारण वेदों की नित्यता सिद्ध हो जाती है, परन्तु काठक आदि समाख्याओं की क्या गति होगी? इसका समाधान देते हैं कि सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक होने के कारण वे समाख्याएँ वेद में आ गयीं। जिन अंशों का जिन लोगों ने अधिक रूप से अध्ययन-अध्यापन तथा प्रचार-प्रसार किया, उनके ही नामों से उन अंशों की प्रसिद्धि हो गयी। कठ के द्वारा किया गया—इस अर्थ में 'तेन कृतम्' इस सूत्र से अणादि प्रत्यय नहीं हुआ है, अपितु 'तेन प्रोक्तम्' इस सूत्र से प्रोक्त अर्थ में अणादि प्रत्यय हुआ है। इसलिये कोई दोष नहीं है।

समाख्याओं को उपपन्न करने के लिये यह युक्ति समुचित है, परन्तु ववर आदि अनित्य पदार्थों का वर्णन होने से वेदों की अनित्यता प्रतीत होती है। इसका समाधान देते हैं—'ववर आदि शब्दों के सम्बन्ध में सुनने में शब्दों की समानतामात्र समझना चाहिये।' जो बबर आदि शब्दों के आधार पर वेदों को अनित्य मानने का प्रयास किया गया, वह ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें केवल शब्दों की समानतामात्र है, दूसरा कोई कारण नहीं। ववर नाम का मनुष्य विवक्षित नहीं है। बबर रूप ध्वनि से युक्त तथा प्रवहण स्वभाव वाला वायु रूप अर्थ ही विवक्षित है। इसलिये वेदों की अनादिता में कोई बाधक नहीं है।

ननु वेदे क्वचिदेवं श्रूयते, 'वनस्पतयः सत्रमासत' 'सर्पाः सत्रमासत' इति। तत्र वनस्पतीनामचेतनत्वात्, सर्पाणां चेतनत्वेऽपि विद्यारहितत्वान्न तदनुष्ठानं सम्भवति। अतो 'जरद्गवो गायति मद्रकाणि' इत्याद्युन्मत्तबालवाक्यसदृशत्वात् केनचित् कृतो वेद इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'कृते चाविनियोगः स्यात् कर्मणः समत्वात्' (जै० १।१।३२) इति। यदि ज्योतिष्टोमादिवाक्यं केनचित् पुरुषेण क्रियते, तदानीं कृते तस्मिन् वाक्ये स्वर्गसाधनत्वे ज्योतिष्टोमस्य विनियोगो न स्यात्, साध्यसाधन-भावस्य पुरुषेण ज्ञातुमशक्यत्वात्। श्रूयते तु विनियोगः 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति। न चैतदुन्मत्तवाक्यसदृशं, लौकिकविधिवाक्यवद् भाव्यकरणेतिकर्त्तव्यतारूपैस्त्रिभिरंशैरुपेताया भावनाया अवगमात्। लोके हि ब्राह्मणान् भोजयेदिति विधौ किं, केन, कथमित्याकांक्षायां तृप्तिमुद्दिश्य, ओदनेन द्रव्येण, शाकसूपादिपरिवेषणप्रकारेणेति यथोच्यते, तथा ज्योतिष्टोमविधावपि स्वर्गमुद्दिश्य, सोमेन द्रव्येण, दीक्षणीयाद्यङ्गो-पकारप्रकारेण इत्युक्ते कथमुन्मत्तवाक्यसदृशं भवेत्।

वेद में कहीं यह भी सुना जाता है कि 'वनस्पतियों ने सत्रों का अनुष्ठान किया' 'सर्पों ने सत्रों का अनुष्ठान किया' इत्यादि। इन लोगों के द्वारा अनुष्ठान सम्भव नहीं है, क्योंकि वनस्पति अचेतन हैं और सर्पों को चेतन होने पर भी वे विद्यारहित हैं। यागों के अनुष्ठान के लिये चेतन होते हुए विद्यायुक्त होना आवश्यक है, अन्यथा उसका यागादि के अनुष्ठान में अधिकार ही न होगा। इसलिये 'जरद्गव मद्रक का गान करता है' इत्यादि वाक्यों को उन्मत्त (पागल) या बालक के वाक्यों के समान होने के कारण उसी प्रकार (पागल आदि) के मनुष्यों के द्वारा वेद बनाया गया है—इसका समाधान देते हैं—'वेद को पुरुष निर्मित मानने पर लौकिक कर्मों के समान होने के कारण वैदिक कर्मों के विनियोग का ज्ञान न हो सकेगा।'

यदि ज्योतिष्टोमादि के प्रतिपादक वाक्य को किसी पुरुष के द्वारा निर्मित मान लिया जाय, तो उस समय वाक्य के रचना करने पर भी स्वर्ग के साधन रूप में ज्योतिष्टोम आदि का विनियोग नहीं हो सकता था; क्योंकि स्वर्ग साध्य है और ज्योतिष्टोम साधन है—इस प्रकार के साध्यसाधनभाव को पुरुष नहीं जान सकता है। वेदों में विनियोग सुना जाता है, जैसे—'स्वर्गकाम पुरुष ज्योतिष्टोम याग करे' इत्यादि। इन वाक्यों को उन्मत्त के वाक्यों के समान नहीं माना जा सकता,

क्योंकि लौकिक विधि-वाक्यों के समान वैदिक-वाक्यों में भी साध्य, साधन तथा इतिकर्त्तव्यतारूप तीनों अंशों से युक्त भावना का ज्ञान होता है। जिस प्रकार लोक में 'ब्राह्मणों को भोजन कराओ' इस विधि वाक्य मे किं = साध्य, केन = साधन और कथम् = इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा होती है। उस आकांक्षा को शान्त करने के लिये कहा जाता है कि तृप्ति को उद्देश्य करके, ओदन (भात) आदि द्रव्यों से, शाकसूप आदि के परोसन प्रकार से भोजन कराओ। उसी प्रकार ज्योतिष्टोम आदि विधियों में भी स्वर्ग को उद्देश्य करके, सोम आदि द्रव्यों के द्वारा और दीक्षणीयादि अङ्गों के उपकार-प्रकार से स्वर्ग का सम्पादन करें—ऐसा कहा जाता है। अतः उन्मत्त-वाक्य-सदृश कैसे हो सकता है? अर्थात् उन्मत्त-वाक्य-सदृश मानकर वेदों को व्यर्थ नहीं सिद्ध किया जा सकता।

वनस्पत्यादिसत्रवाक्यमपि न तत्सदृशम्, तस्य सत्रकर्मणो ज्योतिष्टोमादिना समत्वात्। 'यत्परो हि शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायविद आहुः। ज्योतिष्टोमादिवाक्यस्य विधायकत्वादनुष्ठाने तात्पर्यम्। वनस्पत्यादिसत्रवाक्यस्य अर्थवादत्वात् प्रशंसायां तात्पर्यम्। सा च अविद्यमानेनाऽपि कर्त्तुं शक्यते। अचेतना अविद्वांसोऽपि सत्रमनुष्ठितवन्तः किं पुनश्चेतना विद्वांसो ब्राह्मणा इति सत्र स्तुतिः। चकारः पूर्वपक्षोक्तस्य वाक्यत्वहेतोः कर्त्रनुपलम्भेन परार्हति समुच्चिनोति। तस्मान्नास्ति वेदस्य पौरुषेयत्वम्।

वनस्पत्यादि के सत्रानुष्ठान के प्रतिपादक वाक्य भी उन्मत्तवाक्य के समान नहीं हैं; क्योंकि वे सत्र-कर्म भी ज्योतिष्टोम आदि के समान ही हैं। न्यायविदों का कहना है कि शब्द जिस अर्थ का बोधक होता है, वही शब्द का वाच्य-अर्थ होता है। ज्योतिष्टोमादि के प्रतिपादक वाक्यों को विधायक होने के कारण अनुष्ठान के विधान में तात्पर्य है और वनस्पत्यादि के द्वारा सत्रों के अनुष्ठान के प्रतिपादक वाक्यों को अर्थवाद होने के कारण प्रशंसा में तात्पर्य है। वह प्रशंसा अविद्यमान वस्तु से भी की जा सकती है। जब अचेतन और अविद्वान् लोगों ने भी उन सत्रों का अनुष्ठान किया, तो फिर चेतन, विद्वान् ब्राह्मणों की क्या बात है? अर्थात् वे तो अवश्य ही अनुष्ठान सम्पन्न कर सकते हैं। इस प्रकार से उन सत्रों की स्तुति की

जाती है। सूत्रस्थ चकार पूर्वपक्ष-प्रतिपादित वाक्यत्व हेतु के खण्डन का समुच्चय करता है; क्योंकि वेदों के कर्त्ता की उपलब्धि नहीं होती। इस पक्ष में अनुमान का स्वरुप इस प्रकार है—विवादास्पद वेद-वाक्य, अपौरुषेय है, अस्मर्यमाणकर्तृक होने के कारण। जो अस्मर्यमाणकर्त्तृक नहीं है, वह अपौरुषेय नहीं है, जैसे रघुवंश आदि। रघुवंश आदि स्मर्यमाणकर्त्तृक है इसीलिये पौरुषेय भी है अतः वेदों की पौरुषेयता सिद्ध नहीं की जा सकती।

अत्रेतौ संग्रहश्लोकौ—

पौरुषेयं न वा वेदवाक्यं स्यात् पौरुषेयता।
काठकादिसमाख्यानाद् वाक्यत्वाच्चान्य वाक्यवत्॥
समाख्यानं प्रवचनाद् वाक्यत्वं तु पराहतम्।
तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततोऽपौरुषेयता॥

(जै० न्या० मा० १/१/८) इति।

इस प्रसंग में माधवाचार्य के सङ्ग्रहश्लोकों को उद्धृत करते हैं। समस्त वैदिक वाक्य इस अधिकरण का विषय है। वे वाक्य पौरुषेय हैं। अथवा अपौरुषेय हैं—यह संशय है। वेदों में काठकादि समाख्याएँ समुपलब्ध होती हैं तथा अन्य वाक्यों के समान वेद-वाक्यों में भी वाक्यत्व है। अतः वाक्यत्व समान होने के कारण वेद पौरुषेय है। यह पूर्वपक्ष हुआ।

समाख्याओं को प्रवचन—निमित्तक मान लेने पर कोई दोष नहीं होता और उसके कर्त्ता का ज्ञान न होने से वाक्यत्व हेतु भी खण्डित हो जाता है। अतः वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध होती है।

ननु भगवता बादरायणेन वेदस्य ब्रह्मकार्यत्वं सूत्रितम्, 'शास्त्रयोनित्वात्' (वे० १।१।३) इति। ऋग्वेदादिशास्त्रकारणत्वात् ब्रह्म सर्वज्ञमिति सूत्रार्थः। बाढ़म्। नैतावता पौरुषेयत्वं भवति, मनुष्यनिर्मितत्वाभावात्। ईदृशमपौरुषेयत्वमभिप्रेत्य व्यवहारदशायामाकाशादिवन्नित्यत्वं बादरायणेनैव देवताधिकरणे सूत्रितम्, 'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२९)

इति । श्रुतिस्मृती चात्र भवतः—'वाचा विरूपनित्यया (ऋ० सं० ८।७५।६) इति श्रुतिः । 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' (म० म० शां० २३२।२४) इति स्मृतिः । तस्मात् कर्त्तृदोषशङ्कायाः अनुदयात् मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य निर्विघ्नं प्रामाण्यं सिद्धम् ।

शङ्का—भगवान् बादरायण (व्यास) ने अपने वेदान्त सूत्र में 'शास्त्रयोनित्वाद्' सूत्र के द्वारा वेद को ब्रह्म का कार्य माना है अर्थात् वेद को ब्रह्म के द्वारा निर्मित स्वीकार किया है । ऋग्वेद आदि सभी शास्त्रों के कारण होने से वह ब्रह्म सर्वज्ञ है—यही सूत्र का अर्थ है । इसलिए वेद अनादि नहीं हो सकता ।

समाधान—जो आपने कहा वह समुचित है; परन्तु ब्रह्म का कार्य होने के कारण वेद पौरुषेय नहीं हो सकता; क्योंकि वह मनुष्य के द्वारा निर्मित नहीं है । इसी प्रकार के अपौरुषेयत्व के अभिप्राय से ही आकाश आदि के समान व्यवहार दशा में वेदों को नित्य माना गया है । यह देवताधिकरण में 'अतएव च नित्यत्वम्' इस सूत्र से प्रतिपादित है । इसमें श्रुति तथा स्मृति भी प्रमाण है । जैसे ऋग्वेद-संहिता में कहा है कि हे अनेक रूपों को धारण करने वाले महर्षि विरूप ! उत्पत्ति आदि से रहित वाणी से स्तुति करो । इस वाक्य में वाणी को नित्य माना गया है । स्मृति में भी कहा गया है कि ब्रह्मा ने उत्पत्ति और विनाश से रहित वाणी की सृष्टि की । अतः वाणियों की नित्यता सिद्ध हो जाती है । वेद में कर्त्ता के दोष को आने की शङ्का नहीं की जा सकती; क्योंकि वेदों का कर्त्ता ब्रह्म निर्दोष है । इस प्रकार मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद का प्रामाण्य निर्विघ्न सिद्ध हो जाता है । एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है—कि पूर्वोक्त नित्यत्व मीमांसक-सम्मत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि मीमांसक वेदों को किसी का कार्य नहीं मानते, अन्यथा मीमांसक भी नैयायिक-मतप्रविष्ट माने जायेंगे । वेद स्वतः प्रमाण है, न कि ब्रह्म-कार्य होने के कारण । यदि ब्रह्म-कार्य होने से प्रामाणिकता मानी जायेगी, तो स्वतः—प्रामाण्य का भङ्ग हो जायेगा ।

॥ मन्त्रब्राह्मणयोः स्वरूपनिर्णयः ॥

ननु मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं वेदस्य न युक्तम्, तयोः स्वरूपस्य

निर्णेतुमशक्यत्वात् । मैवम् । द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे सप्तमाष्टमयोरधिकरणयोर्निर्णीतत्वात् ।

सप्तमाधिकरणमारचयति—

अहे बुध्निय मन्त्रं म इति मन्त्रस्य लक्षणम् ।
नास्त्यस्ति वास्य नास्त्येतदव्याप्त्यादेरवारणात् ॥
याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम् ।
तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते ॥

(जै० न्या० मा० २।१।७) इति ।

शङ्का—वेद को मन्त्रब्राह्मणात्मक बतलाया जा चुका है; परन्तु यह उचित नहीं है । कारण यह है कि मन्त्र और ब्राह्मण के स्वरूप का निश्चय नहीं किया जा सकता है ।

समाधान—यह शङ्का उचित नहीं है; क्योंकि द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद के सातवें तथा आठवें अधिकरण में इन दोनों के स्वरूपों का निर्णय किया गया है ।

सातवें अधिकरण की रचना करते हैं—

'अहे बुध्निय' इत्यादि मन्त्र इस अधिकरण का विषय है । मन्त्रों का लक्षण है या नहीं है—यह संशय है । मन्त्रों का लक्षण नहीं हो सकता; क्योंकि अव्याप्ति आदि दोषों का निवारण नहीं किया जा सकता—यह पूर्वपक्ष है । याज्ञिकों की समाख्या ही मन्त्रों का दोषरहित लक्षण है । याज्ञिकों ने जिसको मन्त्र रूप से निर्देश किया है, उसी को मन्त्र समझना चाहिए । याज्ञिक लोग याग आदि के अनुष्ठान के समय पदार्थों के स्मारक वाक्यों में मन्त्र शब्द का प्रयोग करते हैं । अतः उसी को मन्त्र कहना चाहिए ।

आधाने इदमाम्नायते—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' (तै० ब्रा० १।२।१।२६) इति । तत्र मन्त्रस्य लक्षणं नास्ति, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्वारयितुमशक्यत्वात् । विहितार्थाभिधायको मन्त्र इत्युक्ते 'वसन्ताय कपिञ्ज-

लानालभते' (वा० सं० २४।२०) इत्यस्य मन्त्रस्य विधिरुपत्वाद् अव्याप्तिः। मननहेतुर्मन्त्र इत्युक्ते ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिः। एवमसिपदान्तो मन्त्र उत्तमपुरुषान्तो मन्त्र इत्यादिलक्षणानां परस्परमव्याप्तिरिति चेत्?

आधान प्रकरण में मन्त्र-ब्राह्मण-विषयक 'अहे बुध्नियः' इत्यादि वाक्य पठित हैं। उसमें मन्त्र शब्द भी आया है; परन्तु यह समुचित नहीं है। कारण यह है कि मन्त्र का कोई निश्चित लक्षण नहीं बन सकता; क्योंकि अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषों को दूर नहीं किया जा सकता। जब तक इन दोषों का निराकरण नहीं होता, तब तक लक्षण साध्य का साधक नहीं हो सकता। दोषरहित लक्षण के बिना मन्त्र रूप से उसका व्यवहार भी नहीं किया जा सकता। लक्षण ही भिन्न पदार्थों से व्यावृत्त करने वाला तथा व्यवहार के निर्वाहक होता है। यदि कहा जाय कि जो विहित अर्थ का अभिधान करे, उसको मन्त्र कहते हैं, तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'वसन्ताय कपिञ्जलान्' इत्यादि मन्त्रों के विधिरुप होने से अव्याप्ति हो जायेगी। यदि मनन के हेतु को मन्त्र कहा जाय, तब ब्राह्मण वाक्यों में अतिव्याप्ति हो जायेगी; क्योंकि वे भी मनन के हेतु होते हैं। यदि असि पदान्त को या उत्तम पुरुषान्त वाक्य को मन्त्र कहा जाय, तब ये दोनों लक्षण स्वयं परस्पर अव्याप्ति-ग्रस्त सिद्ध होते हैं। अतः मन्त्र का कोई भी समुचित लक्षण नहीं सम्पन्न हो सकता। इसलिए मन्त्ररुप से किसी का व्यवहार उचित नहीं है। यह पूर्वपक्ष हुआ।

सिद्धान्त पक्ष को प्रस्तुत करते हैं—

मैवम्; याज्ञिकानां समाख्यानस्य निर्दोषलक्षणत्वात्। तच्च समाख्यान-मनुष्ठानस्मारकादीनां मन्त्रत्वं गमयति; 'उरु प्रथस्व' (तै० स० १।१।८।१) इत्यादयोऽनुष्ठानस्मारकाः, 'अग्निमीले पुरोहितम्' (ऋ० सं १।१।१) इत्यादयः स्तुतिरुपाः, 'इषे त्वा' (तै० स० १।१।१।१) इत्यादयस्त्वान्ताः। 'अग्न आयाहि वीतये' (तै० ब्रा० ३।५।२।१) इत्यादयः आमन्त्रणोपेताः। 'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२) इत्यादयः प्रैषरुपाः। 'अधः स्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्' (ऋ० सं० १०।१२९।५) इत्यादयो विचार-

रूपाः। 'अम्बे अम्बाल्यम्बिके न मानयति कश्चन' (तै० सं० ७।४।१९।१) इत्यादयः परिदेवनरूपाः। 'पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः' (तै० सं० ७।४।१८।२) इत्यादयः प्रश्नरूपाः। 'वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः (तै० सं० ७।४।१८।२) इत्यादय उत्तररूपाः। एवमन्यदपि उदाहार्यम्। ईदृशेषु अत्यन्तविजातीयेषु समाख्यानमन्तरेण नान्यः कश्चिदनुगतो धर्मोऽस्ति यस्य लक्षणत्वमुच्येत। लक्षणस्य चोपयोगः पूर्वाचार्यैर्दर्शितः —

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः।

लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥ इति।

तस्मादभियुक्तानां मन्त्रोऽयमिति समाख्यानं लक्षणम्।

पूर्वोक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि याज्ञिकों की समाख्या रूप दोषरहित लक्षण हो सकता है अर्थात् याज्ञिकों ने जिसका मन्त्र शब्द से व्यवहार किया है, वही मन्त्र है। याज्ञिकों की वह समाख्या अनुष्ठान के समय पदार्थों को बोध कराने वाले वाक्यों में मन्त्रत्व की ख्यापिका होती है। उदाहरण—'उरु प्रथस्व' इत्यादि वाक्य अनुष्ठान के समय पदार्थ-स्मारक हैं। 'अग्निमीले' इत्यादि स्तुतिरूप हैं। 'इषे त्वा' इत्यादि त्वान्त हैं। 'अग्न आयहि' इत्यादि आमन्त्रण से युक्त हैं। 'अग्नीदग्नीन्' इत्यादि प्रैषरूप हैं। 'अधः स्वित्' आदि विचाररूप हैं। 'अम्बे अम्बालि०' इत्यादि परिदेवन (विलाप) रूप हैं। 'पृच्छामि त्वा' इत्यादि प्रश्न-वाचक है। 'वेदिमाहुः' इत्यादि उत्तररूप है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस प्रकार के परस्पर अत्यन्त भिन्न मन्त्रों में समाख्या के अतिरिक्त दूसरा कोई अनुगत धर्म नहीं है, जिसको लक्षण रूप से माना जाय। पूर्वाचार्यों ने लक्षण का उपयोग वतलाया है—

सूक्ष्म-तत्त्वदर्शी ऋषि लोग भी एक-एक करके भिन्न रूप से सभी पदार्थों का ज्ञान करने में समर्थ नहीं हो सकते; परन्तु विद्वान् लोग लक्षण के द्वारा सभी सिद्ध पदार्थों का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये अभियुक्तों के द्वारा 'यह मन्त्र है' इस तरह की समाख्या जिनकी है, वे ही मन्त्र कहलाते हैं।

अष्टमाधिकरणमारचयति—

नास्त्येतद्ब्राह्मणेत्यत्र लक्षणं विद्यतेऽथवा।
नास्तीयन्तो वेदभागा इति क्लृप्तेरभावतः॥
मन्त्रश्च ब्राह्मणश्चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः।
अन्यद् ब्राह्मणमित्येतद् भवेद् ब्राह्मणलक्षणम्॥
(जै० न्या० मा० २।१।८) इति।

आठवें अधिकरण की रचना करते हैं—

समस्त ब्राह्मण वाक्य इस अधिकरण के विषय हैं। ब्राह्मण का निश्चित लक्षण है या नहीं—यह संशय है। वेदों में 'यहाँ तक ब्राह्मण भाग है'—ऐसा कोई निश्चय नहीं है। इसलिये इनका कोई लक्षण नहीं हो सकता—यह पूर्वपक्ष है। सिद्धान्त बतलाते हैं कि मन्त्र और ब्राह्मण वेद के दो भाग हैं। अतः मन्त्र से भिन्न वेद-वाक्य को ब्राह्मण समझना चाहिए। पहले ही मन्त्र का लक्षण बतला दिया गया है। इसलिये यही 'मन्त्रभिन्नत्वे सति वेदवाक्यत्वम्' ब्राह्मण का लक्षण होगा।

चातुर्मास्येषु इदमाम्नायते, 'एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' (तै० ब्रा० १।७।१।१) इति। तत्र ब्राह्मणस्य लक्षणं नास्ति। कुतः? वेद-भागानाभियत्तानवधारणेन ब्राह्मणभागेषु अन्यभागेषु च लक्षणस्य अव्याप्त्यतिव्याप्त्योः शोधयितुमशक्यत्वात्। पूर्वोक्तो मन्त्रभाग एकः। भागान्तराणि च कानिचित् पूर्वैरुदाहर्तुं संगृहीतानि—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना॥ इति॥

'तेन ह्यन्नं क्रियते' (श० ब्रा० २।५।२।२३) इति हेतुः। 'तद्दध्नो-दधित्वम्' (तै० सं० २।५।३।४) इति निर्वचनम्। 'अमेध्या वै माषाः' (तै० सं० ५।१।८।१ इति निन्दा। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (तै० सं० २।१।१।१) इति प्रशंसा। 'तद्व्यचिकित्सज् जुहवानी३ माहौष३म्'

(तै० सं० ६।५।९।१) इति संशयः। 'यजमानेन सम्मितौदुम्वरी भवति' (तै० सं० ६।२।१०।३) इति विधिः। 'माषानेव मह्यं पचन्ति' इति परकृतिः। 'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः' (तै० सं० १।५।७।५) इति पुराकल्पः। 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान् निर्वपेद्' (तै० सं० २।३।१२।१) इति विशेषावधारणकल्पना। एवमन्यदपि उदाहार्यम्।

चातुर्मास्य प्रकरण में 'एतद् ब्राह्मणान्येव' इत्यादि वाक्य सुने जाते हैं। इसमें ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया गया है। उस ब्राह्मग का कोई लक्षण नहीं है। कारण यह है कि वेद में ब्राह्मण भाग की इयत्ता (सीमा) का निर्धारण नहीं है। इसलिये ब्राह्मण भाग तथा उससे भिन्न भाग में लक्षण की अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति हो जायेगी और उसका निराकरण भी नहीं किया जा सकता है। पूर्वोक्त मन्त्रभाग वेद का एक भाग है। पूर्वाचार्यों ने उदाहरण के लिये अन्य भागों का संग्रह किया है—हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परक्रिया, पुराकल्प और व्यवधारण-कल्पना। उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—'तेन ह्यन्नं क्रियते' यह हेतु का वाचक है; क्योंकि इसमें प्रयुक्त 'हि' शब्द हेत्वर्थक है। 'तद्ध्नो दधित्वम्' यह निर्वचन (व्युत्पत्ति) का प्रतिपादक है। 'अमेध्या वै' इत्यादि से उड़द की अपवित्रता का प्रतिपादन करते हुए उसकी निन्दा की गयी है। 'वायुर्वै०' इत्यादि में शीघ्र-गामित्व रूप गुण के द्वारा वायु की प्रशंसा की गयी है। 'तद्व्यचिकित्सद्०' इत्यादि से संशय का उपपादन किया गया हैं। 'यजमानेन सम्मिता' इत्यादि से औदुम्बरी के परिमाण का विधान किया गया है। गूलर वृक्ष की शाखा को औदुम्बरी कहते हैं। 'माषान् एव' इत्यादि से परकृति (परनिष्ठा क्रिया) का बोध कराया गया है। 'पुरा ब्राह्मणाः' इत्यादि से पुराकल्प (प्राचीन वृत्तान्त) का प्रतिपादन है। 'यावतोऽश्वान्' इत्यादि में विशेष रूप से निर्धारण की कल्पना की गयी है। जितने अश्व-प्रतिग्रह होंगे, उतने ही वरुणदेवताक चतुष्कपाल के निर्वाप होंगे न अधिक न कम। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों को भी समझना चाहिए।

न च हेत्वादीनामन्यतमं ब्राह्मणमिति लक्षणम्, मन्त्रेष्वपि हेत्वादिसद्भावात्—'इन्दवो वामुशन्ति हि' (ऋ० सं० १।२।४) इति हेतुः। 'उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते' (तै० सं० ५।६।१।३, अथर्व ३।१।३।४) इति निर्वचनम् । 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता' (ऋ० सं० १०।११७।६) इति निन्दा । 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुद' (ऋ० सं० ८।४४।१६) इति प्रशंसा । 'अधः स्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्' (ऋ०.सं० १०।१२९।५) इति संशयः । 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) इति विधिः । 'सहस्रमयुता ददद्' (ऋ० सं० ८।२१।१८) इति परकृतिः। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (ऋ० सं० १।१६४।५०) इति पुराकल्पः। इतिकरणबहुलं ब्राह्मणमिति चेत्, न, 'इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत्' (तै० ब्रा० ३।९।१४।३) इत्यस्मिन् ब्राह्मणेन गातव्ये मन्त्रे (श० शा० १३।१।५।६) अतिव्याप्तेः; 'इत्याह' इत्यनेन वाक्येन उपनिबद्धं ब्राह्मणमिति चेत् ? न, 'राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह' (ऋ० सं० ७।४१।२) 'यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः, शुचिरस्मीत्याह' (ऋ०सं० ७।१०४।१६) इत्यनयोर्मन्त्रयोरतिव्याप्तेः। आख्यायिकारूपं ब्राह्मणमिति चेत्, न, यमयमीसंवादसूक्तादौ (ऋ० १०।१०) अतिव्याप्तेः । तस्मान्नास्ति ब्राह्मणस्य लक्षणमिति प्राप्ते—

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि हेतु आदि के प्रतिपादक वाक्यों में से किसी एक को ब्राह्मण कहा जाय; क्योंकि इस प्रकार के हेतु आदि का प्रतिपादन मन्त्रों में भी देखा जाता है। अतः ब्राह्मण-लक्षण का मन्त्रों में भी संघटित होने के कारण लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। उदाहरण—'इन्दवो वाम्' इत्यादि मन्त्र हेतु का वाचक है। इसमें प्रयुक्त 'हि' शब्द हेत्वर्थक है। 'उदानिषुः' इत्यादि मन्त्रों में उदक आदि का निर्वचन बतलाया गया है। 'मोघमन्नम्' से निन्दा बतलायी गयी है। 'अग्निमूर्द्धा' इत्यादि मन्त्रों से अग्नि की प्रशंसा की गयी है। 'अधःस्विद्' आदि से विचार प्रस्तुत करने के लिये संशय का उपन्यास किया गया है। 'वसन्ताय इत्यादि मन्त्रों से कपिञ्जल के आलम्भन का विधान

किया गया है। 'सहस्रमयुता' आदि मन्त्रों से परकृति तथा 'यज्ञेन यज्ञम्' आदि से पुराकल्प बतलाया गया है। यदि कहा जाय कि जिसमें इतिकरण अधिक हो, उसी को ब्राह्मण कहना चाहिए; परन्तु यह भी लक्षण ठीक नहीं है, क्योंकि 'इत्यददा' इत्यादि ब्राह्मणों के द्वारा गाने के योग्य मन्त्र में अतिव्याप्ति हो जायेगी। 'इत्याह' शब्द से सम्बद्ध वाक्यों को भी ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि 'राजा चिद्' 'यो मायातुम्' इत्यादि मन्त्रों में अतिव्याप्ति हो जायेगी। इन मन्त्रों में भी 'इत्याह' शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि कहा जाय कि जो आख्यायिका रूप वेदभाग है, उसी को ब्राह्मण कहना चाहिए; किन्तु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि यमयमीसंवादसूक्त आदि में अतिव्याप्ति हो जायेगी। वह भी आख्यायिका रूप ही है। इस प्रकार किसी तरह का दोषरहित लक्षण सम्पन्न न होने के कारण ब्राह्मण का लक्षण नहीं किया जा सकता। यह पूर्वपक्ष हुआ।

ब्रूमः—मन्त्रब्राह्मणरूपौ द्वावेव वेदभागावित्यङ्गीकारान्मन्त्रलक्षणस्य पूर्वमभिहितत्वादवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणमित्येतल्लक्षणं भविष्यति। तदेतल्लक्षणद्वयं जैमिनिः सूत्रयामास—

'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या'

'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० २।१।३२–३३) इति।

तस्मिन् वेदे केषुचिदभिधायकेषु वाक्येषु मन्त्र इति समाख्या सम्प्रदायविद्भिर्व्यवह्रियते—'मन्त्रानधीमहे' इति। मन्त्रव्यतिरिक्तभागे तु ब्राह्मणशब्दस्तैर्व्यवहृत इत्यर्थः।

ब्राह्मण—लक्षण के प्रसङ्ग में पूर्वपक्ष का प्रतिपादन करने के बाद सिद्धान्तपक्ष को प्रस्तुत करते हैं—मन्त्ररूप और ब्राह्मणरूप दो ही वेद के भाग माने गये हैं और मन्त्र का लक्षण पहले ही बतला दिया गया है। अतः मन्त्र से अवशिष्ट = भिन्न वेद भाग को ब्राह्मण कहना चाहिए। यही ब्राह्मण का दोषरहित लक्षण होगा। जैमिनि ने इन लक्षणों को सूत्र रुप में बतलाया है—विधायक वाक्यों की मन्त्र समाख्या (नाम) है। उससे अवशिष्ट वाक्यों में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी को ग्रन्थकार स्पष्ट करते हैं कि उस वेद में कुछ अभिधायक

भी वाक्य हैं। वैदिक सम्प्रदाय को जानने वाले विद्वानों ने उन्हीं वाक्यों को 'मन्त्र' नाम दिया है। 'हम मन्त्रों का अध्ययन करते हैं' उसी में ऐसा व्यवहार भी किया जाता है। मन्त्र से भिन्न वाक्यों में ब्राह्मण शब्द का व्यवहार किया गया है।

ननु ब्रह्मयज्ञप्रकरणे मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्ता इतिहासादयो भागा आम्नायन्ते—'यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः' (तै० आ० २।९) इति, मैवम्, विप्रपरिव्राजकन्यायेन ब्राह्मणाद्यवान्तर-भेदानामेव इतिहासादीनां पृथगभिधानात्। 'देवासुराः संयत्ता आसन्' (तै० सं० ५।३।१।१।१) इत्याद्य इतिहासाः। 'इदं वाअग्रे नैव किञ्चना-सीत्' (तै० ब्रा० २।२।९।१) इत्यादिकं जगतः प्रागवस्थामुपक्रम्य सर्ग-प्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्। कल्पस्तु आरुणकेतुकचयनप्रकरणे समाम्नायते—'इति मन्त्राः। कल्पोऽत ऊर्ध्वम्। यदि बलिं हरेत्,' (तै० आ० १।३१।२) इति। अग्निचयने 'यमगाथाभिः परिगायति' (तै० सं० ५।१।८।२) इति विहिता मन्त्रविशेषा गाथाः। मनुष्यवृत्तान्तप्रतिपादिका ऋचो नाराशंस्यः। तस्मान्मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्तभागाभावान्मन्त्रब्राह्मणस्व-रुपस्य लक्षितत्वात् तदुभयात्मकत्वं वेदस्य सुस्थितम्।

यदि कहा जाय कि वेद के ब्रह्मयज्ञ प्रकरण में मन्त्र और ब्राह्मण से भिन्न इतिहास आदि भाग भी सुने जाते हैं, जैसे—वेद में जो ब्राह्मण, इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, और नाराशंसी आदि हैं। जब इतिहास आदि भी वेद के भाग हैं, तब मन्त्र और ब्राह्मण मात्र के समुदाय को वेद कहना समुचित नहीं होगा, क्योंकि यह लक्षण अव्याप्त माना जायेगा। परन्तु यह ठीक नहीं है। कारण यह है कि विप्रपरिव्राजक-न्याय से ब्राह्मण आदि वेद के भागों के अवान्तर भेदों का ही इतिहास आदि रूप से पृथक् कथन किया गया है। उदाहरण—'देव और असुर (राक्षस) युद्ध के लिये सन्नद्ध थे' इत्यादि इतिहास हैं। 'अग्रे = सृष्टि के प्रारम्भ में यह कुछ भी नहीं था' इत्यादि ब्राह्मण से संसार की प्रारम्भावस्था का उपक्रम करके सर्ग = सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार सृष्टि के प्रतिपादक वाक्यों के समूह को पुराण कहते हैं। आरुणकेतुकचयन प्रकरण में कल्प सुना जाता है—

एतत्पर्यन्त मन्त्र है और इसके आगे "यदि वलिं हरेत्" आदि कल्प हैं। अग्निचयन प्रकरण में कहा गया कि 'यमगाथा से गान करे'—इससे विहित मन्त्रविशेष गाथा कहलाते हैं। मनुष्यों के इतिहास का प्रतिपादन करने वाली ऋचाएँ नाराशंसी कहलाती हैं। इसलिए मन्त्र और ब्राह्मण से भिन्न वेद का कोई भाग नहीं है और मन्त्र तथा ब्राह्मण का स्वरूप लक्षणों के द्वारा पहले बतला दिया गया है। अतः मन्त्रब्राह्मणात्मकत्व वेद का लक्षण सुसम्पन्न हो जाता है।

॥ मन्त्रत्रैविध्यविचारः ॥

मन्त्रावान्तरविशेषश्च तस्मिन्नेव पादे इत्थं विचारितः।
नर्क्सामयजुषां लक्ष्म साङ्कर्यादिति शङ्किते।
पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसङ्करः॥
(जै० न्या० २।१।१०) इति।

मन्त्र तथा ब्राह्मण का स्वरूप बतला दिया गया। अब मन्त्र-भेद का निरुपण करते हैं। उसी पाद में (द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद) मन्त्र और उनके अवान्तर भेद-विशेष का इस प्रकार विचार किया गया है। ऋगादि मन्त्रविशेषों का लक्षण इस अधिकरण का विचारणीय विषय है। इनका लक्षण हो सकता है या नहीं—यह संशय है। परस्पर लक्षण का साङ्कर्य होने के कारण ऋक्, साम तथा यजुः का लक्षण नहीं हो सकता है। यह पूर्वपक्ष है। पादबद्धता, गीतियुक्तता और प्रश्लिष्टपाठरुपता को साङ्कर्यादि दोषरहित लक्षण माना जाता है। अतः यही उनके लक्षण हैं—यही सिद्धान्त है। इसी को विस्तर के अनुसार स्पष्ट करते हैं।

इदमाम्नायते 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः'। 'ऋचः सामानि यजूंषि' (तै० ब्रा० १।२।१।२६) इति। त्रीन् वेदान् विदन्ति इति त्रिविदः, त्रिविदां सम्बन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः। ते च यं मन्त्रभागमृगादिरुपेण त्रिविधमाहुस्तं गोपाय इति योजना। तत्र त्रिविधा-नामृक्सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणं नास्ति; कुतः? साङ्कर्यस्य दुष्परिहर-त्वात्। अध्यापकप्रसिद्धेषु ऋग्वेदादिषु पठितो मन्त्र इति हि लक्षणं वक्त-व्यम्। तच्च सङ्कीर्णम्। 'देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः

सूर्यस्य रश्मिभिः' (तै० सं० १।१।५।१) इत्ययं मन्त्रो यजुर्वेदे सम्प्रतिपन्नो यजुषां मध्ये पठितः। न च तस्य यजुष्ट्वमस्ति, तद्ब्राह्मणे 'सावित्र्यर्चा' (तै० ब्रा० ३।२।५।३) इति ऋक्त्वेन व्यवहृतत्वात्। 'एतत् साम गायन्नास्ते' (तै० आ० ९।१०।५) इति प्रतिज्ञाय किञ्चित् साम यजुर्वेदे गीतम्। 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि' (छा० उप० ३।१७।६) इति त्रीणिय जूँषि सामवेदे समाम्नातानि। तथा गीयमानस्य साम्नः आश्रय-भूता ऋचः सामवेदे समाम्नायन्ते। तस्मान्नास्ति लक्षणमिति चेत्—

पहले पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—वेदों में ऐसा सुना जाता है कि हे अहिर्बुध्निय! त्रिविद ऋषियों ने जिनका ज्ञान किया है, उन ऋक्, साम और यजुः रुप मन्त्रों की रक्षा करो। जो तीनों वेदों को जानते हैं, उन्हें त्रिविद् कहते हैं। उन त्रिविदों से अध्ययन करने वाले छात्रों को त्रैविद कहते हैं। वे त्रैविद जिस मन्त्र भाग को ऋगादि रुप से तीन प्रकार के बतलाये हैं, उन तीन प्रकार के मन्त्रों की रक्षा करो—यह ग्रन्थ की सङ्गति है। उपर्युक्त ऋक्, साम और यजुः रुप तीन प्रकार के मन्त्रों का सुव्यवस्थित लक्षण नहीं है; क्योंकि परस्पर साङ्कर्य का परिहार सम्भव नहीं है। वेदों के अध्यापकों के द्वारा प्रसिद्ध ऋग्वेदादि में पठित मन्त्रों को ऋगादि कहना चाहिए—यह लक्षण किया जा सकता है; परन्तु यह लक्षण सङ्कीर्ण है। 'देवो वः' इत्यादि मन्त्र यजुर्वेद के यजुर्मन्त्रों के बीच में पठित है। इसमें कोई विवाद भी नहीं है; किन्तु इसमें यजुष्ट्व नहीं है; क्योंकि उसी के ब्राह्मण में 'सावित्र्यर्चा' इत्यादि के द्वारा ऋङ्मन्त्र रुप से व्यवहार किया गया है। 'इस साम का गान कर रहा है'—ऐसी प्रतिज्ञा करके यजुर्वेद में भी कुछ साम मन्त्रों का गान किया गया है। सामवेद में 'अक्षितमसि' इत्यादि तीन यजुः मन्त्र पठित हैं। उसी प्रकार गीयमान (गाये जाने वाले) साम के आश्रयभूत ऋचाएँ सामवेद में सुनी जातीं हैं। अतः परस्पर साङ्कर्य होने के कारण ऋगादि का लक्षण नहीं हो सकता। यही पूर्वपक्ष है।

न, पादादीनामसङ्कीर्णलक्षणत्वात्। पादेन अर्थेन चोपेता वृत्तवद्धा मन्त्रा ऋचः, गीतिरुपा मन्त्राः सामानि, वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्ट-

पठितमन्त्रा यजूँषि—इत्युक्ते न क्वापि सङ्करः। तदेतत् त्रैविध्यं जैमिनिना सूत्रत्रयेण लक्षितम्—

'तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था'

'गीतिषु सामाख्या'

शेषे यजुःशब्दः' (जै० सू० २।१।३५–३७) इति। एतमेव मन्त्रावान्तरविशेषमुपजीव्य वेदानामृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद इति त्रैविध्यं सम्पन्नम्।

पूर्वोक्त पूर्वपक्ष समुचित नहीं है; क्योंकि पादादि रुप लक्षण साङ्कर्य-दोष-रहित है। पाद और अर्थ से युक्त छन्दोवद्ध मन्त्र को ऋक् कहते हैं, गीति से युक्त मन्त्रों को साम और वृत्त एवं गीति से रहित केवल प्रश्लिष्ट रुप से पठित मन्त्रों को यजुः कहते हैं। इस प्रकार लक्षण का निर्वचन करने पर परस्पर साङ्कर्य की सम्भावना नहीं होती। जैमिनि ने इनका त्रैविध्य तीन सूत्रों के द्वारा वतलाया है। जिसमें अर्थ के अनुसार पादों की व्यवस्था होती है, उन्हें ऋक् कहते हैं। जिन मन्त्रों पर गान किया जाता है, उन्हें साम कहते हैं। इन दोनों से भिन्न केवल प्रश्लिष्ट रुप से पठित मन्त्रों को यजुः कहा जाता है। इन्हीं मन्त्रों के अवान्तर भेदों को उपजीव्य (आधार) मानकर वेदों का ऋक्, यजुः और साम रुप त्रैविध्य सम्पन्न होता है।

॥ वेदाध्ययनस्यावश्यकता ॥

तेषां च वेदानां सर्वेषामन्यतमस्य वा स्वप्रज्ञानुसारेण अध्ययनमुपनीतेन कर्त्तव्यम्। तथा च याज्ञवल्क्यः स्मरति—

'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्' इति। एकवेदपक्षे पितृपितामहादिपरम्पराप्राप्त एव वेदोऽध्येतव्य इत्यभिप्रेत्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य (तै० आ० २।१५) इति 'स्व' शब्द आम्नातः। तच्चाऽध्ययनं न काम्यम् किन्तु नित्यम्। अत एव पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्—

'वेदस्याध्ययनं नित्यमनध्ययने पातात्' इति। पातित्यञ्चैवमाम्नायते—'अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रं वा एतत्, तं योऽनूत्सृजत्यभागो वाचि

भवत्यभागो नाके तदेषाभ्युक्ता यस्तित्याज सखिविदं सखायम्, न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति। यदीं शृणोत्यलीकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थामिति। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५) इति। अध्येतारं पुरुषं तदीयप्रयासाभिज्ञानेन सखिवत् पालयतीति सखिविद् वेदः। बहुद्रव्यप्रयाससाध्यक्रतुफलस्य अध्ययनमात्रेण सम्पादनं तत्पालनम्। तदपि आम्नायते—

'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' (तै० आ० २।१५) इति।

मन्त्र आदि के लक्षणों को बतलाते हुए वेदों का साङ्गोपाङ्ग निरुपण किया गया। अब उनके अध्ययन की आवश्यकता प्रदर्शित करते हैं। यज्ञोपवीत संस्कार से युक्त द्विज-बालक अपनी बुद्धि-प्रतिभा के अनुसार उन वेदों में से सभी का अथवा किसी एक का अध्ययन करे। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि तीनों वेदों का अथवा दो वेदों या एक भी वेद का अवश्य अध्ययन करे। एक वेद के अध्ययन पक्ष में पिता, पितामहादि की परम्परा से प्राप्त वेद का ही अध्ययन करना चाहिए। इसी अभिप्राय से 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में 'स्व' शब्द का पाठ किया है। यह वेदाध्ययन काम्य-कर्म नहीं है, अपितु नित्य कर्म है। इसीलिये पुरुषार्थानुशासन ग्रन्थ में सूत्र रूप से बतलाया है। 'वेद का अध्ययन नित्य है। अध्ययन न करने से पतित हो जाता है'। तैत्तिरीय आरण्यक में उसका पातित्य इस प्रकार सुना जाता है—

वेदों का अध्ययन पापों को नाश करने वाला तथा देवताओं को पवित्र करने वाला है। जो पुरुष इस प्रकार के वेदाध्ययन का परित्याग कर देता है, उसे न वाणी में भाग (अधिकार) होता है और न स्वर्ग में ही अधिकार होता है। यह मन्त्रों में कहा गया है—जिसने अध्येता के प्रति मित्रभाव को जानने वाले वेदों के अध्ययन को छोड़ दिया है, उसका वाणी में भाग नहीं होता। वह जो कुछ वेद-वाणियों से भिन्न वाक्यों को सुनता है, वह व्यर्थ है; क्योंकि उसके द्वारा धर्म के मार्ग को नहीं समझ सकता। धर्म के मार्ग को समुचित रुप से समझने के लिए एकमात्र वेद ही साधन है, अन्य नहीं। इसीलिये स्वाध्याय का अध्ययन करना

चाहिए। वह वेद पुरुष अध्ययन करने वाले पुरुषों को सखि (मित्र) के समान पालन करता है; क्योंकि उसके परिश्रम को भली-भाँति जानता है। अतएव वेद को सखिवित् कहा गया है। अत्यधिक द्रव्य तथा परिश्रम से प्राप्त होने वाले यागों के फलों को अध्ययनमात्र से प्रदान करना ही उसका पालन है। जिस यज्ञ के अनुष्ठान से जो फल प्राप्त होता है, वह फल वेदाध्ययनमात्र से प्राप्त हो जाता है। तैत्तिरीय आरण्यक में यह भी सुना जाता है—

'अध्येता जिन-जिन यागों का अध्ययन करता है, उन-उन यागों से उसके इष्ट-फल की प्राप्ति हो जाती है और अन्त में अग्नि, वायु आदित्य के सायुज्य को प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि एतद् ब्रह्मयज्ञस्वाध्यायफलं तथापि ग्रहणार्थाध्ययनमन्तरेण ब्रह्मयज्ञासम्भवात् तदीयफलमपि सम्पद्यते। ईदृशं सखिविदं वेदरूपं सखायं यः पुमान् अध्ययनमकृत्वा परित्यजति तस्य वाच्यपि भाग्यं नास्ति, फले भाग्यं नास्तीति किमु वक्तव्यम्। सकलदेवतानां धर्मस्य परब्रह्मतत्त्वस्य च प्रतिपादकं वेदमनुच्चार्य परनिन्दानृतकलहादिहेतुं लौकिकीं वार्त्तां सर्वत्रोच्चारयतः स्पष्ट एव वाचि भाग्याभावः। अतएवाम्नायते—'नानुध्यायद्बहूञ्शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्'। (बृ० उ० ४।४।२१) इति।

यद्यप्यसौ काव्यनाटकं शृणोति तथापि निरर्थकमेव तच्छ्रवणं, तेन सुकृतमार्गज्ञानाभावादित्यर्थः।

स्मृतिरपि—

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

एवमन्यान्यपि बहूनि वचनान्यत्र उदाहर्त्तव्यानि। (मनु० २।१६८) इति।

पूर्व में आदित्यादि-सायुज्य, पापों का विनाश तथा वाणी में भाग की प्राप्ति आदि फल बतलाये गये हैं। यद्यपि ये सब फल ब्रह्मयज्ञ रूप स्वाध्याय के हैं तथापि

अक्षर-ग्रहण के लिये किया गया अध्ययन के विना ब्रह्मयज्ञ ही सम्भव नहीं है। अतः अक्षर-ग्रहण को ब्रह्मयज्ञ के कारण होने से अक्षरग्रहणाध्ययन के भी परम्परया वे सब फल माने जाते हैं। वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन करना ही ब्रह्मयज्ञ कहलाता है और परम्परा-प्राप्त स्वशाखा का अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाता है। जो पुरुष इस प्रकार के मित्रभाव को जानने वाले वेदरूपी मित्र का अध्ययन न करके उनका परित्याग कर देते हैं, उनका वाणी में भी भाग नहीं रहता; फल में भाग नहीं रहता—इसमें क्या कहना है ? अर्थात् फल की प्राप्ति तो किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। सभी देवताओं, धर्म तथा परब्रह्म रुप तत्त्व के प्रतिपादक वेदों का उच्चारण (अध्ययन) न करके दूसरों की निन्दा, मिथ्या-भाषण और कलह आदि के हेतुभूत लौकिक शास्त्रों के अध्ययन करने वालों को स्पष्टरुप से वाणी में भाग का अभाव है। इसीलिये ऐसा सुना जाता है कि अनेक लौकिक शास्त्रों का अध्ययन नहीं करना चाहिए; क्योंकि अधिक शास्त्रों के अध्ययन से केवल वाणी को क्षीण करना है। उससे कुछ भी लाभ की सम्भावना नहीं है। जो इन काव्य तथा नाटक आदि का श्रवण करते हैं; उनका उन शास्त्रों का श्रवण निष्प्रयोजन ही है; क्योंकि उन शास्त्रों के श्रवण से धर्म के मार्गों का ज्ञान नहीं हो सकता। मनुस्मृति में भी कहा गया है कि जो द्विज वेदों का अध्ययन न करके अन्य शास्त्रों में परिश्रम करते हैं, वे जीवित रहते हुए भी अपने पूरे वंश के साथ शीघ्र ही शूद्रता को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् द्विज होते हुए भी वैदिक कार्यों से बहिष्कृत हो जाते हैं। इस विषय में दूसरे-दूसरे अनेक वचनों को उदाहरण रुप से उपस्थित करना चाहिए।

॥ वेदाध्ययनस्य फलप्रतिपादनम् ॥

ननु अधीते वेदे पश्चात् अध्ययनविध्यर्थं ज्ञानं, ज्ञाने सति पश्चात् अध्ययनप्रवृत्तिरित्यन्योन्याश्रय इति चेत् ? वाढम्; अतएव गुरुमतानुसारिण आचार्य्यकर्त्तृकाध्यापनेन प्रवृत्तियुक्ति माणवकाध्ययनस्य महता प्रयासेन सम्पादयन्ति। मतान्तरानुसारिणस्तु प्रकाशात्मादयोऽध्ययनात् प्रागेव सन्ध्यावन्दनादिविधिज्ञानवत् पित्रादिभ्योऽध्ययनविज्ञानं वर्णयन्ति।

यद्यध्यापनविधिप्रयुक्तिर्यदि वा स्वविधिप्रयुक्तिः, सर्वथापि उपनीतैरध्येतव्य एव वेदः। तस्य च अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वमक्षरग्रहणान्तत्वं च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्। तानि सूत्राणि तद्वृत्तिं च उदाहरामः।

वेदाध्ययन की आवश्यकता का प्रतिपादन करने के पश्चात् वेदाध्ययन के फल का विचार प्रस्तुत करते हैं। अभी तक यह कहा गया कि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस अध्ययन-विधि से ही वेदाध्ययन में प्रवृत्ति होती है। इसी विधि को अध्ययन-विधि कहते हैं; क्योंकि इसी से अध्ययन का विधान किया गया है। अध्ययन-विधि के द्वारा अध्ययन में प्रवृत्ति मानना समुचित नहीं हैं। कारण यह है कि वेदों के अध्ययन करने के बाद अध्ययन-विधि का अर्थ-ज्ञान होगा; क्योंकि अध्ययन-विधि भी वेदों के अन्तर्गत ही है और अध्ययन-विधि के ज्ञान के पश्चात् वेदों के अध्ययन में प्रवृत्ति होगी। अतः परस्पर सापेक्ष होने के कारण अन्योन्याश्रय दोष आ जायेगा। अन्योन्याश्रय-दोष-ग्रस्त कार्य सम्पन्न नहीं हो सकते हैं। अतः वेदाध्ययन ही सम्भव नहीं हैं और न अध्ययन-विधि का अर्थ-ज्ञान। इसका समाधान देते हैं कि प्रश्न समुचित ही है; परन्तु प्रभाकर (गुरु) सिद्धान्त का अनुसरण करने वाले विद्वान् अध्यापन-प्रयुक्त ही अध्ययन मानते हैं। आचार्यकर्त्तृक अध्यापन से ही माणवक (छात्र) की प्रवृत्ति होती है। अभिप्राय यह है कि 'आठ वर्ष के द्विज-बालक का उपनयन संस्कार करे और उसे वेदों को पढ़ावे' (अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत)—यह आचार्यत्व का साधक विधि है। आचार्य अपने आचार्यत्व की सिद्धि के लिए वेदों को पढ़ावें। इस नियम के अनुसार वह अपने उपकार के लिए माणवक की अध्ययन-प्रवृत्ति का सम्पादन स्वयं करेगा। इसलिये आचार्य के द्वारा ही माणवक की प्रवृत्ति सिद्ध हो जाती है और वह वेदाध्ययन प्रारम्भ कर देता है। इस पक्ष में अध्ययन में प्रवृत्ति के लिए अध्ययन-विधि के अर्थ-ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। आचार्य के द्वारा प्रवृत्त छात्र वेदाध्ययन करेगा और उसके अध्ययन के पश्चात् वेदों के अन्तर्गत स्थित अध्ययन-विधि का भी ज्ञान कर लेगा। अतः परस्पर सापेक्ष न होने के कारण अन्योन्याश्रय दोष का लेश भी नहीं है। गुरु-मत के आचार्यों ने इस पक्ष को महान् प्रयत्न से युक्ति-प्रमाण के द्वारा सुस्थिर किया है।

यदि कहा जाय कि प्रभाकर-मत में अन्योन्याश्रय का निवारण किया गया; किन्तु कुमारिल भट्ट आदि आचार्यों के सिद्धान्त में अन्योन्याश्रय रह ही जायेगा; क्योंकि उनके मत में आचार्यत्व-सिद्धि के लिये अध्यापन नहीं माना जाता। इसका समाधान देते हैं कि दूसरे मत को मानने वाले अर्थात् भट्ट आदि के मत का अनुसरण करने वाले प्रकाशात्म स्वरूपाचार्य आदि विद्वानों का कहना है कि वेदाध्ययन के पहले ही सन्ध्यावन्दनादि के बोधक विधि के समान पिता आदि से अध्ययन की अवश्यकर्त्तव्यता का ज्ञान हो जाता है। अध्ययन विधि से ही उसका ज्ञान करना आवश्यक नहीं है। अतः प्रभाकर-मत के समान इनके मत में भी अन्योन्याश्रय दोष का परिहार हो जाता है।

यदि कहा जाय कि भट्ट तथा प्रभाकर दोनों के मतों में अध्ययन-विधि के विना ही माणवक की वेदाध्ययन में प्रवृत्ति हो जाती है। तब अध्ययन के विधान की आवश्यकता न होने के कारण अध्ययन-विधि व्यर्थ हो जायेगी। इसका समाधान है कि माणवक की प्रवृत्ति आचार्य के द्वारा हो या पिता आदि के द्वारा; परन्तु उन लोगों को तो वेद-प्रतिपादित अध्ययन-विधि से ही ज्ञान प्राप्त हुआ है। वेदों के अध्ययन की परम्परा अनादि है। अतः प्रथम पुरुष को अध्ययन-विधि से ही ज्ञान हुआ और उसके पश्चात् परम्परा से भी ज्ञान होता चला आया। इससे उस विधि का वैयर्थ्य नहीं हो सकता। चाहे अध्ययन-विधि प्रयुक्त माणवक की प्रवृत्ति हो अथवा स्वविधि-प्रयुक्त हो; किन्तु दोनों पक्षो में भी उपनयन-संस्कार से युक्त माणवक को वेदों का अध्ययन अवश्य ही करना चाहिए। पुरुषार्थानुशासन में उस अध्ययन का दृष्टार्थत्व तथा अक्षरग्रहणान्तत्व सूत्र रूप से प्रदर्शित किया है। उन सूत्रों और उनकी वृत्तियों को उदाहरण रूप से प्रस्तुत किया जाता है—

अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं साधयितुं पूर्वपक्षयति—

'अदृष्टार्था त्वधीतिर्विहितत्वात्' इति।

दृष्टफलसाधने भोजनादौ विध्यदर्शनात् विहितमपि अध्ययनमदृष्टार्थमवगन्तव्यम्।

अदृष्टविशेषो न श्रुत इति चेत् ? तत्राह—

'घृतकूल्याद्यतिदेशः स्वर्गकल्पनं वा' इति।

ब्रह्मयज्ञजपाध्ययनार्थवादं नित्याध्ययनेऽतिदिश्य तत्रत्यं घृतकूल्यादिकं रात्रिसत्रन्यायेन फलत्वेन कल्पनीयम् । ये तु अर्थवादातिदेशं नेच्छन्ति, तैर्विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गः कल्पनीयः।

दृष्टफलयोः संस्कारप्राप्त्योः सम्भवे कथमदृष्टकल्पना इत्यत आह 'अयुक्ते संस्कारप्राप्ती' इति।

संस्कृतस्वाध्यायस्य क्वचित् क्रतौ विनियोगादर्शनात् प्राप्तेः स्वयमपुरुषार्थत्वाच्चेत्यर्थः।

स्वाध्यायप्राप्तिरर्थप्रमितिहेतुतया पुरुषार्थ इत्याशङ्क्य विषनिर्हरणादिकार्यविनियुक्तमन्त्रवत् अध्ययनाङ्गतया विनियुक्तानां ज्योतिष्टोमादिवाक्यानां न स्वार्थे प्रामाण्यमित्याह—

'अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम्' । इति।

अध्ययन की दृष्टार्थता को सिद्ध करने के लिये पहले पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं— 'वेदों का अध्ययन अदृष्ट-फलक है; क्योंकि उसका विधान किया गया है' । जिसका विधान किया जाता है, वह प्रायः अदृष्ट फल के लिये ही होता है—जैसे— ज्योतिष्टोम आदि । उन यागों का दृष्ट फल नहीं है । इसीलिये उनका विधान किया गया है । जो दृष्ट फल वाले कार्य होते हैं, उनका विधान नहीं होता, जैसे—भोजन आदि । भोजन का तृप्ति रुप दृष्ट ही फल है, अदृष्ट नहीं । अतः भोजन का विधान नहीं किया गया है । ज्योतिष्टोम आदि के समान अध्ययन भी विहित है । इसलिए वह अदृष्ट-फलक ही होगा।

यदि कहा जाय कि ज्योतिष्टोम आदि का स्वर्ग आदि अलौकिक फल बतलाया गया है, इसलिए उनका अदृष्ट फल मान लिया जाता है; किन्तु अध्ययन-विधि के द्वारा किसी भी फल का विधान नहीं किया गया है। अतः अदृष्ट-विशेष का श्रवण न होने से अध्ययन को अदृष्ट-फलक नहीं माना जा सकता । इसका समाधान देते हैं—'घृतकूल्यादि का अतिदेश करके या फल रुप से स्वर्ग की कल्पना करके अदृष्ट विशेष रुप फल को मानना चाहिए' ।

तैत्तिरीय आरण्यक में कहा है कि जो ऋक् का अध्ययन करते हैं, उनके पितृगण दूध की नदी प्राप्त करते हैं, जो यजुः का अध्ययन करते हैं, उनके पितर सोम को और जो अथर्व का अध्ययन करते हैं, उनके पितर मधु की नदी प्राप्त करते हैं। यह वेदाध्ययन के सम्बन्ध में अर्थवाद-वाक्य है। इस ब्रह्मयज्ञ, जप तथा अध्ययन-सम्बन्धी अर्थवाद में पठित घृतकूल्यादि फल का नित्य वेदाध्ययन में रात्रिसत्रन्याय से अतिदेश करके इसी को अध्ययन-विधि का भी फल मान लेना चाहिए। रात्रिसत्रन्याय का अभिप्राय यह है—रात्रिसत्र नामक याग के विधायक वाक्य में किसी प्रकार का फल श्रुत नहीं है। इसलिये उस याग का क्या फल होगा—यह जिज्ञासा होती है। कोई फल नहीं होता—ऐसा तो कह नहीं सकते हैं; क्योंकि निष्फल कर्म का कोई अनुष्ठान न करेगा। कहा भी है—'न कुर्यान्निष्फलं कर्म' इत्यादि। उस याग के वैयर्थ्य-परिहार के लिये कहा गया कि विधि में फल श्रुत न होने पर उस विधि के समीप पठित अर्थवाद-वाक्यगत फल का अतिदेश करके विधि का भी वही आर्थवादिक फल मान लेना चाहिए। रात्रिसत्रयाग के अर्थवाद-वाक्य 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा एते' य एता रात्रीरुपयन्ति' इत्यादि में प्रतिष्ठा रुप फल का प्रतिपादन किया गया है। अत्यन्त समीप होने के कारण यही आर्थवादिक फल रात्रिसत्र का भी माना जाता है। अतः याग निष्फल नहीं है। प्रतिष्ठा रुप फल चाहने वाले उसका अनुष्ठान करेंगे। निष्कर्ष यह हुआ कि जिस यागादि का फल श्रुत नहीं है, उसका आर्थवादिक फल ही मानना चाहिए। यही रात्रिसत्रन्याय है। न्याय शब्द का अधिकरण अर्थ होता है। अधिकरण भी वैयाकरण सम्मत आधार रुप नहीं है और न नैयायिक के समान न्याय शब्द पञ्चावयव का वाचक है। जिसमें विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त तथा निर्णय का विचार किया जाता है, मीमांसक उसी को अधिकरण कहते हैं।

जो विद्वान् आर्थवादिक फल का अतिदेश करना नहीं चाहते हैं, उनको भी विश्वजिन्न्याय से स्वर्ग रूप फल की कल्पना करनी चाहिए। कारण यह है कि फल के विना उसका अनुष्ठान कोई नहीं करेगा, तो व्यर्थ होने लगेगा। विश्वजिन्न्याय का तात्पर्य यह है—जिस याग के विधायक वाक्य में तथा उसके अर्थवाद में भी फल श्रुत न हो, तब उसका स्वर्ग ही फल मानना चाहिए; क्योंकि वह स्वर्ग

समान रूप से सभी पुरुषों के द्वारा अभिलषित है। प्रायः सभी व्यक्ति स्वर्ग के लिये लालायित रहते हैं। जैमिनि ने भी कहा है कि समान रूप से सबों के इच्छा-विषयीभूत होने के कारण स्वर्ग को ही फल मानना चाहिए। (स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्) 'विश्वजिता यजेत' इस विधि से विश्वजित् याग का विधान किया गया है; परन्तु उसके फल का निर्देश नहीं किया है और न आर्थ-वादिक फल ही है कि उसका अतिदेश भी कर लिया जाय। ऐसी परिस्थिति में इस प्रकार के फल की कल्पना करनी चाहिए, जिसमें किसी को विवाद न हो। कोई धन चाहता है, तो कोई पुत्र चाहता है। कोई प्रतिष्ठा चाहता है, तो कोई पशु चाहता है। इसलिए इन फलों की कल्पना विवादग्रस्त है। स्वर्ग को सब लोग समान रुप से चाहते हैं। इसमें कोई विवाद नहीं है। अतः इसी को फल मान लिया गया है। निष्कर्ष यह है कि जहाँ आर्थवादिक फल भी न श्रुत हो, वहाँ स्वर्ग को फल मानना चाहिए। अध्ययन का भी स्वर्ग फल माना जा सकता है। अभिप्राय यह हुआ कि रात्रिसत्रन्याय से घृतंकूल्यादि या विश्वजिन्न्याय से स्वर्ग को फल माना जाय, परन्तु अध्ययन-विधि व्यर्थ नहीं है।

यदि कहा जाय कि संस्कार और प्राप्ति-रूप दृष्टफल के सम्भव रहने पर स्वर्गादि अदृष्ट फल की कल्पना कैसे होगी; क्योंकि कहा गया है कि दृष्ट फल सम्भव हो, तो अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करनी चाहिए, (लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्ट-परिकल्पना)। एवं अदृष्ट से दृष्ट फल को श्रेष्ठ माना जाता है, (दृष्टं वरमदृष्टतः)। अध्ययन से स्वाध्याय का संस्कार होता है और उसी का भावी यागादि में उपयोग होता है। उत्तरकर्म की योग्यता-सम्पादक को ही संस्कार कहते हैं। गुरुमुखोच्चारणा-नुच्चारण को अध्ययन कहते हैं। जिसने गुरु से वेद को नहीं पढ़ा और स्वयं अध्ययन कर लिया; उस विद्या का यागादि में उपयोग नहीं होता; क्योंकि वह संस्कृत नहीं है। गुरु से पढ़ने पर अक्षर-ग्रहण हो जाता है। अतः अक्षर-प्राप्ति-रूप फल सम्भव है। इसलिये संस्कार और प्राप्ति को ही फल मान लेना चाहिए। इसका समाधान देते हैं कि संस्कार और प्राप्ति को फल मानना उचित नहीं है। संस्कार-युक्त स्वाध्याय का किसी भी यागादि में उपयोग नहीं देखा जाता और स्वाध्याय-प्राप्ति स्वयं पुरुषार्थ नहीं है। अतः ये दोनों फल नहीं हो सकते।

यदि कहा जाय कि स्वाध्याय की प्राप्ति को अर्थ का प्रमापक होने के कारण वह स्वयं पुरुषार्थ हो सकता है—ऐसी शङ्का करके कहा कि सर्प आदि के विष को दूर करने वाली क्रियाओं में उपयुक्त होने वाले मन्त्रों के समान अध्ययन के अङ्ग-रूप से विनियोग होने वाले ज्योतिष्टोमादि के वाक्यों का स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं होगा। इसका समाधान देते हैं कि 'दूसरे के अङ्ग रूप से पठित वाक्य स्वार्थ-प्रमापक (प्रतिपादक) नहीं होते; क्योंकि वे अङ्गी के अर्थ-प्रतिपादन में ही सहायक होते हैं।

अध्ययनविधायकं तु वाक्यं स्वविहिताध्ययनस्यैव अङ्गमिति कृत्वा स्वार्थप्रमाणमित्याह—

'अध्ययनवाक्यमनन्याङ्गम्'। इति।

नन्वेवमदृष्टार्थत्वे कर्मकारकभूतस्वाध्यायगतफलाभावाद् 'अध्येतव्यः' इति कर्मवाची तव्यप्रत्ययो विरुध्येत, इत्यत आह—'सक्तुवत् करण-परिणामः'। इति।

'सक्तूञ्जुहोति' इत्यत्र कर्मत्वेन प्रधानभूतान् सक्तून् उद्दिश्य होम-संस्कारविधाने प्रतीयमानेऽपि होमसंस्कृतानां भस्मीभूतानां सक्तूनामन्यत्र विनियोगाभावात् कर्मप्राधान्यं हित्वा सक्तुभिर्जुहोतीति करणपरिणामः कृतः। एवमत्रापि कर्मगतयोः संस्कारप्राप्त्योरसम्भवात् स्वाध्यायेन अधी-यीत इति वाक्यपरिणामः कर्त्तव्यः।

यदि कहा जाय कि अध्ययन के विधायक 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह वाक्य किसी दूसरे का अङ्ग नहीं है, अपि तु स्वविहित अध्ययन का ही अङ्ग है। अतः वह स्वार्थ-प्रमापक हो सकता है। इसीलिये कहते हैं कि 'अध्ययन के विधायक वाक्य किसी दूसरे के अङ्ग नहीं हैं। जो अन्य का अङ्ग होता है, वह अर्थ-प्रमापक नहीं होता। अतः इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

यदि कहा जाय कि पूर्वोक्त प्रकार से अध्ययन को अदृष्टार्थ मानने पर भी कर्मकारकभूत स्वाध्याय का कोई फल सम्भव नहीं है। अतः 'अध्येतव्यः' में विहित कर्म अर्थ में 'तव्य' प्रत्यय विरुद्ध हो जायेगा। इसका समाधान देते हैं कि

'सक्तु के समान करण अर्थ में विपरिणाम करके अर्थ सम्पन्न करना चाहिए'। अभिप्राय यह है कि 'सक्तून् जुहोति' इत्यादि स्थलों में 'सक्तून्' पद में द्वितीयार्थ कर्मकारक होने के कारण प्रधानभूत सक्तु को उद्देश्य करके होम-संस्कार का विधान माना गया है। अतः 'होमेन सक्तून् संस्कुर्यात्' अर्थात् 'होम के द्वारा सक्तुओं का संस्कार करे'—यह अर्थ निष्पन्न होता है।

इस अर्थ को मानने पर सक्तु का संस्कार व्यर्थ हो जायेगा; क्योंकि सक्तु का होम हो जाने पर सक्तु भस्म हो जायेगा। उस भस्मीभूत सक्तु का पश्चाद् भावी यागादि में कोई उपयोग सम्भव नहीं हो सकता। अतः उसका संस्कार करना व्यर्थ हो जायेगा। इस वैयर्थ्य के निवारण के लिए सक्तु के कर्मप्राधान्य का परित्याग करके करण में विपरिणाम कर लेते हैं। करण में परिणत वाक्य 'सक्तुभि र्जुहोति' का 'सक्तुभिः होमं भावयेत्' यह अर्थ होता है। इसी प्रकार 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में भी संस्कार और प्राप्ति को समुचित फल न होने के कारण और अध्ययन-जन्य अदृष्ट फल का स्वाध्याय के साथ कोई सम्बन्ध न होने के कारण स्वाध्याय-निष्ठ कर्मप्राधान्य का परित्याग करके करण अर्थ में विपरिणाम कर देते हैं। उसके पश्चात् 'स्वाध्यायेन अध्ययनं भावयेत्' 'अध्ययनेन च अदृष्टं भावयेत्' इत्यादि वाक्यार्थ सम्पन्न होते हैं। इससे वेदाध्ययन अदृष्टार्थ सिद्ध होता है। यह पूर्वपक्ष हुआ।

इदानीं दृष्टफले सति अदृष्टफलं न कल्प्यमिति सिद्धान्तयति—'दृष्टे तु नादृष्टम्' इति।

किं तद् दृष्टफलमिति, तदाह—

'दृष्टौ प्राप्तिसंस्कारौ' इति।

अक्षरप्राप्तेः परम्परया पुरुषार्थत्वमाह—'प्राप्त्यार्थबोधः' इति। जायते इति शेषः। न च भोजनादिवद् अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात् विधि-वैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम्। अवघातादिवन्नियमादृष्टाय विध्युपपत्तेरित्याह—

'विधिर्निष्पत्त्याः' इति।

पूर्वपक्ष प्रस्तुत करने के पश्चात् सिद्धान्त-पक्ष प्रदर्शित करते हैं—दृष्ट फल की प्राप्ति सम्भव हो, तो अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करनी चाहिए। इसी को कहा गया कि 'दृष्ट फल के रहने पर अदृष्ट फल को न मानना चाहिए'।

यदि कहा जाय कि वह दृष्टफल कौन (क्या) है ? इसका समाधान देते हैं कि 'प्राप्ति और संस्कार दृष्ट फल हैं'। प्राप्ति = स्वाध्याय की प्राप्ति/संस्कार = स्वाध्याय का संस्कार। अक्षरप्राप्ति भी परम्परया पुरुषार्थ है। इसी को बतलाते हैं कि 'अक्षरप्राप्ति से अर्थ का ज्ञान होता है और वही अर्थ-ज्ञान पुरुषार्थ है। अतः अक्षर-प्राप्ति को अर्थ-ज्ञान के हेतु होने के कारण वह भी परम्परया पुरुषार्थ मान लिया जाता है। जायते = उत्पन्न होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि भोजनादि के समान अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होने के कारण अध्ययन-विधि व्यर्थ है। अभिप्राय यह है कि भोजन कर लेने पर तृप्ति हो जाती है और भोजन के अभाव में तृप्ति नहीं होती; उसी प्रकार अध्ययन करने पर अक्षर-प्राप्ति होगी और अध्ययन न होने पर अक्षर-प्राप्ति न होगी। अक्षर-प्राप्ति होने पर अर्थ-ज्ञान होगा और अक्षर-प्राप्ति न होने पर अर्थ-ज्ञान भी न होगा। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से कार्यकारणभाव सिद्ध होता है। जिसकी सत्ता रहने से कार्य उत्पन्न हो, वह अन्वय कहलाता है और जिसके न रहने से कार्य भी उत्पन्न न हो, वह व्यतिरेक कहलाता है। जैसे—दण्ड आदि की सत्ता रहने पर घट आदि कार्य की उत्पत्ति होती है और दण्ड आदि के न रहने पर घट आदि की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः इससे यह निश्चय किया जाता है कि घट रूप कार्य के प्रति दण्ड कारण है। कारण के रहने पर ही कार्य उत्पन्न हो सकता है, कारण के अभाव में नहीं। इसी प्रकार प्रस्तुत स्थल में भी कार्यकारणभाव समझना चाहिए। नियमादृष्ट को उत्पन्न करने के लिये विधि चरितार्थ है, व्यर्थ नहीं। जिस प्रकार 'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादि स्थलों में अवघात का प्रयोजन वैतुष्य-सम्पादन है। वह वैतुष्य-सम्पादन नखविदलन, अश्मकुट्टन आदि से भी सम्भव है; परन्तु इस प्रकार से निष्पन्न तण्डुल से अनुष्ठित यागादि से अपूर्व नहीं होगा। इसलिये नियम किया जाता है कि 'अवहन्ति = अवहन्यादेव' अर्थात् अवघात-जन्य तण्डुल से ही यागादि का अनुष्ठान करने पर अपूर्व होगा, अन्यथा नहीं। उसी प्रकार प्रस्तुत

स्थल में अध्ययन-विधि के द्वारा प्राप्त वेदार्थ-ज्ञान के द्वारा अनुष्ठित यागादि से फल होगा, अन्यथा नहीं। अतः 'स्वाध्याय करना ही चाहिए' यह नियम होता है। इसलिये अध्ययन-विधि को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता है। इसी को इस सूत्र के द्वारा कहते हैं कि 'विधि = अध्ययन-विधि को निष्पन्न (चरितार्थ) हो जाने के कारण वैयर्थ्य की शंका नहीं करनी चाहिए।'

यत्तूक्तं संस्कृतस्य स्वाध्यायस्य विनियोगादर्शनान्न संस्कार इति तत्राह—

'संस्कारसिद्धिः क्रत्वध्ययनविधिद्वयोपादानात्' इति।

क्रतुविधयो हि विषयाववोधमपेक्षमाणस्तदववोधे स्वाध्यायं विनियुञ्जते। अध्ययनविधिश्च लिखितपाठादिव्यावृत्त्या अध्ययन-संस्कृतत्वं स्वाध्यायस्य गमयति। अत उभयोपादानात् तत्सिद्धिः।

ननु संस्कारो नाम अदृष्टातिशयः। स च न स्वाध्यायगतः, तव्य-प्रत्ययेन स्वपदोपात्तप्रकृत्यर्थभूताध्ययनोपरक्तापूर्वाभिधानात्। ततः कथं स्वाध्यायस्य संस्कृतत्वमिति, तत्राह—

'तव्यः कर्मगादृष्टवाची' इति।

अत्र तव्यप्रत्ययस्य कर्माभिधायितया कर्मकारकस्य स्वाध्यायस्य तव्यप्रत्ययं प्रति प्रकृत्यर्थादध्ययनादपि प्रत्यासन्नत्वात् स्वाध्यायगतमेव अपूर्वं तव्यप्रत्ययो वक्ति, अपूर्वस्य धात्वर्थजन्यत्वनियमेऽपि तदुपरक्तत्वानियमादिति भावः।

पहले जो यह कहा गया कि संस्कार-युक्त स्वाध्याय का कहीं विनियोग नहीं देखा जाता। अतः स्वाध्याय का संस्कार मानना उचित नहीं है। इसी का समाधान देते हैं कि 'क्रतुविधि और अध्ययन-विधि के उपादान से संस्कार की सिद्धि होती है।' 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि क्रतु (याग) विधियाँ स्वविषयक ज्ञान की अपेक्षा रखतीं हैं और उसके अवबोध में स्वाध्याय का विनियोग होता है। अध्ययन-विधि में भी नियम स्वीकार करने के कारण लिखित पाठादि की व्यावृत्ति हो जाती है। इसलिये अध्ययन-विधि भी अध्ययन के द्वारा

स्वाध्याय के संस्कार का बोध कराती हैं। अतः दोनों का ग्रहण होने के कारण संस्कार की सिद्धि होती है।

यदि कहा जाय कि अदृष्ट (अपूर्व) का अतिशय ही संस्कार है। वह संस्कार स्वाध्याय में रहने वाला नहीं है; क्योंकि तव्यप्रत्यय के द्वारा स्वपद = 'अध्येतव्यः' से प्रतिपादित प्रकृत्यर्थं = इङ्धात्वर्थ रूप अध्ययन से उपरक्त (सम्बद्ध) अपूर्व का ही अभिधान (कथन) किया जाता है। इसलिये स्वाध्याय का संस्कार कैसे माना जा सकता है ? इसका समाधान देते हैं कि 'तव्यप्रत्यय कर्मगत-अदृष्ट (अपूर्व) का वाचक है।' 'अध्येतव्यः' इस पद में प्रयुक्त तव्य प्रत्यय कर्म का वाचक है। इसलिये कर्मीभूत स्वाध्याय का तव्यप्रत्यय के प्रति प्रकृत्यर्थं = इङ्धात्वर्थं अध्ययन से भी अधिक सान्निध्य होने के कारण वह तव्यप्रत्यय स्वाध्याय-गत अपूर्व का प्रतिपादन करता है क्योंकि अपूर्व को धात्वर्थजन्यत्व का नियम होने पर भी तत्सम्बद्धत्व का नियम नहीं है, अर्थात् अपूर्व नियमतः धातु से जन्य होता है, परन्तु नियमतः उससे सम्बद्ध होना आवश्यक नहीं है।

यच्चोक्तं 'अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम्' इति, तदसत्, यतो मन्त्राणां स्वतन्त्रादृष्टशेषाणां तथात्वं युज्यते। इह तु स्वाध्यायाश्रितमदृष्टम्; तस्य च स्वाध्यायगताक्षरसामर्थ्यसिद्धार्थावबोधे फले सति फलान्तर-कल्पनायोगात् प्रामाण्यस्य उपबृंहकमेव अदृष्टं, न तु प्रतिबन्धकमित्याह—

'स्वतन्त्रादृष्टाशेषत्वान्न स्वार्थप्रमा प्रतिबध्यते' इति।

सक्तुन्यायेन कर्मकारकप्राधान्ये परित्यक्ते स्वतन्त्रादृष्टमेवात्रापि स्यादित्यत्राह—

'यथाश्रुतोपपत्तेर्न सक्तुन्यायः' इति।

सक्तुषु गत्यभावात् श्रुतं परित्यज्य अश्रुतं कल्प्यतां नाम। नेह तद् युक्तम्, प्रदर्शितत्वादित्यर्थः।

पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया है कि 'दूसरे का अङ्ग अर्थ-प्रमापक नहीं होता,' यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि यह उक्ति स्वतन्त्र अदृष्ट के प्रतिपादक मन्त्रों के लिये समुचित हो सकता है, अध्ययन-विधि-स्थल के लिए नहीं। अध्ययन-विधि-स्थल

में अदृष्ट स्वाध्याय के आश्रित है और उसका स्वाध्याय-गत अक्षरग्रहण के सामर्थ्य से उत्पन्न ज्ञान रुप फल के रहने पर ही पुनः दूसरे फल की कल्पना समुचित नहीं है। अतः अदृष्ट प्रामाण्य का परिपोषक ही है, प्रतिबन्धक नहीं। इसी को पुरुषार्थानुशासन-सूत्रकार कहते हैं कि 'स्वतन्त्र अदृष्ट का अङ्ग न होने के कारण मन्त्रों का स्वार्थ में प्रामाण्य वाधित नहीं होता'।

यदि कहा जाय कि पूर्वोक्त सक्तुन्याय से कर्मकारक की प्रधानता का परित्याग कर देने पर अध्ययन-विधि-स्थल में भी स्वतन्त्र अदृष्ट ही होगा। इसका समाधान देते हैं कि'यथाश्रुत वाक्य का अर्थ उपपन्न हो जाने के कारण सक्तु-न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती'। 'सक्तून् जुहोति' इत्यादि स्थलों में दूसरी कोई गति न होने के कारण श्रुत कर्मकारकादि का परित्याग करके अश्रुत करण आदि की कल्पना की जा सकती है; किन्तु प्रस्तुत-स्थल में श्रुत का परित्याग और अश्रुत की कल्पना उचित नहीं है। इसका कारण पहले ही वतला दिया जा चुका है।

॥ अध्ययनस्यार्थवोधपर्यवसायित्वविचारः ॥

इत्थमध्ययनविधेर्दृष्टार्थत्वं प्रसाध्य अर्थावबोधपर्यन्ततां निराकर्तुं पूर्वपक्षयति—

'वैधमर्थनिर्णयं भट्टगुरुविधेः पुमर्थावसानात्' इति। सर्वत्र विधेः पुरुषार्थपर्यवसायित्वनियमाद् अत्रापि पुरुषार्थभूतं फलवदर्थनिश्चयमध्ययन-विधिप्रयुक्तं भट्टगुरु मन्येते। ननु सकृदध्ययनादावृत्तिसहिताद्वा अर्थनिश्चयो नोपलभ्यत इत्याशङ्क्य, तथा सति तत्सिद्धये सोऽध्ययनविधिरर्थनिश्चय-हेतुं विचारं कल्पयिष्यति, इत्याह—

'स विचारमाक्षिपेत्' इति।

इस प्रकार अध्ययन-विधि की दृष्टार्थता का संसाधन करके उसके अर्थ-ज्ञान-पर्यन्तत्व का निराकरण करने के लिये पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं। अभिप्राय यह है कि अध्ययन-विधि का दृष्ट ही प्रयोजन है, अदृष्ट नहीं और वह अध्ययन अर्थ-ज्ञानपर्यवसायि नहीं है, अपितु अक्षर-ग्रहण मात्र का ही बोधक है। इसी को सूत्र-

कार कहते हैं—'विधि को पुरुषार्थावसायि होने के कारण अर्थ-निर्णय विधि-प्रतिपादित है'। सर्वत्र विधि पुरुषार्थावसायि होता है—यह नियम है। अतः भट्ट तथा गुरु अध्ययन विधि-स्थल में भी पुरुषार्थभूत फलवान् अर्थ के निश्चय का अध्ययन-विधि को ही प्रयोजक मानते हैं।

यदि कहा जाय कि एक बार अध्ययन करने से या पुनः पुनः अध्ययन करने से भी अर्थ का निश्चय नहीं हो पाता—ऐसी शङ्का करके कहा—ऐसी स्थिति में अर्थ निश्चय की सिद्धि के लिये वह अध्ययन-विधि अर्थ-निश्चय के करणीभूत विचार की कल्पना करेगा। विचार के विना अर्थ का निश्चय सम्भव नहीं है। इसीलिये सूत्रकार कहते हैं कि 'वह अध्ययन-विधि विचार का आक्षेप करे। अध्ययन-विधि से प्रेरित होकर अध्ययन-सम्पादन के समय जो अर्थ-ज्ञान होता है, वह निश्चयात्मक नहीं होता। वह तो आपाततः प्रतीत अर्थ है। जब विचार की कसौटी पर कसकर निर्णय किया जाता है, तब अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान होता है अतः अर्थ-निश्चय के लिये विचार का आक्षेप आवश्यक है।

ननु स्वविधेयतदुपकारिणोरेव विधिः प्रयोजक इति सर्वत्र नियमः, तथा सति अतादृशं कथमत्र अध्ययनविधिराक्षेप्स्यतीत्याह —'अविधेयानुपकार्याक्षेपोऽवघातावृत्तिवत्' इति।

'व्रीहीनवहन्ति' इत्यत्र अवघातमात्रं विधेयं, न तु तदावृत्तिः, तस्या अघात्वर्थत्वात्। नाऽपि सा विधेयोपकारिणी, अन्तरेण आवृत्तिं सकृन्मुसलघातमात्रादवघातसिद्धेः; तथापि तण्डुलनिष्पत्तिफलसिद्धये स विधिरावृत्तिं यद्वत् आचिक्षेप तद्वत् प्रकृतेऽपि अवगन्तव्यम्।

ननु वेदमात्राध्यायिनोऽर्थावबोधानुदयेऽपि व्याकरणाद्यङ्गसहितवेदाध्यायिनस्तदुदयसद्भावात् तं प्रति व्यर्थं विचारं विधिर्न कल्पयेदित्याशङ्क्य अर्थगतविरोधपरिहाराय अपेक्षित एव विचार इत्याह—

'साङ्गाध्ययनात् तद्भावे विचारोऽर्थविघापनुत्' इति।

यदि कहा जाय कि विधि अपने (विधि के) द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थ तथा

उस विधेय पदार्थ का ही उपकारक होता है—यह नियम सार्वत्रिक है। ऐसी स्थिति में जो न विधेय है और न उसका उपकारक है, अध्ययन-विधि उसका आक्षेप कैसे करेगी। इसका समाधान देते हैं कि 'विधि अवघात के समान अविधेय और अनुपकारी का भी आक्षेप कर लेती है। 'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादि का अवघात-मात्र विधेय है, अवघात की आवृत्ति नहीं; क्योंकि आवृत्ति धात्वर्थ नहीं है। वह विधेय का उपकारक भी नहीं है; क्योंकि आवृत्ति के बिना भी मुसल के एक वार के घातमात्र से अवघात की सिद्धि हो जाती है; परन्तु तण्डुल की निष्पत्ति रुप फल की सिद्धि के लिये वह विधि जैसे आवृत्ति का आक्षेप कर लेती है, वैसे ही अध्ययन-विधि स्थल में अविधेय और अनुपकारी होने पर भी विचार का आक्षेप सम्पन्न हो जायेगा। इसमें कोई दोष नहीं है।

यदि कहा जाय कि जो केवल वेद का अध्ययन करते हैं, उन्हें अर्थ-ज्ञान नहीं होता; तथापि जो व्याकरण आदि अङ्गों के साथ वेद का अध्ययन करते हैं; उनको अर्थ-ज्ञान होता है। अतः उनके प्रति विधि विचार का आक्षेप नहीं करेगी—ऐसी शङ्का करके कहते हैं कि जिनको अर्थ-ज्ञान हो चुका है, उनके प्रति भी विचार का आक्षेप आवश्यक है; क्योंकि उनका अर्थ-ज्ञान कहीं-कहीं परस्पर विरुद्ध भी होता है। उस विरोध-परिहार के लिये विचार की अपेक्षा है। जैसे वेद में ही एक मन्त्र कहता है कि 'अतिरात्र में षोडशि-ग्रहण होना चाहिए और दूसरा मन्त्र कहता है कि 'अतिरात्र में षोडशि-ग्रहण नहीं होना चाहिए। इस प्रकार के विरोध के लिये विचार अत्यन्त आवश्यक है। इसी को सूत्रकार ने कहा है कि—अङ्गों के सहित वेदों का अध्ययन करने पर अर्थ-ज्ञान हो जाता है, परन्तु अर्थ में परस्पर विरोध के अपनोदन (परिहार) के लिये विचार आवश्यक है।

सिद्धान्तयति—

'प्राप्तेस्तु गवादिवत् पुमर्थत्वाद् विधिस्तदन्तः' इति।

यथा फलभूतस्य क्षीरादेर्हेतवो गवादयोऽपि पुरुषैरर्थ्यन्ते, तथा फलवदर्थावबोधहेतोरक्षरप्राप्तेरपि पुरुषार्थत्वात् अध्ययनविधिरक्षरप्राप्त्यवसानोऽवगन्तव्यः।

ननु अक्षरप्राप्तेः पुरुषार्थत्वं फलवदर्थावबोधप्रयुक्तं चेत् तर्हि तद्‍वोधस्य मुख्यपुरुषार्थत्वात् वोधान्त एव विधिः किं न स्यादित्यत आह—

'फलवद् वोधान्तत्वेऽध्ययनाकात्स्‍र्न्यम्' इति ।

वोधस्य हि फलं कर्मानुष्ठानम् । तथा सति यस्य ब्राह्मणादेर्यस्मिन् बृहस्पतिसवादौ अधिकारस्तस्य तद्‍वाक्यमात्राध्ययनं स्यान्नतु राजसूयादिवाक्याध्ययनम्, तत्र प्रवृत्त्यादिफलाभावात् ।

पूर्वपक्ष के प्रतिपादन के पश्चात् सिद्धान्त पक्ष को प्रस्तुत करते हैं । 'गौ आदि की पुरुषार्थता के समान अक्षर-प्राप्ति भी पुरुषार्थ है । अतः विधि अक्षर-ग्रहण पर्यवसायी है' । जिस प्रकार फलभूत दूध आदि के हेतुभूत होने के कारण गौ आदि को भी पुरुष चाहता है, उसी प्रकार फलवान् अर्थ-ज्ञान के हेतुभूत अक्षरप्राप्ति को भी पुरुषार्थ माना जाता है । इसलिये अध्ययन-विधि को अक्षर-प्राप्ति रुप अर्थ का बोधक ही समझना चाहिए । तात्पर्य यह है कि मनुष्य का अभिलषित दूध है, गाय नहीं; परन्तु दूध गाय के विना सम्भव नहीं है । इसलिये दूध के हेतु होने के कारण वह गाय भी अभिलाषाविषयीभूत हो जाती है । उसी प्रकार यागादि का अनुष्ठान पुरुषार्थ है और अनुष्ठान विचार के विना सम्भव नहीं है तथा विचार अक्षर-प्राप्ति के विना सम्भव नहीं है । अतः पुरुषार्थ के कारणीभूत होने के कारण अक्षर-प्राप्ति भी पुरुषार्थ है । इसलिये अध्ययन-विधि को अक्षर-ग्रहण-पर्यवसायी मानना चाहिए ।

यदि कहा जाय कि फलवान् अर्थ-ज्ञान-प्रयुक्त अक्षर-ग्रहण की पुरुषार्थता है, तो उसका ज्ञान ही मुख्यपुरुषार्थ होगा । अतः विधि को वोध-पर्यवसायी ही क्यों नहीं मान लिया जाता है ? इसका समाधान देते हैं कि 'अध्ययन-विधि को फलयुक्त अर्थ-वोध-पर्यवसायी मान लेने पर अध्ययन की समग्रता सिद्ध नहीं हो सकेगी ।' अर्थज्ञान का यागादि कर्मों का अनुष्ठान ही फल है । ऐसी परिस्थिति में जिन ब्राह्मण आदि वर्णों का जिन वृहस्पतिसव आदि कर्मों में अधिकार है, उनका केवल वृहस्पतिसवादि के प्रतिपादक वाक्यों का ही अध्ययन होगा, राजसूय आदि यागों के प्रतिपादक वाक्यों का नहीं; क्योंकि राजसूय आदि के अनुष्ठान में ब्राह्मण की

प्रवृत्ति का कोई फल नहीं है। जो पौरोहित्य कर्म के अधिकारी होता है, वही वृहस्पतिसव के अनुष्ठान का अधिकारी है, दूसरे क्षत्रिय आदि नहीं। उसी प्रकार राजसूय में क्षत्रिय का ही अधिकार है, ब्राह्मण आदि का नहीं। इसलिये जिसका जो अधिकारी है, उसी का अध्ययन आवश्यक है, दूसरे का नहीं। वेदाध्ययन के समय सभी वाक्यों का अध्ययन-सम्पादन किया जाता है। वह समुचित नहीं होगा।

स्वपक्षे तु नायं दोष इत्याह—

'कृत्स्नप्राप्तिर्जपार्था' इति।

न च अवोधकत्वे अर्थावोध एव न सिध्येदिति शङ्कनीयम्, प्रमाणस्य प्रमेयवोधकत्वस्वाभाव्यात्, लौकिकप्राप्तवाक्यानामन्तरेणैव विधिं बोधकत्वदर्शनादित्याह—

'लोकवन्नैजो वोधः' इति।

ननु बोधस्य विधिफलत्वे बोधकाममुद्दिश्य विधातुं शक्यत्वात् सुलभोऽधिकारी स्यादित्याशङ्क्य, प्राप्तिपक्षेऽपि प्राप्तिकाम उपनीताष्टवर्षब्राह्मणोऽत्राधिकारी सुलभ एवेति परिहारं स्पष्टत्वादुपेक्ष्य बोधस्य काम्यत्वं दूषयति—

'सोऽकाम्यः प्राग्वोध्यभानाभानयोः' इति।

वोध्यस्य अग्निहोत्रादिलक्षणवेदार्थस्य अध्ययनात् प्राक् सन्ध्योपासनादिवत् पित्राद्युपदेशत एव भाने सिद्धत्वादेव सोऽर्थवोधो न काम्यः। ज्ञाते एव विषये कामनानियमात्।

स्वपक्ष = अक्षरग्रहणान्त पक्ष में पूर्वोक्त दोष नहीं आ सकता। इसी को सूत्रकार ने बतलाया है कि 'सम्पूर्ण वेदों की प्राप्ति जप के लिये है। सम्पूर्ण वेदों के मन्त्रों का पाठ करने से धर्म की उत्पत्ति होती है और पाठमात्र के लिये अर्थ-ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इसलिये स्वाध्याय को अक्षर-प्राप्ति-पर्यन्त ही मानना चाहिए।

यह नहीं कहा जा सकता कि अर्थ का बोधक न मानने पर वेदों का अर्थ-ज्ञान

ही सिद्ध नहीं हो सकेगा; क्योंकि प्रमाण का ऐसा स्वभाव है कि प्रमेय का बोध अवश्य ही करायेगा। इसीलिये 'प्रमीयते प्रमेयादीन् अनेन'' यह व्युत्पत्ति भी सङ्गत होती है तथा आचार्यों ने 'प्रमा के करण को प्रमाण माना है। प्रमा का अर्थ प्रमेय ही है। वैदिक वाक्य भी प्रमाण हैं। अतः उनका प्रमेय भी अवश्य होगा। उन प्रमेयों के ज्ञान के लिये अर्थ-ज्ञान भी आवश्यक है। इसलिये बोधकता की असिद्धि नहीं मानी जा सकती। विधि के बिना ही लौकिक वाक्यों की अर्थ-बोधकता देखी जाती है। इसी को सूत्रकार ने कहा 'लौकिक वाक्यों के समान वैदिक वाक्यों की भी बोधकता स्वाभाविक ही है।'

यदि कहा जाय कि बोध को विधि का फल मान लेने पर बोध की कामना से युक्त पुरुष को उद्देश्य करके विधान किया जा सकता है। इसलिये अर्थ की कामना से युक्त पुरुष रूप अधिकारी सुलभता से प्राप्त हो जायेगा। ऐसी शङ्का करके— अक्षर-प्राप्ति-पक्ष में भी अक्षर की प्राप्ति की इच्छा से युक्त तथा उपनयन-संस्कार से युक्त आठ वर्ष की अवस्था वाला ब्राह्मण बालक वेदाध्ययन का अधिकारी सुलभ ही है—इस परिहार की स्पष्ट रुप से उपेक्षा करके अर्थ-बोध की कामना-विषयीभूतता को दूषित (खण्डित) करते हैं—'वह अर्थ-ज्ञान कामनाविषयीभूत नहीं है, वेदाध्ययन के पहले से ज्ञात हो या अज्ञात हो।' ज्ञात और अज्ञात दोनों अवस्थाओं में अर्थ-ज्ञान काम्य = कामनाविषयीभूत नहीं हो सकता।

ज्ञानविषयीभूत अग्निहोत्रादि रूप वेदार्थ का स्वाध्याय से पहले सन्ध्या-वन्दनादि के समान पिता आदि के उपदेश से ही ज्ञान सिद्ध हो जाता है। इसलिये अर्थज्ञान सिद्ध होने के कारण ही वह अर्थ-ज्ञान काम्य नहीं हो सकता। अज्ञात पक्ष में कामना की ही नहीं जा सकती; क्योंकि ज्ञात विषय में ही कामना होती है, अज्ञात विषय में नहीं—यही नियम है।

ननु सामान्यतो ज्ञाते विशेषतो बुभुत्सा सम्भवति । यद्वा विशेषतोऽपि पित्राद्युपदेशादवगते सति औपदेशिकज्ञानस्य प्रामाण्यनिर्णयाय पुनर्बोधकामना युक्तैवेत्याशङ्क्य, एवमपि अर्थावबोधमुद्दिश्य अध्ययन-विधानं न सम्भवतीत्याह—

'उद्देशायोगात्' इति ।

अग्निहोत्रादिविशेषज्ञानानां न तावदेकबुध्या विशेषाकारेण उद्देशः सम्भवति, अनन्तत्वात्; सामान्याकारेण उद्देशे सामान्यमेव विधिफलं स्यात्, न तु ज्ञानविशेषः । ततो नोद्देशो युक्तः ।

ननु अर्थावबोधमुद्दिश्य उच्चारणाभावे वेदस्य स्वार्थे तात्पर्यं न स्यादित्याशङ्क्य उपक्रमादिलिङ्गगम्यं तात्पर्यं शब्दबलादेव सिध्यतीत्याह—

'तात्पर्यं शब्दात्' इति ।

तर्हि अर्थज्ञानमुद्दिश्य शब्दोच्चारणं लोके व्यर्थं स्यादिति चेत्, न, पुरुषसम्बन्धकृतदोषाख्यप्रतिबन्धपरिहारार्थत्वादित्याह--

'उद्दिश्य उच्चारणं दोषघ्नं लोके' इति ।

यदि कहा जाय कि किसी पदार्थ का सामान्य रूप से ज्ञान हो जाने पर विशेष रूप से उसकी जानकारी की इच्छा होती है । अथवा विशेष रूप से पिता आदि के उपदेश से पदार्थों का ज्ञान हो जाने पर उस उपदेश-जन्य ज्ञान की प्रामाणिकता के निर्णय के लिये पुनः बोध की इच्छा करना समुचित ही है—ऐसी आशङ्का किया और कहा कि ऐसी परिस्थिति में भी अर्थ-ज्ञान को उद्देश्य करके अध्ययन का विधान सम्भव न होगा । इसलिये सूत्रकार ने कहा—'उद्देश समुचित नहीं है ।'

अग्निहोत्रादिविषयक सामान्य ज्ञानों का एकाकारविशिष्टबुद्धि के द्वारा विशेष रूप से उद्देश सम्भव न होगा; क्योंकि ज्ञान अनन्त है । यदि सामान्य रुप से उद्देश मान लिया जाय, तो सामान्य-ज्ञान ही विधि का फल होगा, ज्ञान विशेष नहीं । अतः उद्देशं समुचित नहीं है ।

यदि कहा जाय कि अर्थ-ज्ञान को उद्देश्य करके उच्चारण न करने पर वेदों का स्वार्थ (अपने अर्थ) में तात्पर्य ही न होगा—ऐसी शङ्का करके कहा कि उपक्रम, उपसंहार आदि तात्पर्यनिश्चायक लिङ्गविषयीभूत तात्पर्य शब्द के बल से ही सिद्ध होता है । इसी का सूत्रकार ने समर्थन किया कि 'शब्द से ही तात्पर्य सिद्ध होता है ।'

यदि कहें कि लोक में अर्थज्ञान को उद्देश्य करके शब्दों का उच्चारण करना व्यर्थ हो जायेगा। यह समुचित नहीं हैं; क्योंकि शब्दों का उच्चारण पुरुषों के सम्वन्ध से उत्पन्न दोष नाम के प्रतिवन्धक को दूर करने के लिये है। इसीलिये सूत्रकार ने भी कहा कि 'लोक में अर्थ को उद्देश्य करके किया गया उच्चारण दोषविनाशक है'। अर्थ को उद्देश्य करके उच्चारण करने से पुरुषों के द्वारा सम्भाव्य दोषों का निराकरण हो जाता है।

ननु अध्ययनविधेर्वोधान्तत्वाभावे विचारकशास्त्रं न प्रवर्तेत, प्रयोजकाभावादित्याशङ्क्याह—

'विचार उत्तरविधिप्रयुक्त उपपद्यते' इति।

क्रतुवोधविषयः साङ्गवेदाध्ययनादापातप्रतिपन्ना विरोधपरिहारेण प्रतिष्ठितं निर्णयज्ञानमन्तरेण अनुष्ठापयितुमशक्नुवन्तस्तन्निर्णयाय क्रतुविचारं प्रयोजयन्ति। श्रवणविधिस्तु साक्षादेव ब्रह्मविचारं विधत्ते। एवञ्च सति श्रवणविधेः स्वविधेयप्रयोजकत्वं क्रतुविधीनाञ्च विधेयोपकारिप्रयोजकत्वमित्युपपद्यतेतराम्। अध्ययनविधिप्रयुक्तिपक्षे तु तद्विधे क्रतुद्वारा स्वर्गसिद्धिपर्यन्तत्वात् क्रत्वनुष्ठानस्यापि तत्प्रयुक्तौ क्रतुविधिवैयर्थ्यमापद्येत।

यदि कहा जाय कि अध्ययन-विधि को अर्थ-बोध-पर्यवसायी न मानने पर विचारक-शास्त्र की प्रवृत्ति न हो सकेगी; क्योंकि उसका कोई प्रयोजक नहीं होगा। भट्ट-सम्प्रदाय के अनुसार अध्ययन-विधि अर्थ-ज्ञान-पर्यवसायी है और अर्थ-ज्ञान होने के बाद यत्र-तत्र अर्थों में परस्पर प्रतीत विरोध के परिहार के लिये निर्णय-जनक मीमांसाशास्त्र की आवश्यकता मानी जाती है। अतः अध्ययन-विधि ही मीमांसाशास्त्र का प्रयोजक सिद्ध होता है। पुरुषार्थानुशासन सूत्रकार के सिद्धान्तानुसार अध्ययन-विधि अक्षर-ग्रहण-पर्यवसायी है, अर्थवोधपर्यवसायी नहीं। इसीलिये वह मीमांसाशास्त्र का प्रयोजक भी नहीं माना जाता, क्योंकि अर्थ-ज्ञान के विना विचार सम्भव नहीं है। प्रभाकर-सम्प्रदाय का भी यही अभिप्राय है। इन्हीं लोगों के अनुसार पूर्वपक्ष का उपस्थापन किया गया है। इसका समाधान देते हैं कि

उत्तरविधि-प्रयुक्त विचार उपपन्न हो जाता है अर्थात् पश्चाद्भावी याग आदि के विधायक विधियाँ तथा श्रवण आदि के विधायक विधियाँ ही विचारशास्त्र के प्रयोजक हैं। अङ्गों के सहित वेदों के अध्ययन से आपाततः सामान्य अर्थ का ज्ञान हो जाता है; परन्तु उन अर्थों में परस्पर विरोध भी देखा जाता है। उन पारस्परिक विरोधों को दूर करके प्रतिष्ठापित निर्णयात्मक ज्ञान के विना अनुष्ठान नहीं कर सकते हैं। अतः यागादि के बोध कराने वाली विधियाँ निर्णयात्मक ज्ञान के लिये क्रतुविचार की प्रयोजिका मानी जातीं हैं। "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः" इत्यादि श्रवण आदि की विधायक विधियाँ साक्षात् ही ब्रह्मविषयक विचार का विधान करतीं हैं। ऐसा मान लेने पर श्रवण-विधि की स्वविधेयप्रयोजकता और क्रतुविधि का विधेयोपकारि-प्रयोजकता सम्यक् रुप से उपपन्न हो जाती है। स्व = श्रवणविधि, उसका विधेय = ब्रह्मविचार, उसका प्रयोजक स्वयं श्रवणविधि है। क्रतुविधि का विधेय = क्रतु (याग) का अनुष्ठान, उसका उपकारक = याग विचारशास्त्र, उसका प्रयोजक क्रतु-विधियाँ हैं। अध्ययन-विधि को ही विचारशास्त्र का प्रयोजक मान लिया जाय, तो उसी अध्ययन-विधि को याग आदि के द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति का भी प्रयोजक मानना पड़ेगा। इसीलिये यागादि के अनुष्ठान का भी वही विधि प्रयोजक होगा, तो याग आदि के विधायक "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्य व्यर्थ हो जायँगे। उन विधियों को व्यर्थ नहीं माना जा सकता; क्योंकि वैदिक सिद्धान्त के अनुसार वेदों का एक अक्षर भी व्यर्थ नहीं है, तो इतनी विधियाँ व्यर्थ कैसे हो सकतीं हैं। अतः अध्ययन-विधि को विचारशास्त्र का प्रयोजक मानना कदापि समुचित नहीं है।

ननु अध्ययनविधेस्त्रैवर्णिकमात्रं प्रति नित्यत्वात् तत्प्रयुक्तौ विचार-स्यापि तल्लभ्येत, नान्यथेति चेत् ? क्रतुविचारस्य त्रैवर्णिकमात्रेऽपि नित्यत्वसिद्धिः किं वा ब्रह्मविचारस्य ? तत्राद्योऽस्मन्मतेऽपि समइत्याह—

'अतो नित्यः क्रतुविचारस्त्रैवर्णिकमात्रस्य' इति।

यतोऽकरणे प्रत्यवायश्रवणात् क्रतवस्त्रैवर्णिकानां नित्या अत इत्यर्थः। द्वितीयोऽनिष्ट इत्याह—

'ब्रह्मविचारः पुनः परमहंसस्यैव' इति । नित्य इत्यनुषङ्गः । ननु उक्तनीत्या (रीत्या) अध्ययनस्य अक्षरग्रहणान्तत्वेऽर्थज्ञानमविहितं स्यात्? मैवम्; वाक्यान्तरेण तद्विधानात्—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति' (महाभाष्य पस्पशाह्निके) तद्विधिः । तत्र निष्कारणशब्दे अध्ययनज्ञानयोः काम्यत्वं निवार्यते ।

यदि कहा जाय कि अध्ययन-विधि को त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) मात्र के प्रति नित्य होने के कारण तत्प्रयुक्त विचार भी त्रैवर्णिकमात्र के प्रति नित्य होगा, अन्यथा नहीं । इसके पश्चात् प्रश्न उपस्थित होता है कि त्रैवर्णिकमात्र के लिये केवल यागविचार को ही नित्य मानना चाहते हैं अथवा ब्रह्मविचार को भी ? इन दोनों पक्षों में यदि प्रथमपक्ष (क्रतुविचार) को नित्य सिद्ध करेंगे, तो वह मेरे पक्ष में भी समान ही है । इसीलिये सूत्रकार ने भी कहा है कि "इसलिये क्रतुविचार त्रैवर्णिकों के लिये नित्य है' । क्रतुविचार न करने पर प्रत्यवाय (पाप) का श्रवण होता है । अतः क्रतुविचार त्रैवर्णिकों के लिये नित्य है । इस वाक्य में प्रयुक्त 'यतः' और 'अतः' पद हेतु प्रदर्शित करने के लिये हैं ।

द्वितीय पक्ष (ब्रह्मविचार) अनिष्ट = मुझे अभीष्ट नहीं है अर्थात् इसमें तीनों वर्णों का समान रूप से अधिकार समुचित नहीं है । इसीलिये सूत्रकार ने कहा कि 'ब्रह्मविषयक विचार केवल परमहंसों के लिये ही है' । पूर्व सूत्र से इस सूत्र में 'नित्य' शब्द की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये । इसलिये 'ब्रह्मविचार परमहंसों के लिये नित्य है, काम्य आदि नहीं—यही सिद्ध होता है । जो चौबीस घन्टे निरन्तर परब्रह्म परमात्मा के चरण-कमल के अलौकिक सुमधुर रस का आस्वादन करते रहते हैं, उससे कभी भी अलग नहीं होते; वे ही परमहंस कहलाते हैं । यह साधना की अन्तिम कोटि है ।

यदि कहा जाय कि उपर्युक्त रीति से अध्ययन को अक्षरग्रहणपर्यन्त मान लेने पर अर्थज्ञान का विधान न हो सकेगा, वह अविहित ही रह जायेगा । इसका समाधान देते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि दूसरे वाक्यों से ज्ञान आदि का विधान कर दिया गया है । ज्ञान के विधायक विधि को प्रस्तुत करते हैं—'हेतु

रहित ब्राह्मण का धर्म है कि वह छहों अङ्गों के साथ वेदों का अध्ययन करे और उसका ज्ञान प्राप्त करे ।' अभिप्राय यह है कि वेदाध्ययन केवल अपना धर्म समझकर करना चाहिए, किसी प्रलोभन आदि के द्वारा प्रवृत्त होकर नहीं । यह विधि महाभाष्य के प्रथम आन्हिक में भी उद्घृत है । इस विधि में प्रयुक्त 'निष्कारण' शब्द से वेदों के अध्ययन और उसके ज्ञान के काम्यत्व का निवारण किया जाता है । अध्ययन और ज्ञान काम्य नहीं है । निष्कर्ष यह हुआ कि अध्ययन-विधि-प्रतिपादित अध्ययन दृष्ट प्रयोजन के लिये है और वह अध्ययन अक्षर-ग्रहणमात्र का बोधक है, अर्थज्ञान का नहीं ।

॥ अवेदार्थज्ञस्य निन्दा वेदार्थज्ञस्य च प्रशंसाप्रतिपादनम् ॥

अर्थज्ञाने पुरुषप्रवृत्तिकरं वचनद्वयं शाखान्तरगतं निरुक्तकारो यास्क (नि० १/१८) एवमुदाजहार—

'अर्थोऽपि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च ।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् । (नि० १/१८) इति ।

निरुक्तकार यास्क ने अर्थज्ञान में पुरुषों की प्रवृत्ति के सम्पादक दूसरे शाखाओं के दो वचनों को उदाहरण रुप से प्रस्तुत किया है । जैसे—'इस संसार में ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा होती है' । जो वेदों के अध्ययन-सम्पादन कर लेने के पश्चात् भी उनके अर्थों को नहीं जानते हैं, वे केवल बोझ को ढोने वाले स्थाणु = शाखादिकों से रहित वृक्ष हैं अर्थात् निष्फल है । जिस वृक्ष में शाखा आदि ही नहीं हैं, उसमें फल की सम्भावना नहीं की जा सकती है । उसी प्रकार वह वेदाध्यायी भी है । जो पुरुष उसके अर्थों को भी जानता है वह सभी प्रकार के कल्याणों को प्राप्त करता है और वेदार्थ-ज्ञान से सभी पापों को नष्ट हो जाने के कारण अन्त में स्वर्गलोक को प्राप्त करता है । जिसने वेदों का ग्रहण किया अर्थात् अध्ययन किया;

परन्तु उनके अर्थों को न जान सका, वह अध्ययन शब्दों का स्पष्ट उच्चारणमात्र है और वह भी निष्फल है। जिस प्रकार अग्नि से रहित भस्म में सूखी भी लकड़ी डालने पर ज्वाला प्रकट नहीं होने के कारण निष्फल है। अध्ययन का अर्थज्ञान फल है। अग्नि में लकड़ी डालने का ज्वाला प्राकट्य ही फल है। इन्हीं दोनों में उपमानोपमेयभाव दिखलाया गया है।

अस्मिन् मन्त्रद्वये 'योऽर्थज्ञ इद्' इत्यनेनैव अर्धेन वेदार्थज्ञानं प्रशस्यते, इतरेण अर्धत्रयेण ज्ञानराहित्यं निन्द्यते । यो वेदार्थं जानाति, सोऽयमिह लोके सकलं श्रेयः प्राप्नोति, तथा तेन ज्ञानेन पापक्षये सति मृतः स्वर्गं प्राप्नोति । तदेतद् ऐहिकामुष्मिकं च ज्ञानफलं तैत्तिरीया मन्त्रोदाहरणेन तदीयतात्पर्याभिधायि ब्राह्मणेन च स्पष्टीचक्रुः:— 'तदेवाभ्युक्ता— ये अर्वाङ्त वा पुराणे वेदं विद्वांसमभितो वदन्त्यादित्यमेव ते परिवदन्ति, सर्वेऽग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसमिति।'

'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति । तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे दिवे नमस्कुर्यान्नाश्लीलं कीर्तयेदेता एव देवताः प्रीणाति' (तै० आ० २/१५) इति ।

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में प्रयुक्त 'योऽर्थज्ञ इत्' इस मन्त्र के आधे भाग से वेदार्थ ज्ञान की प्रशंसा की गयी है और अन्य अवशिष्ट तीन अद्धाली से ज्ञानाभाव की निन्दा की गयी है। जो वेदार्थ को जानता है, वह इस लोक में सभी प्रकार के कल्याणों को प्राप्त करता है। उसी प्रकार उस वैदिक ज्ञान से सभी पापों को दूर हो जाने के कारण मरने के पश्चात् स्वर्ग को प्राप्त करता है। इस प्रकार वेदार्थ-ज्ञान की महिमा से मानव ऐहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों फलों को प्राप्त कर लेता है। तैत्तिरीय शाखाध्यायी विद्वान् इसी ऐहिक और आमुष्मिक ज्ञान के फलों के प्रतिपादक मन्त्रों को उदाहरण रुप से प्रस्तुत करते हुए उन मन्त्रों के तात्पर्य के स्पष्ट प्रतिपादक ब्राह्मण वाक्यों के द्वारा भी स्पष्ट किये हैं—'वही कही गयी है जो लोग इस समय या प्राचीन समय में वेद और उसके ज्ञाता विद्वान् दोनों की निन्दा करते हैं, वे आदित्य (सूर्य) की ही निन्दा करते हैं, वे लोग दूसरे अग्नि की

तथा तीसरे वायु की निन्दा करते हैं'। जितनी भी देवतायें हैं, वे सभी वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों में निवास करते हैं। अतः वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों को प्रतिदिन नमस्कार करे, उनके प्रति अश्लील (निन्दित) शब्दों का प्रयोग न करे। इससे उनमें रहने वाले सभी देवता प्रसन्न होते हैं। ये ही वैदिक विद्वान् सभी देवताओं को स्तोत्र शस्त्रादि के द्वारा प्रसन्न करते हैं'।

वेद विद्वान् अर्थाभिज्ञः पुरुषः। स च द्विविधः—अर्वाचीनकाले समुत्पन्नश्चतुर्दशविद्यास्थानकुशलः कश्चिदुपाध्यायः, पुरातनकाले समुत्पन्नो व्यासादिश्च। तमेतनुभयविधं विद्वांसं विद्यामदधनमदकुलमदोपेताः पण्डितम्मन्या ये पुरुषा अभितो विद्यादिषु दूषयन्ति, ते सर्वेऽपि आदित्यमेव प्रथमं सर्वतो दूषयन्ति. आदित्यापेक्षया द्वितीयमग्निं दूषयन्ति, तदुभयापेक्षया तृतीयं हंस दूषयन्ति। हन्ति सदा गच्छतीति हंसो वायुः।

वेदों के अर्थों को जानने वाले पुरुषों को विद्वान् समझना चाहिए। वे विद्वान् दो प्रकार के होते हैं—आधुनिक काल में उत्पन्न होने वाले चतुर्दशविद्याओं में अत्यन्त निपुण कोई उपाध्याय और दूसरा प्राचीन समय में आविर्भूत होने वाले व्यास आदि महर्षि। विद्या के चतुर्दशस्थान बतलाये गये हैं। वे हैं—व्याकरण आदि छहों अङ्गों के साथ चारों वेद, पुराण, न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र। कहा भी है—'पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।

उपर्युक्त इन विद्याओं तथा इन दोनों प्रकार के विद्वानों को विद्या के मद (अभिमान) धन के मद तथा कुल आदि के मद से युक्त पुरुष तथा अपने को पण्डित मानने वाले मनुष्य निन्दा करते हैं, वे सबसे पहले आदित्य (सूर्य) की ही निन्दा करते हैं, आदित्य की अपेक्षा दूसरे अग्नि की निन्दा करते हैं तथा उन दोनों की अपेक्षा तीसरे हंस (वायु) की निन्दा करते हैं। हन् धातु गत्यर्थक है। इसलिये 'हन्ति' का अर्थ 'गच्छति' किया गया है। जो सदा गमनशील है, उसी को हंस कहते हैं। वायु सदागति है। इसकी गति कभी भी अवरुद्ध नहीं होती है। अतः हंस का अर्थ वायु किया गया है।

अग्न्यादिरूपत्वञ्च वेदविद आम्नातम्—'अग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' (तै० आ० २/१५) इति । न केवलमेतद् देवतात्रयम्, किन्तु सर्वा अपि देवता वेदविदि वसन्ति । तस्माद् ब्राह्मणान् वेदविदो दृष्ट्वा स्मृत्वा वा प्रतिदिनं नमस्कुर्यात्, न तु तस्मिन् विद्यमानमपि दोषं कीर्तयेत् । एवं सति तत्तन्मन्त्रार्थभूताः सर्वा अपि देवता वेदार्थविदा स्मर्यमाणतया तदीयहृदये अवस्थिता अयं नमस्कर्त्तारं तोषयति । न चैतदध्ययनस्यैव फलमिति शङ्कनीयम्—'विद्वांस' (तै० आ० २।१५) इत्याम्नातत्वात् । अन्यथा वेदमधीयानमित्याम्नायेत । तस्मात् सर्वदेवताबुद्धया प्राणिभिः पूज्यस्य वेदार्थविदो लोकद्वयेऽपि श्रेयः प्राप्तिरुपपद्यते ।

वैदिक विद्वानों की अग्न्यादिरूपता भी सुनी जाती है—तैत्तिरीय आरण्यक में कहा है कि वेदों के अर्थों को जानने वाला विद्वान् अग्नि आदि के सायुज्य को प्राप्त कर लेता है' अग्नि आदि देवताओं से ही तीनों वेदों का आविर्भाव हुआ है। इसलिये तीनों वेद अग्न्याद्यात्मक हुये और उसके अध्ययन करने वाले भी तत्स्वरूप ही माने गये। अतः तत्सायुज्य मानना समुचित ही है। इसीलिये वैदिकों की निन्दा से अग्नि आदि की निन्दा भी मानी जाती है। केवल ये तीन ही देवता नहीं, अपितु सभी देवता वैदिकों में निवास करते हैं। इसीलिये वेदों को जानने वाले ब्राह्मणों को देखकर या स्मरण करके प्रतिदिन नमस्कार करना चाहिए। उस वैदिक विद्वान् में वर्तमान दोषों का भी कथन न करे। इस प्रकार वैदिक ब्राह्मण को नमस्कार करने वाला मनुष्य तत्तत् मन्त्रों के अर्थभूत सभी देवाताओं को सन्तुष्ट करता है; क्योंकि वैदिकों के द्वारा स्मर्यमाण होने के कारण उनके हृदय में सभी देवता वर्त्तमान रहते हैं। अभिप्राय यह है कि वैदिक लोग मन्त्रों का पाठ करते हैं और उस पाठ से मन्त्रार्थभूत देवता का स्मरण भी करते हैं। अतः उनके हृदय में सभी देवताओं का निवास हो जाता है। इसलिये उनके प्रति किया गया प्रणाम आदि सभी देवताओं का प्रणाम है। इसीलिये उनको प्रणाम करने से सभी देवता सन्तुष्ट होते हैं। इसको केवल अध्ययन का ही फल नहीं समझना चाहिए; क्योंकि तैत्तिरीय आरण्यक में 'विद्वान्' पद प्रयुक्त है। यदि केवल अध्ययन का ही फल होता, तो 'विद्वांसम्' के स्थान पर 'वेदमधीयानम्' पद का प्रयोग किया जाता। इसलिये

सभी देवता-स्वरुप समझकर प्राणियों के द्वारा पूजनीय वेदों के अर्थों को जानने वालों को दोनों लोकों में कल्याण-प्राप्ति की उपपत्ति हो जाती है।

यस्तु वेदमधीत्यापि अर्थं न विजनाति सोऽयं पुमान् भारमेव हरति धारयति। स्थाणुरिति दृष्टान्तः। छिन्नशाखं शुष्कं वृक्षमूलं स्थाणुशब्देन उच्यते। स च यथा इन्धनार्थमेवोपयुज्यते न तु पुष्पफलार्थम्, तथा केवलपाठकस्य व्रात्यत्वं न भवतीत्येतावदेव, न हि अनुष्ठानं स्वर्गादिफल-सिद्धिर्वाऽस्ति। किल इत्यनेन लोकप्रसिद्धिर्द्योत्यते। लोकेऽपि पाठकस्य यावती धनादिपूजा ततोप्यधिका विदुषि दृश्यते।

जो वेदों को पढ़कर भी उनके अर्थों को नहीं जानता है, वह पुरुष केवल भार वहन करता है। स्थाणु को दृष्टान्त रुप से उपस्थित किया गया है। जिस वृक्ष की शाखाएँ कट चुकीं हैं और केवल सूखे वृक्ष का मूल मात्र अवस्थित है, उसी को स्थाणु कहते हैं। जिस प्रकार वह केवल इन्धन-कार्य के लिये ही उपयुक्त हो सकता है, फूल, फल आदि के लिये नहीं। उसी प्रकार केवल पाठ करने वालों की व्रात्यता की निवृत्ति हो जाती हैं, यही फल है। उसके द्वारा अनुष्ठान या स्वर्गादि की प्राप्ति नहीं हो सकती। 'किल' शब्द के प्रयोग से लोकप्रसिद्धि द्योतित होती है। लोक में भी देखा जाता है कि केवल पाठ करने वालों की जितने धनादि के द्वारा जितनी पूजा होती है, विद्वानों को उससे भी अधिक धनादि देकर पूजा की जाती है।

किञ्च यद्वेदवाक्यमाचार्याद् गृहीतं अर्थज्ञानरहितं पाठरुपेणैव पुनः पुनरुच्चार्यते तत् कदाचिदपि न ज्वलति स्वार्थं न प्रकाशयति। अग्नि-रहितप्रदेशे प्रक्षिप्तं शुष्ककाष्ठं न ज्वलति तद्वत्। तथा सति तस्य वाक्यस्य वेदत्वमेव मुख्यं न स्यात्। अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेत्ति अनेनेति वेदशब्दनिर्वचनम्। तथा चोक्तम्—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता'॥ इति।

अतो मुख्यवेदत्वसिद्धये ज्ञातव्य एव तदर्थः।

दूसरी बात यह है कि जिसने गुरु से वेदवाक्यों का ग्रहण किया अर्थात् अर्थज्ञान से रहित केवल पाठरुप से ही बार-बार उच्चारण किया, वह अध्ययन कभी भी प्रज्वलित अर्थात् अपने अर्थ-प्रकाशन = बोध कराने में समर्थ नहीं होता। जिस प्रकार अग्नि से रहित भस्म में डाली गयी सूखी लकड़ी प्रज्वलित नहीं होती; उसी प्रकार प्रस्तुत स्थल में भी समझना चाहिए। इस प्रकार उन वाक्यों का मुख्यवेदत्व ही न हो सकेगा; क्योंकि जिससे पुरुषार्थ के अलौकिक उपायं का ज्ञान हो, उसी को वेद कहते हैं—यही वेद शब्द की व्युत्पत्ति है। कहा भी है—पुरुषार्थ के जिन उपायों का प्रत्यक्ष या अनुमान-प्रमाण से ज्ञान न हो सके, वेद से उसका ज्ञान करते हैं—यही वेद का वेदत्व है। इसीलिये मुख्यवेदत्व की सिद्धि के लिये अवश्य ही ज्ञान करना चाहिए।

किञ्चात्र यास्केन (नि० १।१९) काचिदन्यापि ऋगुदाहृता—

उतत्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

[ऋ० सं० १०।७१।४] इति।

तीसरी बात यह है कि यास्क ने निरुक्त में अर्थज्ञ की प्रशंसा के लिये कोई दूसरी ऋचा को भी उदाहरण रुप से प्रस्तुत किया है—

एक मनुष्य उस वाणी को देखते हुए भी नहीं देखता है और एक उसको सुनते हुए भी नहीं सुनता है; क्योंकि उसको न प्रकृति-प्रत्यय आदि का ही ज्ञान है और न अर्थ का ही। इससे अर्थज्ञान से रहित की निन्दा की गयी है। वाणी एक के लिये अपने वास्तविक स्वरूप (प्रकृति प्रत्ययादि) को प्रकट कर देती है। जैसे कामना-युक्त सुन्दर वस्त्र वाली अपनी स्त्री पति के लिये वास्तविक स्वरूप को प्रकट कर देती है। अतः अर्थज्ञान भी आवश्यक है।

तत्र पूर्वार्द्धस्य तात्पर्यं स एव दर्शयति—'अप्येकः पश्यन् न पश्यति, वाचमपि च शृण्वन् न शृणोति एनामिति, अविद्वांसमाह अर्धम्' इति। अस्यायमर्थः—यः पुमान् अर्थं न वेत्ति, तं प्रति पूर्वार्द्धेन मन्त्रो ब्रूते। एकः पुरुषः पाठमात्रपर्यवसितो वेदरुपां वाचं पश्यन्नपि न सम्यक्

पश्यति एकवचनबहुवचनादिविवेकाभावे पाठशुद्धेरपि कर्त्तुमशक्यत्वात्। 'वायुमेव स्वेन भागधेयेन उपधावति, स एव एनं भूतिं गमयति', आदित्यानेव स्वेन भागधेयेन उपधावन्ति, त एव एनं भूतिं गमयन्ति' (तै० सं० २।१।१।१) इत्यादौ अव्युत्पन्नः कथं पाठं निश्चिनुयात्? अन्यः कश्चित् अर्थज्ञानाय व्याकरणाद्यङ्गानि शृण्वन्नपि मीमांसाराहित्यादेनां वेदरूपां वाचं न सम्यक् शृणोति। 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेद्' (तै० सं० २।३।१२।१) इत्यत्र व्याकरणमात्रेण प्रतिग्रहीतुरिष्टिः प्रतीयते। मीमांसायां तु न्यायेन दातुरिति निर्णीतम् (जै० सू० ३।४।३०)। तस्मादुभयविधमपि अविद्वांसं प्रति एवमाह इति।

महर्षि यास्क ही उपर्युक्त मन्त्र के पूर्वार्द्ध का तात्पर्य प्रदर्शित करते हैं -- उपर्युक्त मन्त्र के 'अप्येकः पश्यन् ··· ··· ···· न शृणोति' पर्यन्त पूर्व भाग से अविद्वान् = अवेदार्थज्ञ की निन्दा प्रस्तुत की गयी है। इसका यह अर्थ है—जो मनुष्य वेद के अर्थ को नहीं जानता है, उसी को उद्देश्य करके मन्त्र अपने पूर्वभाग से कहता है कि केवल पाठ करने वाला एक मनुष्य वेदरुप वाणी को देखते हुए भी अच्छी तरह साङ्गोपाङ्ग नहीं देखता है; क्योंकि वे एकवचन तथा बहुवचन आदि के सम्यक् ज्ञान न होने के कारण पाठ की शुद्धि भी नहीं कर सकते हैं। उदाहरण—पूर्वप्रयुक्त 'वायुमेव स्वेन भागधेयेन' इत्यादि मंत्र में एकवचन का प्रयोग किया गया है। पुनः आदित्यदेवताक 'आदित्यानेव स्वेन भागधेयेन' इत्यादि मन्त्र में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। जो पुरुष व्युत्पत्तिरहित है, वह इन पाठभेदों का कैसे निश्चय कर सकेगा? अर्थात् पाठ की शुद्धता का निश्चय नहीं कर सकेगा। दूसरा कोई मनुष्य अर्थज्ञान के लिए व्याकरण आदि अङ्गों का श्रवण करते हुए भी मीमांसाशास्त्र के ज्ञान का अभाव होने के कारण इस वेदरुपी वाणी को अच्छी तरह नहीं सुनता है। 'जितने अश्वों का प्रतिग्रह ले, उतने ही वरुणदेवताक चतुष्कपाल का निर्वाप करे' इस मन्त्र से व्याकरणमात्र के ज्ञान के द्वारा प्रतिग्रहीता की इष्टि की प्रतीति होती है; परन्तु मीमांसादर्शन में न्याय (अधिकरण) के द्वारा विचार करके निर्णय किया गया कि इस इष्टि का अनुष्ठान प्रतिग्रहीता के

लिये नहीं, अपितु दाता के लिये है। इसलिए दोनों प्रकार के विद्वानों को उद्देश्य करके मन्त्र के पूर्वार्द्ध में निन्दा की गयी है।

तृतीयपादतात्पर्यं दर्शयति—'अप्येकस्मै तन्वं विसस्रे' इति। स्वमात्मानं विवृणुते, 'ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा' इति। अस्यायमर्थः—अपिशब्दपर्याय उतोशब्दः। स च पूर्वोक्तानभिज्ञवैलक्षण्याय अत्र प्रयुक्तः, निपातानामनेकार्थत्वात्। यः पुमान् व्याकरणाद्यङ्गैः स्वशब्दार्थं मीमांसया तात्पर्यं च शोधयितुं प्रवृत्तस्तस्मै एकस्मै वेदः स्वकीयां तनुं विसस्रे। स्वमित्यादिकं पदव्याख्यानम् ज्ञानमित्यादिकं तात्पर्यव्याख्यानम्। वेदार्थप्रकाशनक्षमं सम्यग् ज्ञानमनया तृतीयपादरूपया वाचा मन्त्र आह इति।

मन्त्र के तृतीय पाद का तात्पर्य प्रदर्शित करते हैं—वेदरुपी वाणी एक मनुष्य के लिए शरीर (स्वरुप) को प्रकट कर देती है। अपने को विवृत = प्रकाशित कर देती है। इस वचन से अर्थज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। इसका यह अर्थ है—मन्त्र में प्रयुक्त 'उत' शब्द 'अपि' शब्द का पर्याय है। पूर्वोक्त अर्थज्ञान रहित पुरुष से विलक्षणता का बोध कराने के लिये उसका प्रयोग किया गया है; क्योंकि निपात के अनेक अर्थ होते हैं। जो पुरुष व्याकरण आदि अङ्गों के ज्ञान से 'स्व' शब्द का अर्थ और मीमांसा के द्वारा तात्पर्य-शोधन के लिये प्रवृत्त हैं, उस एक पुरुष के लिये वेदवाणी अपने शरीर को सभी प्रकार के अवरोधों को हटाकर स्पष्ट रुप से प्रकट कर देती है। 'स्वम्' इत्यादि पदों का व्याख्यान है और 'ज्ञानम्' इत्यादि तात्पर्य-व्याख्यान है। मन्त्र के तृतीयपादरुप वचन से वेदों के अर्थ-प्रकाशन में समर्थ सम्यक ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है।

चतुर्थपादतात्पर्यं दर्शयति—'उपमोत्तमया वाचा—जायेव पत्ये कामयमाना सुवासाः ऋतुकालेषु। सुवासाः कल्याणवासाः। कामयमाना ऋतुकालेषु। यथा स एनां पश्यति स शृणोत्यर्थज्ञ प्रशंसा इति। अस्यायमर्थः—उत्तमया चतुर्थपादरुपया वाचा तृतीयपादार्थस्य उपमा उच्यते। उशतीत्येतस्य व्याख्यानं कामयमानेति। यद्यपि अन्हि गृहकृत्यवेलायां

मलिनवासास्तथापि सम्भोगकालेषु कल्याणवासा भवति। तत्र हेतुः—'कामयमाना ऋतुकालेषु' इति। यथा स पतिरेनां जायां साकल्येन आदरयुक्तः पश्यति, किञ्च तयोक्तमर्थं हितबुद्धया शृणोति, तथाऽयं चतुर्दशविद्यास्थानपरिशीलनोपेतः पुरुषो वेदार्थरहस्यं सम्यक् पश्यति, वेदोक्तं च धर्मब्रह्मरुपमर्थं हितबुद्धया स्वीकरोति। सेयमुक्ता वेदार्थाभिज्ञस्य प्रशंसेति।

मन्त्र के चतुर्थपाद का तात्पर्य प्रस्तुत करते हैं—मन्त्र के अन्तिम वाणी अर्थात् चौथे पाद से उपमा प्रस्तुत की गयी है—कामना और कल्याण-वस्त्र से युक्त अपनी स्त्री अपने पति के लिये शरीर के प्रत्येक भाग को प्रकट कर देती है, उसी प्रकार वेद-वाणी भी अपने ज्ञाता के लिए अपना वास्तविक स्वरुप प्रकट कर देती है। ऋतुकाल में सुवासा = कल्याणवासा तथा कामयमाना = ऋतुकाल में कामनायुक्त। जिस प्रकार वह पति उस सुसज्जित अपनी पत्नी को प्रेम से देखता है और उसकी प्रेमभरी बातों को सुनता है, उसी प्रकार अर्थ-ज्ञाता पुरुष इस वेदवाणी को सम्यक् रुप से सुनता है और तत्त्वतः समझता है। इससे अर्थ को जानने वालों की प्रशंसा की गयी है। इसका यह अर्थ है—इस अन्तिम चतुर्थ-पादरुप वाणी के द्वारा तृतीयपादप्रतिपादित पदार्थ की उपमा प्रस्तुत की गयी है। 'उशती' का 'कामयमाना' अर्थ है। 'वश्' धातु से 'उशती' पद सिद्ध होता है। 'वश्' धातु का 'कान्ति' रुप अर्थ है और कान्ति का इच्छा अर्थ है। यद्यपि स्त्री दिन में घर के कामों को सम्पादित करने के समय मलिन वस्त्र धारण किये रहती है, तथापि रात्रि में सम्भोग काल में कल्याण = उत्तम (सुशोभनीय) वस्त्र पहन लेती है। जिससे पति उसको अच्छी तरह आदर एवं प्रेम की दृष्टि से देख सके। उसी में कारण दिखलाया गया है कि ऋतुकाल में पत्नी सम्भोग के लिए पति की इच्छा करती है। पूर्व सर्वत्र 'ऋतुकाल में' ऐसा अर्थ शब्द के सप्तम्यन्तता के अनुसार किया गया है; परन्तु ऋतुकाल में सम्भोग का निषेध है। इतना ही नहीं; कहा गया है कि उसके साथ न बैठे, न बात करे। अतः ऋतुकाल में आस्तिकों तथा स्वास्थ्य चाहने वालों को कभी भी सम्भोग नहीं करना चाहिए। इसलिये ऋतुकाल का अर्थ है–ऋतुकाल अर्थात् रजोदर्शन के पाँच दिन के बाद। पांच दिन तक स्पर्श

भी वर्जित है। ऋतुकाल = रजःप्रवृत्ति काल। जब सभी प्रकार से सुसज्जित स्त्री कामना युक्त होती है, तब वह पति उस अपनी पत्नी को अशेष-आदरयुक्त देखता है और उसके द्वारा कही हुई बातों को हित की बात समझ कर सुनता है। उसी प्रकार यह चौदहों विद्याओं के परिशीलन से परिपुष्ट ज्ञान से युक्त मनुष्य वेदार्थ-तत्त्व को सम्यक रुप से देखता = समझता है और वेद-प्रतिपादित धर्म और ब्रह्म रुप अर्थ को हित की दृष्टि से स्वीकार करता है। इस प्रकार वेदार्थ को जानने वालों की प्रशंसा की गयी है।

पुनरपि ऋगन्तरं यास्क (नि० १।२०) उदाजहार—'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

उतत्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैषा वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥

(ऋ० सं० १०।७१।५) इति।

अयमर्थः—पूर्वोदाहृतायाः 'उतत्वः पश्यन्' इत्यादिकाया ऋचोऽनन्तरमेव आम्नाता काचिद् ऋक् तस्य पूर्वोक्तमन्त्रार्थस्य भूयसे निर्वचनाय सम्पद्यते। तमर्थमतिशयेन प्रतिपादयितुं प्रभवति। कथमिति चेत्? तदुच्यते—अपि चैकं चतुर्दशविद्यास्थानकुशलं पुरुषं वेदरुपाया वाचः सख्ये स्थित्वा स्थैर्येण वेदोक्तार्थामृतपानयुक्तमाहुः, अभिज्ञाः कथयन्ति। 'सखिविदं सखायम्' (तै० आ० २।१५) इति मन्त्रे वेदस्य सखित्वमुदाहृतम्। यद्वा स्वर्गलोके वेदानां सख्ये स्थित्वा अतिशयेन पोतामृतमाहुः। वाचामिना ईश्वरा, सभासु प्रगल्भा वा वाजिनाः। तेषु मध्येऽपि एनं वेदार्थकुशलं चोदयितुं न हिन्वन्ति, न केऽपि प्राप्नुवन्ति। तेन सह विवदितुमसमर्थत्वात्।

पूर्वोक्त ऋचा के उत्तरभाग की अधिकतम स्पष्ट व्याख्या करने के लिये यास्क दूसरी ऋचा को उदाहरण रुप से प्रस्तुत करते हैं—अभिज्ञ लोग एक वेदार्थ-ज्ञाता पुरुष को मित्रभाव से स्थिरता-पूर्वक अमृत पान करने वाला कहते हैं। शास्त्रार्थ आदि में अत्यन्त वावदूक होने के कारण सभा में उस वेदार्थ-कुशल पुरुष

को शास्त्रार्थ आदि के लिये प्रेरित भी नहीं करते हैं। जो अर्थ को नहीं जानता है, वह फूल तथा फल से रहित वेदवाणी को सुनते हुए भी माया के धेनु के साथ सञ्चरन करता है, वास्तविक दूध देने वाली धेनु के साथ नहीं। यास्क इसका स्पष्ट अर्थ करते हैं—पहले उदाहरण रुप से आयी हुई 'उतत्वः' इत्यादि ऋचा के पश्चात् उसके पूर्वोक्त मन्त्र के अर्थ की स्पष्ट व्याख्या करने के लिये 'उत त्वं' इत्यादि कोई ऋचा प्रस्तुत है। यह मन्त्र उसके अर्थ के स्पष्ट-प्रतिपादन में समर्थ है। यह उसके अर्थ के प्रतिपादन में कैसे समर्थ है? इस प्रश्न का समाधान देते हैं—अभिज्ञ (जानने वाले) लोग चतुर्दश विद्यास्थानों में निपुण एक पुरुष को वेदरुपी वाणी के साथ मित्र भाव से स्थित होकर स्थिरतापूर्वक वेद-प्रतिपादित अमृत रुप अर्थ का पान करने वाले कहते = मानते हैं। 'सखिविदं सखायम्' इत्यादि मन्त्र में सखीभाव का उदाहरण दिया गया है। अथवा स्वर्गलोक में वेदों के साथ मित्रभाव से रहकर अमृत रुप अर्थ का अत्यधिक पान किया हुआ पुरुष मानते हैं। वाचाम् = वाणियों का, इनाः = ईश्वराः = स्वामिनः। अर्थात् सभा आदि में वावदूक को वाजी कहते हैं। सभा आदि के बीच में भी उस वेदार्थकुशल पुरुष को प्रेरित नहीं करते हैं; क्योंकि उसके साथ शास्त्रार्थ आदि में कोई समर्थ नहीं होता है। अतः वेदाध्ययन के साथ-साथ अर्थज्ञान भी अत्यन्त आवश्यक है।

यस्तु अन्यः पाठमात्रपरः पुष्पफलरहितां वाचं शुश्रुवान् भवति। पूर्वकाण्डोक्तस्य धर्मस्य ज्ञानं पुष्पम्। उत्तरकाण्डोक्तस्य ब्रह्मणो ज्ञानं फलम्। यथा लोके पुष्पं फलस्य उत्पादकं तथा वेदानुवचनादिधर्मज्ञान-मनुष्ठानद्वारा फलात्मकब्रह्मज्ञानेच्छां जनयति। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' (बृह० उप० ४।४।२२) इति श्रुतेः। यथा च फलं तृप्तिहेतुस्तथा ब्रह्मज्ञानं कृतकृत्यत्वहेतुः 'यत् पूर्णानन्दैकबोधस्तद् ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति' (परमहंसोपनिषद् ४) इति श्रुतेः। तादृशपुष्पफलरहितवेदपाठकः स एष पुमान् अधेन्वा मायया सह चरति। नवप्रसूतिकाक्षीरस्य दोग्ध्री गौः प्रीतिहेतुत्वाद् धिनोतीति व्युत्पत्त्या धेनुरित्युच्यते। पाठमात्रपरं प्रति वेदरुपा वाग्धर्म-ज्ञानरुपं क्षीरं न दोग्धीत्यधेनुः। अतएवासौ माया कपटरुपा, ऐन्द्रजालिक-

निर्मितगोसदृशरूपत्वात् । तया मायया सह चरन्नयं परमपुरुषार्थं न लभत इत्यर्थः। इत्थं यास्केन ज्ञानस्तुत्यज्ञाननिन्दोदाहरणस्य प्रपञ्चितत्वात्। यच्च स्तूयते तद्विधीयत इति न्यायेन अध्ययनवदर्थस्यापि विधिरभ्युपगन्तव्यः।

जो दूसरा केवल गुरुमुखोच्चारणानुच्चारणरूप पाठ किया है, वह पुष्प और फल से रहित वाणी का श्रवणमात्र किया है। पूर्वकाण्ड (पूर्वमीमांसाशास्त्र) से प्रतिपादित धर्म का ज्ञान पुष्प है। उत्तरकाण्ड (ब्रह्मकाण्ड या उत्तरमीमांसा या वेदान्त) से प्रतिपादित ब्रह्मविषयक ज्ञान फल है। जिस प्रकार लोक में पुष्प फल को उत्पन्न करने वाला होता है, उसी प्रकार वेद-प्रतिपादित धर्म का ज्ञान यागादि रूप धर्म के अनुष्ठान के द्वारा फलात्मक ब्रह्मज्ञान-विषयिणी इच्छा का उत्पादन करता है। श्रुति भी कहती है—ब्राह्मण लोग वेदों के अध्ययनाध्यापन, यज्ञ, दान तथा विनष्ट न होने वाले तप के द्वारा उस ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं। जैसे फल तृप्ति का हेतु होता है अर्थात् फल की प्राप्ति हो जाने से तृप्ति हो जाती है, वैसे ही ब्रह्मविषयक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान कृतकृत्यत्व का कारण है। परसहंसोपनिषद् में कहा गया है कि जब 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ) यह पूर्ण आनन्द का बोध हो जाता है, तब वह कृतकृत्य हो जाता है। जिस वस्तु के प्राप्त कर लेने के पश्चात् पुनः किसी भी प्रकार की इच्छा ही न हो, वही कृतकृत्यता अवस्था है। ब्रह्मज्ञान के पश्चात् फिर कुछ अवशिष्ट ही नहीं रहता, जिसकी इच्छा हो। उस प्रकार के पुष्प और फल से रहित वेदों का अध्येता अधेनु अर्थात् माया के धेनु के साथ विचरण करता है। नवप्रसूतिका (अभी तुरत ही बच्चा देने वाली) तथा दूध देने वाली गाय प्रीति का कारण होती है, उसको सब लोग प्रीतिपूर्वक देखते हैं। इसीलिये धेनुशब्द की व्युत्पत्ति भी इस प्रकार है—धिनोति, प्रीणयतीति धेनुः। जो सबको दुग्ध आदि के द्वारा प्रसन्न करे, वही धेनु कहलाती है। केवल पाठ करने वालों के लिए वेद-वाणी धर्म का ज्ञान रूप दूध नहीं देती है। अतः उसको अधेनु कहा गया है। इसीलिये यह माया अर्थात् कपटरूपा गौ है; क्योंकि यह ऐन्द्रजालिक के द्वारा निर्मित गौ के समान है। तात्पर्य यह है कि उस माया-गौ के साथ सञ्चरण करने वाला पुरुष

परमपुरुषार्थं (मोक्ष) को प्राप्त नहीं कर सकता। यास्क ने इस प्रकार ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा के उदाहरण को विस्तृत रुप से प्रस्तुत किया है। 'जिसकी स्तुति होती है, उसी का विधान होता है' इस न्याय से अध्ययन के समान अर्थ का भी विधान समझना चाहिए।

किञ्च नक्षत्रेष्टिकाण्डे प्रतीष्टिफलवाक्यं यागतद्वेदनयोः समानमेव आम्नायते—'यथा ह वा अग्निर्देवानामन्नादः, एवं ह वा एष मनुष्याणां भवति, य एतेन हविषा यजते य उ चैनदेवं वेद' (तै० ब्रा० ३।१।४।१) इति। अतो यागवत् फलाय स्ववेदनमपि विधीयते। अनेन न्यायेन सर्वेष्वपि ब्राह्मणेषु वेदनविधयो द्रष्टव्याः।

दूसरी बात यह है कि नक्षत्रेष्टिकाण्ड के प्रत्येक इष्टियों में याग और उसके ज्ञान का फलवाक्य समान रूप से सुना जाता है—जिस प्रकार अग्नि देवताओं का अन्नाद (अन्न भक्षण करने वाला या मुख रुप) है, उसी प्रकार वह अग्नि मनुष्यों का भी अन्नाद है। जो इस हवि से अग्नि का यजन-पूजन करता है या जो इसकी विधि को जानता है। इसलिये इन ब्राह्मणों के द्वारा यागों के अनुष्ठान के समान ही फल-प्राप्ति के लिए यागों के ज्ञान का भी विधान किया जाता है। इसी न्याय से सभी ब्राह्मणों के द्वारा याग-ज्ञान का विधान समझना चाहिए। फलबोधक वाक्य को फलवाक्य कहते हैं।

ननु "विद्याप्रशंसा" (जै० सू० १।२।१५) इति सूत्रे वेदनफलानां प्रशंसारूपत्वं जैमिनिना सूत्रितमिति चेत् ? अस्तु नाम। विद्यमानेनापि फलेन प्रशंसितुं शक्यत्वात्। दर्शयागस्य पूर्णमासयागस्य अतिपाते सति प्रायश्चित्तरूपां वैश्वानरेष्टिं विधातुं विद्यमानेनैव स्वर्गफलेन स्तुतिः क्रियते—'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' (तै० सं० २।२।५।४) इति।

यदि कहा जाय कि 'विद्याप्रशंसा' सूत्र में जैमिनि ने ज्ञान के फल को प्रशंसा-रुप से सूत्रित किया है। यह कैसे सङ्गत होगा ? इसका समाधान देते हैं कि ज्ञान के फल को प्रशंसा-रुप से सूत्रित करने से कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि

विद्यमान फल के द्वारा भी प्रशंसा की जा सकती है। दर्श और पूर्णमास याग का व्यतिक्रम हो जाने पर प्रायश्चित्त-रूप वैश्वानरेष्टि का विधान करने के लिए विद्यमान स्वर्गरूप फल से ही स्तुति की गयी है—'स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिये दर्शपूर्णमास का अनुष्ठान किया जाता है'।

एतच्चाचार्यैर्ब्रह्मज्ञानफलवाक्यस्य स्वार्थेऽपि तात्पर्यं दर्शयितुमुदाहृतम्—

इच्छाम्येवार्थवादत्वं वचसोऽन्यपरत्वतः।
यथावस्त्वभिधायित्वान्न त्वभूतार्थवादता॥
इज्येते स्वर्गलोकाय दर्शादर्शौ यथा तथा।
न त्वभूतार्थवादत्वं पापश्लोका श्रुतिर्यथा॥
(बृ० उ० वा० १२७-१२८) इति।

न च वेदनमात्रेण फलसिद्धौ अनुष्ठानवैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम्, फलभूयस्त्वेन परिहृतत्वात्।

आचार्यों ने ब्रह्मज्ञान-रूप फल के प्रतिपादक वाक्यों का स्वार्थ में भी तात्पर्य प्रदर्शित करने के लिये उदाहरण उपस्थित किया है—ब्रह्मज्ञान-रुप फल के विधायक वाक्य उस फल की प्रशंसा के लिये प्रस्तुत हैं। अतः उसको अर्थवाद मान लेना चाहिए। यथार्थ वस्तु के प्रतिपादक होने के कारण, फलवाक्य को अभूतार्थवाद नहीं माना जा सकता। जैसे 'सुवर्गाय हि लोकाय०' इत्यादि भूतार्थवाद है, वैसे ही प्रकृत वाक्य भी भूतार्थवाद ही है। 'यस्य पर्णमयी' के समान ब्रह्मज्ञानविषयक फलवाक्य अभूतार्थवाद नहीं है।

यदि कहा जाय कि यागादि के ज्ञानमात्र से ही फलों की प्राप्ति हो जायेगी, तब उसका अनुष्ठान व्यर्थ हो जायेगा, परन्तु यह शङ्का ठीक नहीं है। कारण यह है कि ज्ञान की अपेक्षा अनुष्ठान से फल अधिक होगा। इस तरह का परिहार पहले ही दिया जा चुका है।

उदाहृतश्चात्र जैमिनिसूत्रम्—

फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात् (जै० सू० १।२।१७) इति ।

एतच्चास्माभिः 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (तै० सं० ५।३।१२।२) इत्युदाहरणेन व्याख्यातम् ।

छन्दोगाश्च केवलादनुष्ठानाद् विद्यासहितेऽनुष्ठाने फलातिशयमामनन्ति- 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च । यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० उप० १।१।१०) इति । यद्यप्यङ्गावबद्धोपास्तिरत्र विद्याशब्देन विवक्षिता, तथापि न्यायः सर्वास्वपि विद्यासु समानः ।

जैमिनि ने फलाधिक्य के सम्बन्ध में सूत्र का भी प्रणयन किया है और उसको उदाहरण रूप से उपस्थित भी किया जाता है—'कर्म से फल की निष्पत्ति में लोक के समान परिमाण और सारवत्ता के कारण उसमें (फल में) विशेषता आती है' बड़े यागों के अनुष्ठान से फल भी बड़ा होगा और छोटे यागों के अनुष्ठान से फल भी छोटा होगा । ग्रन्थकार ने 'तरति ब्रह्महत्याम्' इत्यादि उदाहरणों से इस सूत्र की व्याख्या की है । सामवेदी लोग यागों के केवल अनुष्ठान की अपेक्षा उसके ज्ञान-सहित अनुष्ठान में फलातिशय मानते हैं—जो उस कर्म को जानता है और जो नहीं जानता है, दोनों उसका अनुष्ठान करते हैं । विद्या और अविद्या अनेक प्रकार के हैं । जो विद्या, श्रद्धा तथा तत्त्वज्ञान से अनुष्ठित होता है, वह अधिक बलशाली अर्थात् अवश्य और अधिक फलप्रद होता है । यद्यपि इस मन्त्र में विद्या शब्द से अङ्ग-सम्बन्धी उपासना विवक्षित है; तथापि फल की अधिकता और अल्पताविषयक न्याय सभी विद्याओं में समान रूप से ग्राह्य है ।

कुतस्तव एतावती वेदने भक्तिरिति चेत् ? कुतो वा तवैतावान् प्रद्वेषः ? प्रशंसा त्वस्माभिर्भूयसी दर्शिता, निन्दा तु न क्वापि उपलभामहे । किन्तु कर्मजन्यमपूर्वं यथा मरणादूर्ध्वं जीवेन सह गच्छति तथा विद्याजन्यमपि अपूर्वं गच्छति । तथा च वाजसनेयिन आमनन्ति—'तं विद्याकर्मणी

समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' (श० ब्रा० १४।७।२।३ बृह० उप० ४।४।२) इति। तस्मादध्ययनवदर्थज्ञानस्यापि विहितत्वादर्थज्ञानाय वेदो व्याख्यातव्यः।

शङ्का—ज्ञान के प्रति आपकी इतनी श्रद्धा क्यों है?, उसमें क्या कारण है? अज्ञान के प्रति आपका इतना अधिक द्वेष क्यों है?

समाधान—ज्ञान की प्रशंसा सर्वत्र उपलब्ध होती है और उसको मैंने दिखलाया भी; किन्तु उसकी निन्दा कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। अतः ज्ञान की प्रशंसा तथा अज्ञान की निन्दा आवश्यक है। जो शास्त्र कहता है, उसको मानना अपना कर्त्तव्य है। इसमें श्रद्धा और द्वेष की कोई बात नहीं है। जैसे मरने के पश्चात् जीव के साथ कर्म से उत्पन्न अपूर्व जाता है, वैसे ही विद्या से उत्पन्न अपूर्व भी साथ जाता है। इसीलिये वाजसनेयी कहते हैं कि 'विद्या और कर्म उस जीव का अनुगमन करते हैं और पूर्वजन्म की प्रज्ञा भी'। अतः अध्ययन के समान अर्थज्ञान को भी विहित होने के कारण अर्थज्ञान के लिये वेद की व्याख्या करनी चाहिए अर्थात् वेद व्याख्यान के योग्य है, अयोग्य नहीं।

॥ वेदस्यानुबन्धचतुष्टयनिरूपणम् ॥

विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिज्ञानमन्तरेण श्रोतृप्रवृत्त्यभावात् विषयादयो निरूप्यन्ते—व्याख्यानस्य व्याख्येयो वेदो विषयः। तदर्थज्ञानं प्रयोजनम्। व्याख्यान-व्याख्येयभावः सम्बन्धः। ज्ञानार्थी चाधिकारी। यद्यपि एतावत् प्रसिद्धं तथापि वेदस्य विषयाद्यभावे व्याख्यानस्यापि परमविषयादिकं न स्यात्। अतो वेदस्य तच्चतुष्टयमुच्यते।

विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी के ज्ञान के विना श्रोता (अध्येता) की श्रवण में प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः श्रोता की प्रवृत्ति-सिद्धि के लिए विषय आदि का निरूपण किया जाता है। व्याख्याविषयीभूत वेद व्याख्यान का विषय है। वेदार्थ-ज्ञान प्रयोजन है। व्याख्यानव्याख्येयभाव सम्बन्ध है। वेदार्थ-ज्ञान को चाहने वाला पुरुष इसका अधिकारी है। यद्यपि ये सभी बातें प्रसिद्ध हैं तथापि वेद के

विषय आदि के अभाव में व्याख्यान के भी विषय आदि का अभाव हो जायेगा। विषय के अभाव में व्याख्यान भी सम्भव नहीं हो सकेगा। इसलिये वेद का अनुबन्ध-चतुष्टय बतलाते हैं।

वेदे पूर्वोत्तरकाण्डयोः क्रमेण धर्मब्रह्मणी विषयः, तयोरनन्यलभ्यत्वात्। तथा च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्—'धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये' इति। जैमिनीये च द्वितीयसूत्रे चोदनैव धर्मे प्रमाणं, चोदना प्रमाणमेवेति नियमद्वयं सम्प्रदायविद्भिरभिहितम्। चोदनैव इत्यमुमर्थमुपपादयितुं चतुर्थसूत्रे प्रत्यक्षविषयत्वं धर्मस्य निराकृतम्—'प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' (जै० सू० १।१।४) इति।

वेद के पूर्वकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड का क्रमशः धर्म और ब्रह्म विषय है; क्योंकि वे दोनों अनन्यलभ्य हैं। पूर्वोत्तरकाण्ड के अध्ययन के विना उन दोनों का ज्ञान किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। पुरुषार्थानुशासन सूत्र में कहा भी है—'धर्म और ब्रह्म एकमात्र वेद से ही वेद्य=जानने के योग्य हैं'।

सम्प्रदायाचार्यों ने मीमांसा-दर्शन के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के "चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः" इस द्वितीय सूत्र में 'चोदना ही धर्म में प्रमाण है' और 'चोदना प्रमाण ही है'—ऐसा दो प्रकार का नियम माना है। 'चोदना ही धर्म में प्रमाण है'—इस अर्थ का उपपादन करने के लिये चौथे सूत्र में धर्म के प्रत्यक्षविषयत्व का निराकरण किया है—'प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म के प्रति निमित्त=कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह विद्यमान पदार्थ का ही बोधक होता है'।

अनुष्ठानादूर्ध्वमुत्पत्स्यमानस्य धर्मस्य पूर्वमविद्यमानत्वात् न प्रत्यक्षयोग्यता अस्ति। उत्तरकालेऽपि रूपादिराहित्यात् न इन्द्रियैरवगम्यते। अतएव अदृष्टमिति सर्वैरभिधीयते। लिङ्गराहित्यानुमानविषयत्वमप्यस्ति। सुखदुःखे धर्माधर्मयोर्लिङ्गमिति चेत्? बाढम्। अयमपि लिङ्गलिङ्गिभावो वेदेनैव गम्यते। ततश्चोदनैव धर्मे प्रमाणम्।

यागादि के अनुष्ठान के पश्चात् उत्पन्न होने वाला धर्म अनुष्ठान से पहले विद्यमान नहीं रहता है। इसलिये उसमें प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं है। यह

भी नहीं कहा जा सकता कि अनुष्ठान के पश्चात् उत्पन्न होने पर तो प्रत्यक्ष होना चाहिए था। कारण यह है कि अनुष्ठान के पश्चात् भी रूपरहित होने के कारण चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है। इसीलिये सब लोग उसको 'अदृष्ट' कहते हैं। लिङ्ग (हेतु) से रहित होने के कारण अनुमान-प्रमाण का भी विषय नहीं हो सकता।

यदि कहा जाय कि सुख और दुःख ही क्रमशः धर्म तथा अधर्म का हेतु है। उसी से धर्माधर्म का अनुमान हो जायेगा; परन्तु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि यह कार्यकारणमात्र भी वेद से ही जाना जा सकता है। लिङ्ग = हेतु और लिङ्गी = साध्य। अतः चोदना (विधि) ही धर्म तथा अधर्म के प्रति प्रमाण है दूसरा नहीं।

वैयासिकस्य तृतीयसूत्रस्य द्वितीयवर्णके ब्रह्मणः सिद्धवस्तुनोऽपि शास्त्रैकविषयत्वं भाष्यकृद्भिर्व्याख्यातम् शास्त्रादेव प्रमाणात् जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्म अधिगम्यत इत्यभिप्रायः (ब्र० सू० शां० भा० १।१।३) इति। श्रुतिश्च भवति--'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति। तत्रोपपत्तिः पूर्वाचार्यैरेवमुदीरिता—'रूपलिङ्गादिराहित्यान्नास्य मानान्तरयोग्यता' (वै० न्या० १।१।३।१८) इति। तस्मादनन्यलभ्यत्वादस्ति धर्मब्रह्मणोर्वेदविषयत्वम्।

भाष्यकार शङ्कराचार्य ने वैयासिक (व्यास-रचित) वेदान्तशास्त्र के तृतीय सूत्र के द्वितीय वर्णक में ब्रह्म को सिद्ध वस्तु होने पर भी शास्त्रैकविषयता का वर्णन किया है। ब्रह्म के प्रतिपादन में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है, दूसरा नहीं। इसमें श्रुति भी प्रमाण है—'वेद को न जानने वाला पुरुष, उस स्वयं बढ़ने और दूसरों को बढ़ाने वाला बृहत् तत्त्व ब्रह्म को नहीं जान सकता है'। पूर्वाचार्यों ने उसमें युक्ति भी दी है—रुप और लिङ्ग से रहित होने के कारण दूसरे प्रमाणों से इसको नहीं जाना जा सकता है। रुप न रहने के कारण चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता और हेतु न रहने से अनुमान-प्रमाण का भी विषय नहीं हो सकता। इसलिये दूसरे प्रमाणों से ज्ञात न होने के कारण धर्म और ब्रह्म एक मात्र वेद के ही विषय हैं।

तदुभयज्ञानं वेदस्य साक्षात् प्रयोजनम्। न च तस्य ज्ञानस्य, सप्तद्वीपा वसुमती, राजासौ गच्छति, इत्यादिज्ञानवदपुरुषार्थपर्यवसायित्वं शङ्कनीयम्, धर्मप्रयुक्तस्य पुरुषार्थस्य स्तूयमानत्वात्। 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा', 'लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति', 'धर्मेण पापमपनुदति', 'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्', तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति' (तै० आ० १०।६३) इति।

उस धर्म और ब्रह्म का ज्ञान ही वेद का साक्षात् प्रयोजन है। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि 'सात द्वीपों से युक्त यह पृथिवी है', 'यह राजा जाता है' इत्यादि वाक्यों के ज्ञान के समान पुरुषार्थ-पर्यवसायी नहीं है अर्थात् पुरुषार्थ का बोधक नहीं है; क्योंकि धर्म-प्रयुक्त पुरुषार्थ की अनेक प्रकार से स्तुति की गयी है। जैसे— धर्म ही सम्पूर्ण संसार की प्रतिष्ठा (आधार) है। लोक में धर्मात्मा राजा के पास प्रजाएँ जाती हैं। धर्म से पापों को दूर करता है। धर्म में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋषियों ने धर्म को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है।

उद्दण्डस्य राज्ञो नियामकत्वात् विवदमानयोः पुरुषयोर्मध्ये दुर्बलस्यापि राजसाहाय्यवज्जयहेतुत्वाच्च धर्मः पुरुषार्थः। तथा च वाजसनेयिनः सृष्टिप्रकरणे समामनन्ति—'तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं, तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद् धर्मात्परं नास्ति, अथोऽबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण, यथा राज्ञैवम्' (बृह० उप० १।४।१४) इति। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', (तै० आ० ८।२) 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० उप० ३।२।९) 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० उ० ७।१।३) इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तः पुरुषार्थः प्रसिद्धः। तदुभयज्ञानार्थी वेदेऽधिकारी। स च त्रैवर्णिकः पुरुषः। स्त्रीशूद्रयोस्तु सत्यामपि ज्ञानापेक्षायामुपनयनाभावेन अध्ययनराहित्यात् वेदेऽधिकारः प्रतिबद्धः। धर्मब्रह्मज्ञानं तु पुराणादिमुखेन उत्पद्यते। तस्मात् त्रैवर्णिकपुरुषाणां वेदमुखेन अर्थज्ञानेऽधिकारः।

धर्म उद्दण्ड राजा का नियमन करनेवाला होता है तथा विवाद करते हुए पुरुषों के बीच दुर्बल व्यक्ति को राजा की सहायता मिल जाने पर वह विजयी हो जाता है। उसमें भी धर्म ही हेतु है। अतः धर्म भी पुरुषार्थ है। वाजसनेयी

शाखाध्यायी सृष्टि के प्रकरण में कहते हैं कि 'उसने श्रेयोरूप धर्म की सृष्टि की। जो यह धर्म है, वह क्षत्रियों का क्षत्र (नियन्ता) है। अतः धर्म सर्वोत्कृष्ट वस्तु है। उससे उत्कृष्ट कोई पदार्थ नहीं है। दुर्बल मनुष्य भी धर्म के द्वारा प्रबल को जीतने की इच्छा करता है। जैसे—राजा की सहायता से दुर्बल पुरुष भी प्रबल को जीत लेता है। ब्रह्म को जानने वाला पुरुष ही परम तत्त्व को प्राप्त करता है। ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। आत्मज्ञानी मनुष्य शोक को पार कर जाता है। इस प्रकार अनेकों श्रुतियों में ब्रह्म-ज्ञान-प्रयुक्त पुरुषार्थ प्रसिद्ध है। इसलिये धर्म और ब्रह्म-ज्ञान की इच्छा रखनेवाले पुरुष ही वेद के अधिकारी हैं। उन दोनों इच्छाओं से युक्त होने पर भी त्रैवर्णिक ही अधिकारी हैं। स्त्री और शूद्र को ज्ञान की अपेक्षा होने पर भी उपनयन-रहित होने के कारण वेदाध्ययन में अधिकार नहीं है। अतः स्त्री और शूद्र के लिए वेदाध्ययन का अधिकार निषिद्ध है। धर्म और ब्रह्म के ज्ञान की अपेक्षा होने पर पुराण आदि के द्वारा उसकी प्राप्ति होती है। अतः त्रैवर्णिक पुरुषों को वेद के द्वारा अर्थज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है।

सम्बन्धस्तु वेदस्य धर्मब्रह्मभ्यां सह प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः, तदीय-ज्ञानेन सह जन्यजनकभावः, त्रैवर्णिकपुरुषैः सह उपकार्योपकारकभावः। तदेवं विषयाद्यनुबन्धचतुष्टयमवगत्य समाहितधियः श्रोतारो वेदव्याख्याने प्रवर्त्तन्ताम्।

धर्म और ब्रह्म के साथ वेद का प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध है और वेदजन्य-ज्ञान के साथ जन्यजनकभाव सम्बन्ध है। ज्ञान जन्य है और वेद उसका जनक है। त्रैवर्णिक पुरुषों के साथ वेद का उपकार्योपकारकभाव सम्बन्ध है। पुरुष उपकार्य है और वेद उसका उपकारक है। इस प्रकार विषयादि चारों अनुबन्धों को जानकर प्रमाद-रहित बुद्धि वाले श्रोता वेद के व्याख्यान में प्रवृत्त हों।

॥ परापरविद्यानां भेदप्रदर्शनपूर्वकं षडङ्गानामुद्देशनिरूपणम् ॥

अतिगम्भीरस्य वेदस्य अर्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि। अतएव तेषामपरविद्यारूपत्वं मुण्डकोपनिषदि आथर्वणिका

आमनन्ति—द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा, कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। 'अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते' (मुण्ड० उ० १।१।४।५) इति। साधनभूतधर्मज्ञानहेतुत्वात् षडङ्गसहितानां कर्मकाण्डानामपरविद्यात्वम् परमपुरुषार्थभूतब्रह्मज्ञानहेतुत्वादुपनिषदां परविद्यात्वम्।

अत्यन्त गम्भीर अर्थों से युक्त वेदों के अर्थ का बोध कराने के लिये शिक्षा आदि छः अङ्ग प्रवृत्त हुए हैं अर्थात् उनके अर्थ को समझने में सहायक छः अङ्ग-शास्त्र हैं। इसीलिये आथर्वणिकों ने मुण्डकोपनिषद् में इन सबों का अपरविद्या रूप से प्रतिपादन किया है—'ब्रह्मज्ञानी पुरुष दो विद्याओं को ही जानने योग्य बतलाते हैं:—पराविद्या और अपराविद्या। इनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—ये अपरविद्याएँ कहलातीं हैं। इनमें ऋग्वेद से अथर्ववेद तक चारों वेदों के नाम हैं और शिक्षा से लेकर ज्योतिषपर्यन्त उनके अङ्गों के नाम हैं। अभिप्राय यह हुआ कि अङ्गों के सहित चारों वेद 'अपराविद्या' कहलाते हैं।

उसके बाद दूसरी पराविद्या है, जिससे उस अक्षर (अविनाशी) परतत्त्व को जाना जाता है। ब्रह्मज्ञान के साधनभूत धर्मज्ञान के हेतु होने के कारण छहों अङ्गों के साथ कर्मकाण्ड के प्रतिपादक चारों वेदों को अपराविद्या कहते हैं। मोक्षरूप परमपुरुषार्थभूत ब्रह्मज्ञान के हेतु होने के कारण उपनिषद्भाग को पराविद्या कहते हैं। पूर्वप्रयुक्त वेद शब्द केवल संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक का प्रतिपादक है। वेद का अन्तिम भाग उपनिषद् है। इसीलिये इसको वेदान्त शब्द से भी कहा जाता है।

॥ शिक्षा-निरूपणम् ॥

वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्र उपदिश्यते, सा शिक्षा। तथा च तैत्तिरीया उपनिषदारम्भे समामनन्ति—'शीक्षां व्याख्यास्यामः।' वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलं, साम, सन्तान इत्युक्तः शीक्षाध्यायः' (तै० उ० १।१) इति। वर्णोऽकारादिः। स च अङ्गभूतशिक्षाग्रन्थे स्पष्टमुदीरितः —

'त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ता स्वयम्भुवा'॥
(पा० शि० ३) इत्यादिना।

स्वर उदात्तादिः। सोऽपि तत्रोक्तः—

'उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः'। (पा० शि० ११) इति। मात्रा ह्रस्वादिः। सापि तत्रोक्ता—

'ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि'। (पा० शि ११) इति। वलं स्थानप्रयत्नौ। तत्र 'अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्' (पा० शि० १३) इति। इत्यादिना स्थानमुक्तम्। अचोऽस्पृष्टा, यणस्त्वीषद्'। (पा०शि० ३८) इति। इत्यादिना प्रयत्न उक्तः। सामशब्देन साम्यमुक्तम्। अतिद्रुतातिविलम्बितगीत्यादिदोषराहित्येन माधुर्यादिगुणयुक्तत्वेन उच्चारणं साम्यम्। 'गीती शीघ्री शिरः कम्पी' (पा० शि० ३२) इत्यादिना, 'उपांशु दष्टं त्वरितम्' (पा० शि० ३५) इत्यादिना च दोषा उक्ताः। 'माधुर्यमक्षरव्यक्तिः' (पा० शि० ३३) इत्यादिना गुणा उक्ताः।

जिस शास्त्र में वर्ण तथा स्वर आदि के उच्चारण-प्रकार (विधि) का उपदेश दिया जाता है, वह शिक्षा-शास्त्र कहलाता है। तैत्तिरीय शाखाध्यायी उपनिषद् के आरम्भ में कहते हैं कि 'शिक्षा की व्याख्या करूँगा'। उसके बाद वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान का उपदेश करके कहा गया कि 'इस प्रकार शिक्षाध्याय का उपदेश हुआ।' अकार आदि वर्ण कहलाते हैं। वेदों के अङ्गभूत शिक्षा-ग्रन्थ में वह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। जैसे—पाणिनि-शिक्षा में कहा गया कि शम्भु के मतानुसार प्राकृत तथा संस्कृत में भी तिरेसठ या चौंसठ वर्ण स्वीकार किये गये हैं और ये वर्ण स्वयम्भु के द्वारा स्वयं प्रतिपादित हैं। उदात्त आदि को स्वर कहते हैं। स्वर भी उसी शिक्षा-ग्रन्थ में प्रतिपादित है—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन स्वर होते हैं। ह्रस्व आदि को मात्रा कहते हैं। उसका भी उसी शिक्षा-ग्रन्थ में प्रतिपादन किया गया है। उच्चारण काल के अनुसार अचों

में नियन्त्रित ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत को स्वर कहते हैं। स्थान और प्रयत्न को बल कहा जाता है। उसमें 'वर्णों के आठ उच्चारण-स्थान हैं' आदि के द्वारा स्थान का प्रतिपादन किया और 'अच् अस्पृष्ट एवं यण् ईषद् स्पृष्ट कहलाता है' के द्वारा प्रयत्न का कथन किया गया है। साम शब्द से साम्य अभिहित है। अतिद्रुत, अतिविलम्बित तथा गीति आदि दोषों से रहित और माधुर्य आदि गुणों से युक्त उच्चारण को साम्य कहते हैं। 'गीती शीघ्री' तथा 'उपांशु दष्टम्' आदि के द्वारा दोषों का कथन किया गया है। 'माधुर्यमक्षरव्यक्तिः' इत्यादि के द्वारा गुणों का अभिधान है।

सन्तानः संहिता। 'वायवायाहि' (ऋ० सं० १।२।१) इत्यत्रावादेशः, 'इद्राग्नी आगतम्' (ऋ० सं० ३।१२।१.) इत्यत्र प्रकृतिभावः। एतच्च व्याकरणेऽभिहितत्वात् शिक्षायामुपेक्षितम्। शिक्ष्यमाणवर्णातिवैकल्ये बाधस्तत्रोदाहृतः—

'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' ॥ (पा०शि० ५२)।

'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' (तै० सं० २।४।१२।१) इत्यस्मिन् मन्त्रे इन्द्रस्य शत्रुर्घातक इत्यस्मिन् विवक्षितेऽर्थे तत्पुरुषसमासे 'समासस्य' (पा० सू० ६।१।२२३) इति सूत्रेण तत्पुरुषत्वात् अन्तोदात्तेन भवितव्यम्; आद्युदात्तस्तु प्रयुक्तः। तथा सति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन बहुव्रीहित्वाद् इन्द्रो घातको यस्येत्यर्थः सम्पन्नः। तस्मात् स्वरवर्णाद्यपराधपरिहाराय शिक्षाग्रन्थोऽपेक्षितः।

संहिता (वर्णों के अत्यन्त सान्निध्य) को सन्तान कहते हैं। 'वायो + आयाहि' इन दोनों पदों का अत्यन्त सान्निध्य रहने पर 'वायो' पद-घटक 'ओ' के स्थान पर अव् आदेश हो जाने से 'वायवायाहि' पद बन जाता है। इसी को अयादि-सन्धि कहते हैं। इसी प्रकार 'इन्द्राग्नी + आगतम्' में यणादि की प्राप्ति थी; परन्तु उन सबों को बाधित कर प्रकृतिभाव सन्धि हो गयी। इस सन्धि में पद यथास्वरुप स्थित रहता है। यहाँ दोनों का प्रकृतिस्थ (विकाराभाव) रहना ही सन्धि है।

इन सबका व्याकरण में प्रतिपादन किया गया है। अतः शिक्षाग्रन्थ में इनकी उपेक्षा (परित्याग) कर दी गयी है। शिक्षा-ग्रन्थ में निर्दिष्ट नियमों के अनुसार वर्णों का समुचित उच्चारण न होने पर दोष प्राप्त होता है। उसी शिक्षा-ग्रन्थ में उस दोष का उदाहरण भी प्रस्तुत किया गया है—जो मन्त्र स्वर या वर्ण से हीन होता है, वह मन्त्र मिथ्या-प्रयुक्त होने के कारण स्वाभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता। वह वाणी ही वज्र बन जाती है और यजमान की हिंसा कर देती है। जैसे स्वर के अपराध से 'इन्द्रशत्रु' शब्द इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर का विनाशक बन गया था। इन्द्र को मारने के लिये वृत्रासुर ने यज्ञानुष्ठान किया। उसमें वृत्रासुर की शक्ति आदि की वृद्धि की कामना से 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' मन्त्र का प्रयोग किया गया। इसमें इन्द्र के शत्रु = घातक वृत्र की वृद्धि विवक्षित थी और इस विवक्षित अर्थ के अनुसार तत्पुरुषसमास मानने पर 'समासस्य' इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार अन्तोदात्त उच्चारण करना चाहिए था; किन्तु आद्युदात्त पद का प्रयोग किया गया। आद्युदात्त उच्चारण करने पर पूर्वपदप्रकृतिस्वर होने के कारण बहुव्रीहि समास मानना पड़ा। तब पूर्व-विवक्षित अर्थ न होकर 'इन्द्र है घातक जिसका' यह अर्थ सम्पन्न हुआ। जिससे इन्द्र का वध न होकर वृत्र का ही वध हो गया। इसलिये स्वर तथा वर्ण आदि के उच्चारण के वैपरीत्य से उत्पन्न होने वाले अपराधों को दूर करने के लिए शिक्षा-ग्रन्थ अत्यन्त आवश्यक है।

॥ कल्प-निरूपणम् ॥

कल्पस्तु आश्वलायनापस्तम्बबौधायनादिसूत्रम्, 'कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र' इति व्युत्पत्तेः।

ननु आश्वलायनः किं मन्त्रकाण्डमनुसृत्य प्रवृत्तः किं वा ब्राह्मणमनुसृत्य? नाद्यः, दर्शपूर्णमासौ तु पूर्वं व्याख्यास्यामः' (आ० श्रौ० सू० १।१) इत्येवं तेनोपक्रान्तत्वात्, न हि 'अग्निमीले' (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादयो मन्त्रा दर्शपूर्णमासयोः क्वचिद् विनियुक्ताः। न द्वितीयः, 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालम्' (ऐत० ब्रा० १।१) इत्येवं दीक्षणीयेष्टेर्ब्राह्मणे प्रक्रान्तत्वात्।

आश्वलायन, आपस्तम्ब तथा बौधायन आदि ऋषियों के द्वारा यागस्वरुप बतलाने के लिये जिन सूत्रों का प्रणयन हुआ, वे कल्प कहलाते हैं। इसकी व्युत्पत्ति भी इस प्रकार है—जिसमें याग-प्रयोगों की कल्पना की गयी अर्थात् समर्थन किया गया, उसे कल्प कहते हैं।

शङ्का—आश्वलायन ने अपने कल्पसूत्र को मन्त्रकाण्ड के अनुसार बनाया अथवा ब्राह्मण-ग्रन्थ के अनुसार ? इसमें प्रथम-पक्ष समुचित नहीं है; क्योंकि उन्होंने अपने कल्पसूत्र के प्रारम्भ में कहा कि 'पहले दर्शपूर्णमास की व्याख्या करूँगा'। 'अग्निमीले' इत्यादि मन्त्रों का दर्शपूर्णमास में कहीं भी विनियोग नहीं होता है। अतः आश्वलायन-कल्पसूत्र को मन्त्रकाण्ड के अनुसार नहीं माना जा सकता। दूसरा पक्ष भी युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थ 'आग्नावैष्णवम्' इत्यादि के द्वारा दीक्षणीयेष्टि से प्रारम्भ है, दर्शपूर्णमास से नहीं। इसलियें वह कल्पसूत्र ब्राह्मण-ग्रन्थ के अनुसार भी नहीं कहा जा सकता। जब वह कल्पसूत्र न मन्त्रकाण्ड के अनुसार है और न ब्राह्मण-ग्रन्थ के अनुसार, तब उसकी युक्तता कैसे होगी ?

अत्रोच्यते—मन्त्रकाण्डो ब्रह्मयज्ञादिजपक्रमेण प्रवृत्तो न तु यागानुष्ठानक्रमेण। ब्रह्मयज्ञश्चैवं विहितः—'यत् स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञ' (तै० आ० २।१०) इति। सोऽयं ब्रह्मयज्ञजपोऽग्निमील इत्याम्नायक्रमेणैव अनुष्ठेयः। तथा सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि 'वाचः स्तोमे पारिप्लवं शंसति' इति विधीयते।

उपर्युक्त शङ्का का समाधान देते हैं—मन्त्रकाण्ड ब्रह्मयज्ञादि जप के क्रम के अनुसार प्रवृत्त हुआ है, यागों के अनुष्ठानों के क्रम के अनुसार नहीं। ब्रह्मयज्ञ इस प्रकार विहित है—'जो पुरुष एक भी ऋचा, यजुः अथवा साम का अध्ययन करता है, वह ब्रह्मयज्ञ है। उस ब्रह्मयज्ञ का 'अग्निमीले' इत्यादि आम्नाय (वेद) के क्रम से ही अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकार सभी ऋचाओं, सभी यजुषों तथा सभी सामों का 'वाचस्तोमे' इत्यादि से पाठ का विधान है।

तथा आश्विने सस्यमाने 'सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात्'

(आप० श्रौ० १४।११।२) इति विधीयते; तथा 'रिच्यत इव वा एष प्रेवरिच्यते, यो याजयति वा प्रति वा गृह्णाति, याजयित्वा प्रतिगृह्य वानश्नन् त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीयत' (तै० आ० २।१६) इति प्रायश्चित्तरूपं वेदपारायणं विहितम्—इत्यादिषु कृत्स्नमन्त्रकाण्डविनियोगेषु सम्प्रदायपारम्पर्यागत एव क्रम आदरणीयः ।

आश्विन के आशंसन में 'जब तक सूर्य का उदय न हो, तभी सम्पूर्ण दशमण्डलात्मक ऋग्वेद का अभ्यास सम्पन्न कर ले' इसका विधान है । 'जो यागादि का अनुष्ठान करवाता है अथवा प्रतिग्रह लेता है; वह यागानुष्ठान कराकर या प्रतिग्रह लेकर विना भोजन किये वेद का तीन वार स्वाध्यायाध्ययन करे । अन्यथा वह विद्वान् धन तथा विद्यादि से रिक्त हो जाता है । इस प्रकार प्रायश्चित्त-रुप वेद के पारायण का विधान है । इस प्रकार सम्पूर्ण मन्त्रकाण्ड के विनियोग में सम्प्रदाय-परम्परा-प्राप्त क्रम का ही आदर करना चाहिए अर्थात् मानना चाहिए ।

विशेषविनियोगांस्तु मन्त्रविशेषाणां श्रुतिलिङ्गवाक्यादिप्रमाणानि उपजीव्य आश्वलायनो दर्शयति । अतो मन्त्रकाण्डक्रमाभावेऽपि न कश्चिद् विरोधः । 'इषे त्वा' इत्यादिमन्त्रास्तु क्रत्वनुष्ठाक्रमेणैव आम्नाता इत्यापस्तम्बादयस्तेनैव क्रमेण सूत्रनिर्माणे प्रवृत्ताः । आम्नातत्वादेव जपादिष्वपि स एव क्रमः । यद्यपि ब्राह्मणे दीक्षणीयेष्टिरुपक्रान्ता तथापि तस्या इष्टेर्दर्शपूर्णमासविकृतित्वेन तदपेक्षत्वादाश्वलायनस्यादौ तद्व्याख्यानं युक्तम् । अतः कल्पसूत्रं मन्त्रविनियोगेन क्रत्वनुष्ठानमुपदिश्य उपकरोति ।

आश्वलायन तत्तद् मन्त्रों के विशेष विनियोगों को श्रुति आदि प्रमाणों के आधार पर ही प्रदर्शित करते हैं । इसलिये मन्त्रकाण्ड में क्रम का अभाव होने पर भी कोई विरोध नहीं है । 'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्र अनुष्ठान के क्रम से ही पठित हैं । इसलिये आपस्तम्ब आदि ने उसी क्रम से सूत्रों का भी निर्माण किया है । संहिता में अनुष्ठान-क्रम से श्रुत होने के कारण ही जपादि में भी वही क्रम माना जाता है । यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थ के प्रारम्भ में दीक्षणीयेष्टि ही है तथापि उस इष्टि को दर्शपूर्णमास की विकृति होने के कारण उसमें दर्शपूर्णमास की अपेक्षा होती

है। इसलिये आश्वलायन के द्वारा सम्पादित दर्शपूर्णमास का प्रथमव्याख्यान समुचित ही है। अतः कल्पसूत्र मन्त्रों के विनियोग के प्रतिपादन द्वारा यागों के अनुष्ठानों का उपदेश करके उपकार-सम्पादन करता है।

तर्हि 'प्र वो वाजा' (ऋ० सं० ३।२७।१) इत्यादीनां सामिधेनीनामृचामेव विनियोगमाश्वलायनो ब्रवीतु; 'नमः प्रवक्त्रे' इत्यादयस्त्वानाम्नाताः कुतो विनियुज्यन्ते (आश्व० सू० १।२) इति चेन् ? नायं दोषः, शाखान्तरसमाम्नातानां ब्राह्मणान्तरसिद्धस्य विनियोगस्य गुणोपसंहारन्यायेनात्र वक्तव्यत्वात् । सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म इति न्यायविदः । तस्मात् शिक्षेव कल्पोऽपि अपेक्षितः ।

शङ्का—आश्वलायन 'प्र वो वाजा' इत्यादि सामिधेनी ऋचाओं का ही विनियोग बतलावें, क्योंकि वे श्रुत हैं। अश्रुत 'नमः प्रवक्त्रे' इत्यादि के विनियोग का प्रतिपादन क्यों करते हैं ?

समाधान—इसके विनियोग का प्रतिपादन करना भी दोषावह नहीं है; क्योंकि दूसरी शाखाओं में पठित तथा दूसरे ब्राह्मणों के द्वारा सिद्ध विनियोगों का गुणोपसंहार-न्याय से प्रतिपादन करना अनुचित नहीं है अपितु उचित ही है। न्यायविदों का कहना है कि सभी शाखाओं से ज्ञात एक ही कर्म होता है भिन्न नहीं। इसलिये शिक्षा के समान कल्प भी विनियोग-ज्ञान के लिये अपेक्षित ही है।

॥ व्याकरणाङ्गस्य निरुपणम् ॥

व्याकरणमपि प्रकृतिप्रत्ययाद्युपदेशेन पदस्वरूपतदर्थनिश्चयायात्र उपयुज्यते । तथा च ऐन्द्रवायवग्रहब्राह्मणे समाम्नायते—'वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति । सोऽब्रवीत्, वरं वृणै, मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति । तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते । तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते' (तै० सं० ६।४।७।३) इति ।

अग्निमीले पुरोहितमित्यादिवाक् पूर्वस्मिन काले पराची समुद्रादि-

ध्वनिवदेकात्मिका सत्यव्याकृता, प्रकृतिः प्रत्ययः पदं वाक्यमित्यादि-विभागकारिग्रन्थरहिता आसीत्। तदानीं देवैः प्रार्थित इन्द्र एकस्मिन्नेव पात्रे वायोः स्वस्य च सोमरसग्रहणरुपेण वरेण तुष्टस्तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययादिविभागं सर्वत्र अकरोत्। तस्मादियम् वाग् इदानीमपि पाणिन्यादिमहर्षिभिर्व्याकृता सर्वैः पठ्यत इत्यर्थः।

व्याकरण-रुप वेदाङ्ग का भी प्रकृति तथा प्रत्यय आदि के उपदेश के द्वारा पद, उसके स्वरूप एवं उसके अर्थ का निश्चय करने के लिये उपयोग होता है। ऐन्द्रवायवग्रह नामक ब्राह्मण में इस प्रकार सुना जाता है—व्याकरण-निर्माण के पहले अव्याकृत (विच्छेद-रहित) समुद्रादि के अव्यक्त ध्वनि के समान वाणी बोलते थे। वे देवता लोग इन्द्र से प्रार्थना किये कि आप हमारी इस वाणी को व्याकृत (व्याकरण युक्त) करें। इन्द्र ने कहा—मैं एक वर माँगता हूँ कि मेरा और वायु का एक साथ ग्रहण हो अर्थात् हम दोनों को पान के लिये एक ही साथ सोम दिया जाय। इसलिये इन्द्र और वायु का एक ही साथ ग्रहण किया जाता है। ऐसा वर प्राप्त करके इन्द्र ने उस वाणी को बीच-बीच से विच्छिन्न करके व्याकृत कर दिया। इसलिये उसी समय से यह व्याकृत वाणी बोली जाती है। ग्रन्थकार इसी का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं कि पूर्वकाल में 'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्यादि वेदवाणी समुद्र आदि के ध्वनि के समान एकात्मिका थी। उसके मध्य में कहीं भी विच्छेद नहीं था। प्रकृति, प्रत्यय, पद तथा वाक्य आदि का विभाग करने वाला कोई ग्रन्थ न था अर्थात् व्याकरणशास्त्र का अभाव था। उस समय देवताओं के द्वारा प्रार्थित इन्द्र एक ही पात्र में वायु तथा अपना सोमरस के ग्रहण रूप वर से सन्तुष्ट होकर उस अखण्डात्मिका वाणी के बीच-बीच में विच्छेद करके सर्वत्र प्रकृति, प्रत्यय आदि का विभाग कर दिया। इसलिये इस समय भी पाणिनि आदि महर्षियों के द्वारा व्याकृत यह वाणी सबों के द्वारा पढ़ी जाती है।

तस्य एतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्त्तिके दर्शितः 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इति। एतानि रक्षादिप्रयोजनानि प्रयोजनान्तराणि च महाभाष्ये पतञ्जलिना स्पष्टीकृतानि। रक्षार्थं

वेदानामध्येयं व्याकरणम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यति वेदार्थं चाध्यवस्यति । ऊहः खल्वपि; न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः; ते चावश्यं यज्ञाङ्गत्वेन यथायथं विपरिणमयितव्याः । तान्नावैयाकरणः शक्नोति विपरिणमयितुम्, तस्मादध्येयं व्याकरणम् । आगमः खल्वपि; 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति । प्रधानञ्च षट्सु अङ्गेषु व्याकरणम् । प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति ।

वररुचि (कात्यायन) ने अपने वार्त्तिक-ग्रन्थ में उस व्याकरणशास्त्र के विशेष प्रयोजनों को दिखलाया है—रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असन्देह इसके प्रयोजन हैं। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में इन प्रयोजनों तथा अन्य प्रयोजनों का भी स्पष्ट रुप से प्रतिपादन किया है। वेदों की रक्षा के लिये व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करना चाहिये। लोप, आगम और वर्णविकार को जानने वाले पुरुष ही वेदों का सम्यक् परिपालन और उसके सम्यक् अर्थ का निर्धारण कर सकते हैं। जैसे—लोक में 'आत्मना' शब्द का प्रयोग होता है; किन्तु वेद में आकार का लोप हो जाता है और 'त्मना' शब्द का ही प्रयोग मिलता है। लोक में 'देवाः' 'ब्राह्मणाः' शब्द का प्रयोग किया जाता है; परन्तु वेद में बहुवचन में असुक् का आगम और अनुबन्ध का लोप करके 'देवासः' 'ब्राह्मणासः' शब्द का प्रयोग होता है। एवं लोक में 'दुह्' धातु से लङ् लकार में 'अदुहत' प्रयोग निष्पन्न होता है और वेद में तकार का लोप तथा रुट् का आगम करके 'अदुह्र' शब्द का प्रयोग होता है। लोक में 'उद्' उपसर्गक 'ग्रह' धातु से 'उद्ग्राहम्' शब्द बनता है। वेद में 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' सूत्र के अनुसार हकार के स्थान पर भकार आ जाता है। अतः 'उद्ग्राभम्' प्रयोग होता है। जिसने व्याकरणशास्त्र का अध्ययन नहीं किया और वेदों के अध्ययन में संलग्न हो गया। उसको इन लोपादि से युक्त शब्दों को देखकर भ्रम उत्पन्न हो जायेगा। भ्रम होने पर निर्णयात्मक अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः ,वेदों के सम्यक् अर्थ-ज्ञान के लिए व्याकरणशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। 'रक्षार्थं' शब्द-घटक अर्थं शब्द प्रयोजन रूप अर्थ का वाचक है।

ऊह भी व्याकरणशास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन है। इसमें प्रयुक्त 'खल्वपि' निपातसमुदाय निश्चय अर्थ का वाचक है। वेद में सभी लिङ्गों तथा सभी विभक्तियों से युक्त मन्त्रों का पाठ नहीं है; किन्तु याग आदि अनुष्ठानों के सम्पादन करनेवाले पुरुषों को मन्त्रों में समुचित विपरिणाम भी अवश्य ही करना पड़ता है। जिसने व्याकरणशास्त्र का अध्ययन नहीं किया है, वह सम्यक् विपरिणाम करने में समर्थ नहीं हो सकता है। उदाहरण—'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' मन्त्र के द्वारा अग्नि-देवताक निर्वाप का विधान है। वेद में यह भी कहा गया कि 'ब्रह्मवर्चसकाम पुरुष सूर्यदेवताक चरू का निर्वाप करे'। ऐसी परिस्थिति में पूर्वप्रयुक्त अग्नि देवता के स्थान पर सूर्यदेवता के लिये मन्त्र का ऊह करना आवश्यक है। पूर्व मन्त्र में अग्नि शब्द चतुर्थी-विभक्ति से युक्त है। अतः 'अग्नये' यह शब्द निष्पन्न हुआ है। जब उसके स्थान पर सूर्यदेवता का ग्रहण करना है, तब सूर्य शब्द के साथ चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग करके 'सूर्याय' यह शब्द बनाना पड़ेगा। तब मन्त्र का स्वरूप यह होगा—'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि'। यह विभक्ति का विपरिणाम हुआ। इसी प्रकार लिङ्ग का भी विपरिणाम आवश्यक होता है, जैसे—'देवीरापः शुद्धाः स्थ' इस मन्त्र का आप (जल) अर्थ में प्रयोग किया गया है। इस मन्त्र को आज्य अर्थ में प्रयोग करने पर 'देवाज्यं शुद्धमसि' मन्त्र का ऊह करना आवश्यक है। पूर्व-मन्त्र में स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग था। उसके स्थान पर 'आज्य' शब्द को नपुंसक होने के कारण नपुंसक लिङ्ग का ऊह करना पड़ा। अतः मन्त्रों में ऊह करने के लिये भी व्याकरणशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। जो व्याकरण नहीं पढ़ा है, वह लिङ्ग का तथा विभक्ति का विपरिणाम नहीं कर सकता है।

आगम भी व्याकरण के अध्ययन का प्रयोजक है। उसमें कहा गया है कि 'ब्राह्मण का कर्त्तव्य है कि फल की इच्छा से रहित होकर छहों अङ्गों से युक्त वेदों का अध्ययन करे तथा ज्ञान प्राप्त करे'। इस आगम में प्रयुक्त 'कारण' शब्द फल का वाचक है। व्याकरण का अध्ययन ब्राह्मण का नित्यकर्म है, काम्य नहीं। सभी अङ्गों के सहित वेद का अध्ययन आवश्यक है और सभी अङ्गों में व्याकरण प्रधान है; क्योंकि पद-पदार्थ का ज्ञान व्याकरण से ही सम्भव है और वाक्यों के शाब्दबोध के प्रति पद-पदार्थ ही मूल है। पद-पदार्थ के ज्ञान के बिना वाक्यार्थ

बोध सम्भव नहीं है और वाक्यार्थ-बोध के विना व्यवहार असम्भव है। अतः व्याकरण का सर्वप्रधानत्व सिद्ध होता है। प्रधान-विषयक सम्पादित व्यापार फलवान् होता है, निष्फल नहीं। यहाँ फल पद से वाक्यार्थबोध को ही समझना चाहिये। व्याकरणशास्त्र पद-पदार्थ के बोध के द्वारा वाक्यार्थ-ज्ञान के उपयोगी होता है। इसलिये व्याकरण अध्ययन करनेवाले पुरुष ही वैदिक वाक्यों का समुचित अर्थ-निर्णय कर सकते हैं। अतः व्याकरण का अवश्य ही अध्ययन करना चाहिये।

लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्। बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्त्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम; बृहस्पति च वक्ता, इन्द्रश्च अध्येता, दिव्यं वर्षसहस्त्रमध्ययनकालः, अन्तं च न जगाम। अद्य तु पुनर्यदि परमायुर्भवति स वर्षशतं जीवति। तव कुतः प्रतिपदपाठेन सकलपदावगमः, कुतस्तरां प्रयोगेण।

व्याकरणाध्ययन का लाघव भी प्रयोजन है। जो लघुरूप से सभी शब्दों का ज्ञान करना चाहता है, उसके लिये व्याकरण का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। अध्यापन आदि ब्राह्मणों की जीविका है और अध्यापन के लिये शब्दों का ज्ञान आवश्यक है। जब तक शब्दों ज्ञान नहीं होगा, तब तक छात्र प्रसन्न नहीं हो सकते। अतः सफल अध्यापन के लिये व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि व्याकरण के विना लघु उपाय से शब्दों का ज्ञान सम्भव नहीं है। सभी शब्दों की गणना करके ज्ञान नहीं किया जा सकता। इसमें एक उदाहरण उपस्थित करते हैं—देवताओं के गुरु बृहस्पति ने देवराज इन्द्र के लिये दिव्य हजारों वर्ष पर्यन्त प्रतिपदोक्त शब्दों का पारायण किया, परन्तु शब्दों का अन्त न हो सका। इस समय जो अधिक से अधिक आयु वाला होता है, वह सौ वर्ष तक जीवित रहता है। तब इतने ही दिन में प्रतिपद पाठ के द्वारा सभी शब्दों का ज्ञान कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। जब शब्दों का ही ज्ञान नहीं होगा, तब उसका प्रयोग तो विलकुल नहीं हो सकता। इसलिये अन्य उपायों की अपेक्षा लघु रूप से शब्दों के ज्ञान के लिये व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है। शब्दों के प्रतिपद पाठ की अपेक्षा उत्सर्गापवादात्मक सूत्रों से युक्त व्याकरणशास्त्र-बोध्य प्रकृति-

प्रत्ययादि के विभाग के द्वारा शब्दों के अन्वाख्यान में लाघव है। यह व्याकरणशास्त्र से ही सम्भव है। अतः व्याकरणशास्त्र का अध्ययन करना चाहिये।

असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति—'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत' इति। तत्र न ज्ञायते, किं स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती, किं वा स्थूला चाऽसौ पृषतीति। तान् नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति। यदि समासान्तोदात्तत्वं, तदा कर्मधारयः; अथ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो वहुव्रीहिरिति।

पदादिविषयक सन्देहाभाव के लिये भी व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये। सन्देह चार प्रकार के होते हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। यहाँ अन्योन्याभाव की प्राप्ति ही नहीं है; क्योंकि भेद-स्थल में ही वह माना जाता है, जैसे—'घटो न पटः' इत्यादि। अत्यन्ताभाव का भी ग्रहण सम्भव नहीं है। कारण यह है कि वह नित्य होता है और मनुष्य-स्वभाव-सिद्ध होने के कारण सन्देह तो सुलभ ही है। इसलिये अत्यन्ताभाव भी नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार प्रध्वंसाभाव भी नहीं मान सकते; क्योंकि तत्तत् पदादिविषयक व्याकरण-ज्ञानवान् पुरुष को सन्देह उत्पन्न ही नहीं होता। जब सन्देह ही उत्पन्न नहीं होता, तब सन्देह का ध्वंस भी असम्भव है। इसलिये प्रध्वंसाभाव मानना कदापि उचित नहीं है। वैयाकरण को सन्देह होता ही नहीं है। सन्देह न होने के कारण तद्विषयक उत्पत्ति और विनाश भी सम्भव नहीं है।

यदि कहा जाय कि वैयाकरणों को भी सन्देह देखा जाता है, इसका समाधान है कि यद्विषयक सन्देह है, तद्विषयक वैयाकरणत्व ही उसमें नहीं है। यद्विषयक वैयाकरणत्व रहेगा, तद्विषयक सन्देह नहीं होता है। कारण यह है कि वैयाकरण शब्द में ज्ञान अर्थ में ही अण् प्रत्यय का विधान है। उन तीनों अभावों को सङ्गत न होने के कारण अवशिष्ट प्रागभाव ही माना जा सकता है। वैयाकरणों को सन्देह का प्रागभाव रहता है। सन्देह-प्रागभाव का परिपालन ही व्याकरण-शास्त्र के अध्ययन का फल है, संशय-प्रागभाग नहीं, क्योंकि वह जन्य नहीं होता। सन्देह के जनक कारण का विनाश ही उसका परिपालन है, क्योंकि प्रतियोगी की उत्पत्ति

से प्रागभाव का विनाश हो जाता है। अतः सन्देहप्रागभाव ही मानना चाहिए। उदाहरण—याज्ञिक लोग कहते हैं कि 'अग्नि-वरुणदेवताक स्थूलपृषती अनड्वाही का आलम्भन करे।' स्थूलपृषती शब्द में यह ज्ञात नहीं हो पाता कि स्थूल पृषती हो जिसकी, वह स्थूलपृषती कहलायेगी अथवा पृषती ही स्थूल हो। पृषती = बिन्दु। अभिप्राय यह है कि बहुव्रीहि समास है या कर्मधारय है। जब 'समासस्य' सूत्र से अन्तोदात्त होगा, तब कर्मधारय होगा और जब पूर्वपदप्रकृतिस्वर होगा, तब बहुव्रीहि होगा। जिसने व्याकरण नहीं पढ़ा है, वह स्वर के आधार पर समास का निर्णय नहीं कर सकेगा। यदि स्वर का सम्यक् ज्ञान नहीं होगा, तो अनर्थ की प्राप्ति होगी। पहले भी इस तरह का उदाहरण आ चुका है। स्वर आदि के वैपरीत्य से वाणी ही वज्र के समान घातक बन जाती है और यजमान की हिंसा कर देती है। अतः स्वरादि से पदादिकों के निर्णय के लिये तथा यजमान की रक्षा के लिये व्याकरणशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। व्याकरणशास्त्र के अध्ययन के ये मुख्य प्रयोजन हुए।

इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि, तेऽसुराः, दुष्टः शब्दः, यदधीतम्, यस्तु प्रयुंक्ते, अविद्वांसः, विभक्ति कुर्वन्ति, यो वा इमाम्, चत्वारि, उत त्वः, सक्तुमिव, सारस्वतीम्, दशम्यां पुत्रस्य, सुदेवोऽसि वरुण इति।

व्याकरणशास्त्राध्ययन के मुख्य प्रयोजनों के अभिधान के पश्चात् पुनः आनुषङ्गिक प्रयोजनों को बतलाते हैं। पहले उन प्रयोजनों के प्रतीकमात्र का प्रदर्शन किया है, जैसे—तेऽसुरा इत्यादि। उपर्युक्त सभी प्रतीकों के आधार पर उनकी व्याख्या प्रस्तुत की जायेगी।

तेऽसुराः हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः।
तस्मात् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै, नापभाषितवै।
म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।

असुरों ने देवताओं को पराजित करने के लिये अनुष्ठान प्रारम्भ किया। उसमें 'हे अरयो' के स्थान पर 'हे अलयो' शब्द का उच्चारण किया।

इस शब्द के उच्चारण करते हुए वे पराभव को प्राप्त किये। पराभव का कारण एकमात्र म्लेच्छ (अपभ्रंश) शब्द का उच्चारण ही है। अतः ब्राह्मण को अपभ्रंश का उच्चारण कभी भी नहीं करना चाहिए। जो अपशब्द है, वही म्लेच्छ है। वह अपशब्दरुपी म्लेच्छ जिसमें रहेगा अर्थात् जो मनुष्य उसका उच्चारण करेगा, वह भी म्लेच्छ हो जायेगा। हम लोग म्लेच्छ न हो जायें, इसके लिये व्याकरणशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि 'हे अरयः' पद में "हैहेप्रयोगे हैहयोः" इस सूत्र से प्लुत संज्ञा और प्रकृतिभाव नाम की सन्धि होनी चाहिए थी; परन्तु प्रयोग करने वाला व्यक्ति सन्धि का प्रयोग नहीं किया। यही उसकी अपशब्दता है। कुछ लोगों का कहना है कि पद को ही द्वित्व करना चाहिए था; परन्तु पद का द्वित्व न करके वाक्य का द्वित्व किया। एवं 'अरयः' शब्द में रेफ के स्थान पर लकार का उच्चारण किया। यह अपशब्दता का कारण है। दोनों में से किसी को भी कारण माना जाय, किन्तु वह अपशब्द तो है ही। इसलिये उसका उच्चारण पराभव का कारण हुआ। पराभूत न हों, अतः व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

दुष्टः शब्दः

'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' ॥
(पा० शि० ५२)

दुष्टान् शब्दान् मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरम्।

स्वर या वर्ण के अपप्रयोग से शब्द दुष्ट (दोषयुक्त) हो जाता है। दुष्ट शब्दों का प्रयोग मिथ्या (निष्फल) है; क्योंकि शब्द स्वर आदि के दोष के कारण अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन न करते हुए अनिच्छित अर्थ का प्रतिपादन करता है। केवल अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादनाभाव ही दोष नहीं है, अपितु वह प्रत्यवाय को उत्पन्न करता है। वह दुष्ट शब्द को उच्चारण करने वाली वाणी ही वज्र बन जाती है और यजमान की हिंसा कर देती है। जिस प्रकार याज्ञिकों के द्वारा किये गये होमादि से यजमान में धर्म की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार याज्ञिकों के अपराध से

उत्पन्न प्रत्यवाय भी यजमान में ही रहता है और उसी को उसका कुफल भोगना पड़ता है। जैसे—स्वर के अपराध से इन्द्र के शत्रु वृत्र की हिंसा हो गयी। स्वर-विषयक अपराध को पहले ही दिखलाया जा चुका है। हम लोग दुष्ट शब्दों का प्रयोग न करें—इसके लिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

यदधीतम्—

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

अविज्ञातमनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्।

जिसने गुरु से अध्ययन किया; किन्तु स्वरादि संस्कारों को न जानने से अर्थ का परिज्ञान नहीं हो सका। वह पाठमात्र के द्वारा शब्दों का बार-बार उच्चारणमात्र किया अर्थात् अर्थ-ज्ञान न होने से वह अध्ययन निष्फल है। इसी अर्थ को परिपुष्ट करने के लिये दृष्टान्त समुपस्थित करते हैं कि जैसे अग्नि से रहित भस्ममात्र में डाली हुई सूखी लकड़ी प्रज्वलित नहीं होती, उससे ज्वाला का प्रादुर्भाव नहीं होता। इसीलिये वह निष्फल माना जाता है। उसी प्रकार अर्थ-ज्ञान से रहित केवल शब्दों का बार-बार उच्चारण भी निष्प्रयोजन है। अभिप्राय यह है कि इससे निष्प्रयोजन अध्ययन को अनुचित होने के कारण निष्प्रयोजन अध्ययन का निषेध प्राप्त होता है। इसलिये हमलोग भी निषिद्ध अध्ययन न करें—इसके लिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

यस्तु प्रयुंक्ते—

यस्तु प्रयुंक्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥

कः? वाग्योगविदेव। यो हि शब्दान् जानाति, अपशब्दानप्यसौ जानाति। यथैव शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः प्राप्नोति, अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति। भूयांसो ह्यपशब्दा, अल्पीयांसः शब्दाः; एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः, यथा—गौरित्येतस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयः। अथ योऽवाग्योगविद् अज्ञानं तस्य शरणम्।

जो शब्द-प्रयोग में कुशल (निपुण) व्यक्ति शब्दों के व्यवहार के समय शब्दों का अपने विशेष अर्थ में समुचित व्यवहार करता है, वह परलोक में अनन्त विजय को प्राप्त करता है और जो अपने विशेष अर्थ में समुचित व्यवहार करने में निपुण नहीं हैं, वे अपशब्द-प्रयोग-जन्य-प्रत्यवाय से दूषित हो जाते हैं। इससे व्याकरण का अध्ययन अभ्युदय का हेतु भी सिद्ध होता है। विशेष शब्द का तात्पर्य है कि एक ही शब्द अपने अर्थ-बोध कराने के लिए साधु माना जाता है और वही अन्यार्थ में प्रयुक्त होने पर असाधु माना जाता है, जैसे—'अस्व' शब्द निर्धन अर्थ में साधु और अश्व अर्थ में असाधु है। इस प्रकार के अनेक शब्द पाये जाते हैं। अतः विशेष (यथार्थ) अर्थ में प्रयोग-कुशल होना आवश्यक है। कुशल = व्याकरण का अध्ययन कर लेने के कारण सूत्रों के स्मरणपूर्वक शब्दों का प्रयोग करने वाला। यथावत् = अम्बूकृतादि दोषों से रहित। जो प्रकृति तथा प्रत्ययादि के विभाग द्वारा शब्दों के अर्थविशेष-वाचकत्व को जानता है, वही वाग्योगविद् कहलाता है। अर्थविशेष = शक्य, लक्ष्य तथा द्योत्य आदि अर्थ।

अब प्रश्न होता है कि अपशब्दों के प्रयोग से कौन दूषित होता है? क्योंकि वाग्योगविद् की जय आदि प्राप्ति ज्ञात है और दोष भी सम्भावित है। इसीलिये यह प्रश्न उपस्थित होता है। समाधान देते हैं कि वाग्योगविद् पुरुष ही अपशब्दों से दूषित होता है; क्योंकि जो साधु शब्दों को जानता है, वह अपशब्दों को भी जानता है। कारण यह है कि साधु शब्द के ज्ञान में अपशब्द-ज्ञान कारण है। बिना अपशब्द-ज्ञान के साधु-शब्द का ज्ञान सम्भव नहीं है। जैसे साधु-शब्दों के ज्ञान से धर्म की प्राप्ति होगी, वैसे ही अपशब्दों के ज्ञान से अधर्म भी प्राप्त होगा। इतना ही नहीं, धर्म की अपेक्षा अधिक अधर्म ही प्राप्त होगा। कारण यह है कि अपशब्द अधिक हैं और साधु-शब्द कम हैं। एक-एक साधु शब्द के अनेक अपभ्रंश होते हैं। जब साधु शब्द का ज्ञान होगा, तब अनेक अपभ्रंश का ज्ञान होगा। अतः अधिक अधर्म की प्राप्ति स्वाभाविक है। जैसे एक 'गौः' यह साधु शब्द है और इसके स्थान पर प्रयुक्त होने वाले गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रंश हैं। इसलिये वाग्योगविद् को अधिक अधर्म की प्राप्ति होगी।

अब प्रश्न होता है कि वाग्योगविद् को तो अधर्म प्राप्त होगा और अवाग्योगविद् को अधर्म होगा या नहीं। समाधान देते हैं कि उसको अधर्म नहीं होगा; क्योंकि उसको निषेधशास्त्र का ज्ञान ही नहीं है। विधिनिषेधशास्त्रों को जानने वाले विद्वानों को ही धर्माधर्म में अधिकार है। इसलिये अज्ञानी को विधि-निषेधविषयक ज्ञानाभाव ही पाप से बचने का उपाय है।

विषम उपन्यासः। नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति। यो ह्यजानन् वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत्। सोऽपि मन्ये पतितः स्यात्—एवं तर्हि कः? अवाग्योगविदेव। अथ यो वाग्योगविद्, ज्ञानं तस्य शरणम्।

पहले यह बतलाया गया कि अपशब्द के उच्चारण करने पर भी अज्ञानी पुरुष पाप का भागी नहीं बन सकता; क्योंकि उसमें उसका निषेधादिशास्त्रों का ज्ञानाभाव ही हेतु है। परन्तु इस प्रकार के हेतु का उपस्थापन संगत नहीं है। विषम=असंगत। उपन्यास=हेतु का कथन। 'अत्यन्ताय' यह अत्यन्त (सर्वथा) अर्थ का वाचक विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है। विधि-निषेधशास्त्रविषयक अज्ञान कदापि रक्षा का हेतु नहीं हो सकता है अर्थात् अपशब्द-प्रयोग-जन्य पाप का भागी होना ही पड़ेगा। पशु-पक्षियों में विधि-निषेध-रूप शास्त्रों के ज्ञान की योग्यता नहीं है। इसलिये उनका अज्ञान पाप-निवारक माना जा सकता है, किन्तु मनुष्यों में विधि-निषेध शास्त्रों के ज्ञान की योग्यता है। अतः उनका अज्ञान पापजनक ही होगा, पापाजनक नहीं। भाष्यकार ने 'नात्यन्ताय' पद का प्रयोग किया है। इससे मनुष्यों का शास्त्र-ज्ञानाभाव पापनिवारक नहीं हो सकता; क्योंकि विधिनिषेध-शास्त्रों का ज्ञानाभाव तथा निषिद्ध पदार्थों का अनुष्ठान रूप दोनों दोषों की प्रसक्ति होगी। अतः अज्ञान पाप-रक्षक नहीं हो सकता। उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि जो मनुष्य निषेध शास्त्रों को न जानते हुए भी ब्राह्मणत्वादि-ज्ञानपूर्वक उसके वध आदि का अनुष्ठान करेगा, तो वह वधकर्त्ता निश्चित ही पतित हो जायेगा, अथवा कोई पुरुष निषेधशास्त्र के अज्ञानवश सुरा (मदिरा) का पान करेगा, वह निश्चित ही पतित हो जायेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है। मन्ये=मानता हूँ, निश्चिय करता हूँ। यदि वधादि में ब्राह्मणत्वादि-विषयक अज्ञान है, शास्त्रविषयक नहीं;

तभी वह पापाल्पत्व का प्रयोजक हो सकता है। इस प्रकार अपशब्दों के ज्ञान होने पर भी वाग्योगविद् पुरुष पाप-भाजन नहीं हो सकता।

तब प्रश्न उपस्थित होता है कि जब वाग्योगविद् पाप का भागी नहीं होगा, तब पाप का भागी कौन होगा ? समाधान देते हैं कि अवाग्योगविद् ही पाप का भागी होगा; क्योंकि अन्यतराकांक्षा-रूप स्थान नामक प्रमाण की अपेक्षा लिङ्ग प्रमाण प्रबल होता है। वाग्योगविद् साधुशब्द तथा अपशब्द दोनों को जानता है तथापि साधु-शब्द का प्रयोग करता है, असाधु-शब्द का नहीं। अपशब्द के ज्ञान-पूर्वक साधु-शब्द का प्रयोग करने से धर्म होता है। अभिप्राय यह है कि 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः' इत्यादि के द्वारा साधुशब्द के प्रयोग में धर्म बतलाया गया है, ज्ञानमात्र में नहीं। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि अपशब्द के प्रयोग से अधर्म होता है, उसके ज्ञानमात्र से नहीं। इसीलिये वाग्योगविद् साधु तथा असाधु दोनों शब्दों को जानता है, परन्तु प्रयोग के समय असाधु-शब्द का परित्याग करके केवल साधुशब्द का ही प्रयोग करता है। अतः वह केवल धर्म को ही प्राप्त करता है। अवाग्योगविद् केवल अपशब्द को ही जानता है और उसी का प्रयोग भी करता है। इसलिये अपशब्द के प्रयोग करने से अधर्म ही प्राप्त होगा। इसीलिये भाष्यकार ने कहा कि जो वाग्योगविद् हैं, उनको साधु-शब्द-विषयक ज्ञान ही पापों से रक्षा करेगा। इसलिये अपशब्द-प्रयोग-जन्य पापों से बचने के लिये तथा साधुशब्द-जन्य धर्म को प्राप्त करने के लिये व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

अविद्वांसः—

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्॥
स्त्रीवन्मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्।

पाणिनि ने कहा है कि अशूद्रविषयक-प्रत्यभिवादन-वाक्य-घटक टिसंज्ञक अच् को प्लुतसंज्ञा हो। इसी प्रकार मनु ने भी कहा है कि "आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने। अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः" इत्यादि। अभिवादन के पश्चात् प्रयुक्त आशीर्वाद-वाक्य को प्रत्यभिवादन कहते हैं।

उदाहरण—शिष्य गुरु को प्रणाम करता है—'अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः'। उसके बाद गुरु आशीर्वाद देते हैं—'आयुष्मान् भव देवदत्त ३। यहाँ पर प्रत्यभिवादन-वाक्य-घटक देवदत्त शब्द के अन्तिम तकार-घटक अकार को प्लुत किया गया है। जो पुरुष व्याकरण-शास्त्र के विद्वान् नहीं हैं, वे प्रत्यभिवादन-वाक्य-घटक नाम के अकार को प्लुत करने में सक्षम नहीं हो सकते। अतः उनको प्रवास से आये हुए मनुष्य के अभिवादन के पश्चात् प्रयुक्त प्रत्यभिवादन-वाक्य के टिसंज्ञक अकार को प्लुत न करके स्त्रियों के समान "अयमहम्" का ही प्रयोग करना पड़ेगा। जैसे—वार्त्तिककार कात्यायन ने कहा है कि स्त्रीविषयक प्रत्यभिवादन-वाक्य में प्लुतसंज्ञा का विधान नहीं है। उदाहरण—पहले अभिवादन किया—'अभिवादये गार्ग्यहमिति'। प्रत्यभिवादनवाक्य—'आयुष्मती भव गार्गि'। यहाँ पर वाक्य के अन्तिम अच् को प्लुतसंज्ञा नहीं हुई। अतः स्त्रियों के समान हम न हो जायँ, अर्थात् हम स्त्रियों के समान व्यवहार करने के कारण शास्त्र-ज्ञानाभाव-कृत-अपमान-प्रयुक्त दुःख के भागी न होवें। इसलिये व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

विभक्तिं कुर्वन्ति—

याज्ञिकाः पठन्ति, 'प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः' इति। न च अन्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्या कर्त्तुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

याज्ञिकों का कहना है कि प्रयाजों को सविभक्तिक करना चाहिए अर्थात् प्रयाज-मन्त्रों को ऊह्यमान-अग्निप्रकृतिक-विभक्तियों से युक्त करना चाहिए। जैसे—"समिधः समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु अग्नेऽग्न" इत्यादि। 'अग्नेऽग्नेऽग्नावग्ने-ऽग्निनाऽग्नेऽग्निमग्ने' इत्यादि चार प्रयाजों में चार विभक्तियाँ दी जाती हैं। इसमें अग्निशब्दप्रकृतिक सम्बोधन, सप्तमी, तृतीया तथा द्वितीया के एकवचन का आदि क्रम से याज्या से पहले अथवा अग्नि शब्द से पूर्व प्रयोग करना चाहिए—यही निर्णय किया गया है। व्याकरण-शास्त्र के ज्ञान के विना प्रयाजों में विभक्ति का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। अतः विभक्तियों के विपरिणाम आदि के लिये व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

यो वा इमाम्—

यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशो वर्णशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति ।

आर्त्विजीनाः स्याम इत्यध्येयं व्याकरणम् ।

जो निश्चित रूप से इस श्रुतिरूप वाणी के प्रत्येक स्वरों, अक्षरों तथा वर्णों का संस्कार करता है और उसी संस्कृत स्वरादि-युक्त वाणी का प्रयोग करता है, वह आर्त्विजीन होता है। 'ऋत्विजमर्हति' इस अर्थ में खञ् प्रत्यय करने पर 'आर्त्विजीन' शब्द यजमान का वाचक होता है और 'ऋत्विक् कर्म अर्हति' इस विग्रह में खञ् प्रत्यय करने पर 'आर्त्विजीन' शब्द याजक (यज्ञ कराने वाला) का वाचक होता है। अतः इन दोनों अर्थों में आर्त्विजीन शब्द का प्रयोग किया जाता है। "विद्वान् यजेत विद्वान् याजयेत्" इस नियम के अनुसार यज्ञ करने या यज्ञ कराने दोनों में विद्वान् का ही अधिकार है। यहाँ विद्वान् शब्द का वेदार्थ को जानने वाला अर्थ है। इसलिये यज्ञ करने तथा कराने के अधिकार को प्राप्त करने के लिये व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

चत्वारि—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥
(ऋ० सं० ४।५८।३)

चत्वारि शृङ्गा, चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादास्त्रयः कालाः भूतभविष्यद्वर्त्तमानाः। द्वे शीर्षे सुपस्तिङश्च। सप्त हस्तासः सप्तविभक्तयः। त्रिधा बद्धः, त्रिषु स्थानेषु बद्धः, उरसि कण्ठे शिरसि च। वृषभो वर्षणात् कामानाम्। रोरवीति, रौतिः शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्यां आविवेश। महता देवेन नस्तादात्म्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।

शास्त्रकारों ने इस मन्त्र का अनेक प्रकार से व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

राजशेखर इसमें काव्यपुरुष का वर्णन मानते हैं। निरुक्तकार यास्क यज्ञपुरुष का वर्णन मानते हैं। आचार्य सायण पञ्चदेवतात्मक होने के कारण पाँच प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने शब्दब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादक माना है। सभी मतों को उपस्थित करना सम्भव नहीं है। अतः पतञ्जलि के अनुसार इसकी व्याख्या समुपस्थित की जा रही है।

उस शब्दब्रह्म के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चार प्रकार के पद-समूह सींग है। नाम का सुबन्त और आख्यात का तिङन्त अर्थ है। उपसर्ग और निपात प्रसिद्ध ही हैं। गोवलीवर्द-न्याय से दोनों का कथन समझना चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि "निपाताश्च" पद-घटक चकार परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी रूप शब्दों का समुच्चायक है। भूत, भविष्यद् और वर्तमान रूप तीन काल ही इसके तीन पाद हैं। लडादि के विषयीभूत होने के कारण काल के अमूर्त्त होने पर भी पादावयवता का प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि लडादि दश हैं। इसलिये उसमें त्रित्व का समावेश सम्भव नहीं है तथापि लडादि लकारों से द्योत्य काल तीन ही प्रसिद्ध हैं। उन्हीं तीनों कालों में इन दस लकारों को विभक्त करके प्रयोग किया गया है। वे ही भूतादि तीनों कालों के द्योतक तीन प्रकार के लडादि लकार इसके तीन पाद हैं। इसके सुप् और तिङ् रूप दो शिर हैं। महाभाष्य में नित्य और कार्य शब्द को शिर बतलाया गया है। नित्यशब्द स्फोट-रूप है और कार्य शब्द वैखरी रूप है। सात विभक्तियाँ इसके सात हाथ हैं। यह हृदय, कण्ठ और शिर रूप स्थानों में बँधा हुआ है। शब्दों के अभिव्यञ्जक वायु इन स्थानों से टकराते हुए मुख-द्वार से वैखरी रूप में बाहर निकलता है। इस शब्दब्रह्म को वृषभ कहा गया है। ज्ञानपूर्वक शब्द का प्रयोग करने से स्वर्गापवर्गादि रूप कामनाओं को परिपूर्ण करने के कारण 'वृषभ' पदवाच्य है। जिस प्रकार मेघ जल के वर्षण से सबों की इच्छाओं को पूर्ण करता है, उसी प्रकार यह भी स्वर्गादि फलों का वर्षण (प्रदान) करके कामनाओं को पूर्ण करता है। इसलिये वृषभ कहना समुचित ही है। चार सींग आदि के प्रतिपादन के कारण दो सींग आदि से युक्त लौकिक वृषभ से भिन्न है। लौकिक वृषभ लौकिक फल को देता है और यह पारलौकिक फल को भी देता है। रुधातु शब्दकर्मक है। इसी धातु से

यङ्लुङन्त प्रयोग "रोरवीति" सिद्ध होता है। पौनःपुन्य अर्थ में यङ् प्रत्यय का विधान किया गया है। अतः बार-बार शब्द करना ही उसका अर्थ होगा। इस प्रकार के परब्रह्मस्वरूप तथा अन्तर्यामी-रूप देव मर्त्यान् अर्थात् मरणधर्मा मनुष्य में आविष्ट हुए। कुछ विद्वानों ने "महः" शब्द का अर्थ तेज किया है और उस देवता को अत्यन्त तेजस्वी मानकर तेजोयुक्त देवता अर्थ किया है। जब वह शब्द ब्रह्म-रूप महान् देवता मनुष्यों में आविष्ट हुए, तब मनुष्य का उनके साथ सायुज्य (ऐक्य) सम्पन्न हो गया। दोनों का भेद मिट गया। अतः उस महादेवात्मक शब्द के साथ मेरा तादात्म्य (ऐक्य) सम्पन्न हो—इसके लिये व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार शब्दब्रह्म के ज्ञान में ब्रह्मत्व का आविर्भावकत्व विद्यमान है। इसलिये शब्दब्रह्म के साथ सायुज्य- प्राप्ति के लिये व्याकरण-शास्त्र का अवश्य अध्ययन करना चाहिए।

अथवा, चत्वारि—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
(ऋ० सं० १।१६४।४५)

ये मनीषिणः, मनस ईषिणो मनीषिणः। गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति' न चेष्टन्ते, न निमीषन्ति। तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। तुरीयं ह वा एतद् वाचो यन्मनुष्येषु वर्त्तते।

'तेऽसुराः' इत्यादि प्रतीक-ग्रहण के समय 'चत्वारि' यह प्रतीक भी बतलाया गया है। उसको आधार बनाकर 'चत्वारि शृंगा' इत्यादि मन्त्र के द्वारा व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन का प्रतिपादन किया गया। उसी प्रतीक को आधार मानकर दूसरा मन्त्र भी उपस्थित करते हैं। उनका कहना है कि उस प्रतीक के अनुसार 'चत्वारि वाक्परिमिता' इत्यादि मन्त्र का भी ग्रहण किया जा सकता है। चार प्रकार से वाणी परिच्छिन्न (परिगणित) है। परिमित = परिच्छिन्न। भाष्यकार ने नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चार पद माना है। नागेश ने परा,

पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी रूप भी चार प्रकार के पद माना है। उन पदों को मनीषी = विद्वान् ब्राह्मण जानते हैं। 'मनीषी' पद की व्याख्या करते हैं—'मनस इषिण:'। मन को ईषण करने वाला मनीषी कहलाता है। यह पद उच्छार्थक 'ईष्' धातु या ऐश्वर्यार्थक 'ईश्' धातु से पृषोदरादिगण-पठित होने के कारण कुछ वर्ण-परिवर्तन के साथ सिद्ध होता है। निर्दिष्ट अर्थ से भिन्न अर्थ का प्रतिपादन भी करता है; क्योंकि धातु अनेकार्थक होते हैं। इसीलिये 'ईषण' का वशीकरण अर्थ किया गया है। गति, हिंसा तथा अदर्शन अर्थ में भी 'ईष' धातु है और इससे भी 'ईषण' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ हिंसा है। अत: चित्त की शुद्धि के क्रम से मन को वश में करने वाले को 'मनीषी' कहते हैं। अथवा भिन्न विषयों से व्यावृत्त करने के कारण मन की हिंसा करने वाला भी 'मनीषी' कहलाता है। विषयान्तर से मन की व्यावृत्ति ही हिंसा है, मुख्य हिंसा नहीं; क्योंकि मन की मुख्य हिंसा सम्भव नहीं है। इनमें परा, पश्यन्ती और मध्यमा रूपी वाणी गुहा में निहित रहती है। उसमें किसी भी प्रकार की निमीषन = चेष्टा नहीं रहती है। वे किसी अर्थ के प्रकाशक नहीं होते। गुहा शब्द व्याकरण-शास्त्रादिविषयक-अज्ञान तथा हृदयादि-गत अन्धकार का वाचक है। जो व्याकरणशास्त्र को नहीं जानता है, वह अज्ञानवश किसी पदार्थ का समुचित ज्ञान नहीं कर सकता। जो व्याकरण-शास्त्र को जानता है, वह व्याकरण-शास्त्र-जन्य-ज्ञान के द्वारा तथा शास्त्रादि के द्वारा प्राप्त योगज्ञान के द्वारा अज्ञानान्धकार एवं हृदयादि में स्थित अन्धकार को दूर करके सभी विषयों का समुचित रूप से ज्ञान प्राप्त कर लेता है। 'नेङ्गयन्ति' का अर्थ 'चेष्टन्ते' और उसका अर्थ 'निमीषन्ति' किया गया है। इसमें स्पष्ट-ज्ञान कराना ही तात्पर्य है। इसका ज्ञान-सामान्यविषयक अभाव ही अर्थ है। तुरीय = चौथी वैखरी रूपी वाणी को मनुष्य लोग बोलते हैं; क्योंकि वैखरी वाणी से ही अर्थ का स्पष्ट ज्ञान सम्भव है, अन्यथा नहीं। कहा भी गया कि जो वाणी मनुष्यों के व्यवहार में प्रयुक्त होती है, वह यह चौथी वाणी है, जिसको केवल वैयाकरण ही समझ सकते हैं। अत: सकलपद-विषयक-ज्ञान तथा मनीषित्व प्राप्ति के लिये व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

उत त्वः—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
(ऋ० सं० १०।७१।४)

अपि खलु एकः पश्यन् अपि न पश्यति शृण्वन् अपि न शृणोति एनाम्। अविद्वांसमाह अर्द्धम्। त्वस्मै अन्यस्मै तन्वं विसस्रे तनुं विवृणुते। जायेव पत्य उशती सुवासाः। यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते। एवं वाग् वाग्विदे स्वमात्मानं विवृणुते। वाक् स्वं नो विवृणुयादित्यध्येयं व्याकरणम्।

एक जो व्याकरणशास्त्र को नहीं जानता है, वह अनेक प्रकार के शास्त्रों के अध्ययन करने पर भी, अधीत शास्त्रों का बार-बार अभ्यास करने पर भी तथा अत्यन्त तीव्र बुद्धि से युक्त रहने पर भी वाणी को नहीं देख पाता; क्योंकि व्याकरण-शास्त्र-ज्ञान-रहित होने के कारण उसको यथार्थ अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता। वाणी-प्रयोग का फल अर्थ का परिज्ञान ही माना जाता है। इसी प्रकार एक पुरुष उस वाणी को सुनते हुए भी नहीं सुन पाता है; क्योंकि जिसको वाणी-श्रवण के पश्चात् सम्यक् अर्थ का परिज्ञान होता है, उसी के द्वारा वाणी सम्यक् श्रुत मानी जाती है। जिसने अर्थ को ही नहीं समझा, उसके सुनने तथा न सुनने में कोई अन्तर नहीं है। इस आधे मन्त्र से व्याकरणशास्त्रादि के ज्ञान से रहित (अविद्वान्) पुरुषों का वर्णन किया गया है। अवशिष्ट आधे मन्त्र से व्याकरणशास्त्रादि के परिपूर्ण ज्ञान से युक्त विद्वानों की प्रशंसा प्रस्तुत की गयी है। एक अर्थात् किसी वैयाकरण के लिये वह वाणी अपने शरीर को स्पष्ट रूप से प्रकाशित कर देती है। अर्थ का सम्यक् ज्ञान ही शरीर का प्रकाशन है। अर्थ ही वाणी का वास्तविक शरीर है। उपमायुक्त मन्त्र के अन्तिम पाद से स्वयं प्रसन्न वाणी विद्वानों के लिये क्या करती है ? उसी का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार स्वपत्नी जब अच्छी तरह धोयी हुई सूक्ष्म, सुन्दर वस्त्र को धारण की हुई तथा ऋतुकाल के पश्चात् ऋतु-स्नाता अपने पति को चाहती है और प्रेम से अपने पति के लिये अपने

अङ्गोंपाङ्गों को प्रकाशित = प्रत्यक्ष कर देती है, उसी प्रकार यह वाणी भी विद्वानों के लिये वाक्य, पद, प्रकृति, प्रत्ययादि विभागों के द्वारा अपने प्रत्येक अङ्गों को दिखला देती है अर्थात् सम्यक् ज्ञान करा देती है। ऋतुस्नाता पत्नी ही अपने लिये पति को अत्यन्त अधिक प्रार्थना करती है, कामना करती है। जिस प्रकार उस पत्नी के पुरुष उस समय पत्नी के वचनों को अपने हित की बुद्धि से निर्विवाद सुनता है और अत्यन्त प्रेम से उस पत्नी को देखता है, उस प्रकार अन्य काल अर्थात् निविड (घने) वस्त्रों से अपने शरीर को आच्छादन करने के समय नहीं। अभिप्राय यह है कि पत्नी प्रसन्न होकर अपने पति को सर्वतोभावेन वरण कर लेती है। अतः वाणी मुझे भी वरण कर ले—इसलिये व्याकरण-शास्त्र का अवश्य अध्ययन करना चाहिये।

सक्तुमिव—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥
(ऋ० सं० १०।७१।१)

सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति। कसतेर्वा स्याद् विपरीतस्य, विकसितो भवति। तितउ परिपवनं भवति; ततवत् वा तुन्नवद् वा। धीराः प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्तो मनसा प्रज्ञानेन वाचमक्रत वाचमकृषत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते, अत्र सखायः सख्यानि सञ्जानते, सायुज्यानि जानते। क्व ? एष दुर्गमो मार्ग एकगम्यो वाग्विषयः। के पुनस्ते ? वैयाकरणाः। कुत एतत् ? भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि। एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति। लक्ष्मीर्लक्षणाद्भासनात् परिवृढा भवति।

जिस प्रकार चालनी से सत्तु का शोधन करके पवित्र अर्थात् विकार-रहित सम्पन्न किया जाता है; उसी प्रकार जो वैयाकरण हैं, व्याकरण शास्त्र में निष्णात हैं, वे ध्यानयुक्त-मनकरणक-ज्ञान से असाधु शब्दों से साधु शब्दों को पृथक् करके प्रयोग करते हैं। इस साधु शब्द के उच्चारण से उनका चित्त अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। उस शुद्ध चित्त में ब्रह्म के प्रतिपादक शब्द और शब्दार्थ में अभेद ज्ञान

के द्वारा सखा = समान ख्याति = समान ज्ञान से युक्त हो जाते हैं। उस ब्रह्म-प्रतिपादक शब्द और ब्रह्म में एकत्व-ज्ञान हो जाता है। उसी दृष्टान्त से सभी पदार्थों में ब्रह्म-निरूपित-अभेद-ज्ञान होने से उसके सख्य = सायुज्य को प्राप्त करते हैं। कारण यह है कि इनकी वाणी में कल्याणकारिणी स्वप्रकाश ब्रह्म रूपा लक्ष्मी दूसरे लोगों की अपेक्षा अधिक रूप से प्रतिष्ठित रहती है। सक्तु शब्द 'षच् सेचने' अथवा 'षच्' समवाये धातु से कर्म में तुन् प्रत्यय और कत्व करने से निष्पन्न होता है। यह शब्द दुर्धावार्थ-बोधक है। जिसका परिशोधन दुःखपूर्वक किया जा सकता है, वही दुर्धाव है। सत्तु अत्यन्त सूक्ष्म होता है। अतः वह दुःशोध्य होता है। अथवा गत्यर्थक 'कस्' धातु से पृषोदरादि-गण-पठित होने के कारण वर्णव्यत्यय करके पूर्व की तरह तुन् प्रत्यय तथा कत्व करने पर सक्तु शब्द निष्पन्न होता है और यह विकसितार्थ का बोधक होता है; क्योंकि धातु अनेकार्थक होते हैं। विकसित का फैलना अर्थ है। सत्तु भी हल्का होने के कारण फैलने वाला स्वभाव से युक्त होता है। तितउ = चालनी। उसी को परिपवन भी कहते हैं; क्योंकि उससे सर्वतोभावेन पवित्र (शोधन) किया जाता है। 'परितःपूयतेऽनेन' इस व्युत्पत्ति से परिपवन शब्द निष्पन्न होता है। ततवत् = विस्तारयुक्त। तुन्नवत् = बहुच्छिद्रयुक्त। तुन्न = छिद्र। तत् = विस्तार। धीर = वैयाकरण। प्रकृष्ट ज्ञान से युक्त प्रज्ञानवान् धीर कहलाते हैं। ज्ञात अर्थ का बार-बार अनुसंधान करना ध्यान कहलाता है। मन शब्द व्यापार का वाचक है। वाचमक्रुषत = वाणी के द्वारा असाधु शब्द से व्यावृत्त करके साधु शब्द का प्रयोग करता है। यह शब्द-ब्रह्म-विषयक मार्ग दुर्गम अर्थात् दुःखपूर्वक जाने के योग्य है। वह केवल एकमात्र वाणी का विषय है अर्थात् केवल वाणी के द्वारा ही जानने के योग्य है। दुर्गमार्ग के द्वारा प्राप्त करने के योग्य होने के कारण इसमें भी दुर्गमत्व का औपचारिक प्रयोग किया गया है। प्रश्न होता है कि शब्द-ब्रह्म के साथ सायुज्य प्राप्त करने वाले कौन हैं? समाधान देते हैं कि उस प्रकार की सायुज्य-प्राप्ति-कर्तृता केवल वैयाकरणों में हो रहती है, अन्य में नहीं। शब्द-ब्रह्म के साथ वैयाकरण ही सायुज्य प्राप्त कर सकते हैं। प्रश्न होता है कि इसमें क्या कारण है? समाधान—वैयाकरणों की वाणी में भद्रालक्ष्मी = सभी पदार्थों को सम्यक्

रूप से भासित करनेवाली लक्ष्मी अधिक रूप से निहित रहती है। वाणी या ब्रह्म का अर्थ वेद है। लक्षणात् = भासनात् अर्थात् भासन = प्रकाशन से लक्ष्मी परिवृढा = अज्ञान निवृत्ति में समर्थ होती है। अभिप्राय यह है कि व्याकरणशास्त्र-साध्य-प्रयोग से व्यंग्य वैखरी ध्वनि को ही वाचक माना जाता है। निष्कर्षपर्यन्त उसका विचार करने पर ब्रह्म से भिन्न अन्य किसी भी पदार्थ में कोई प्रमाण नहीं मिलता है। इसलिये वैयाकरण उन-उन उपाधियों से भिन्न चित् को ही बोधक मानते हैं। इस प्रकार सभी बोधक पद-पदार्थों में ब्रह्म बुद्धि उत्पन्न हो जाने पर उसी दृष्टान्त से वैयाकरणों को सभी पदार्थों में ब्रह्म-बुद्धि हो जाती है। इसी क्रम से अपने में भी ब्रह्म-बुद्धि हो जाना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार शब्द-ब्रह्म के साथ सायुज्य प्राप्त करने के लिये व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

सारस्वतीम्—

याज्ञिकाः पठन्ति, 'आहिताग्निरपशब्दं प्रयुञ्जानः प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेद्' इति।

प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।

'सारस्वतीम्' इस प्रतीक के द्वारा यह बतलाते हैं कि अग्न्याधान करने वाले पुरुषों को अवश्य व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। याज्ञिक लोग कहते हैं कि 'आहिताग्नि पुरुष यज्ञ के बीच में अपशब्द का प्रयोग करे तो पापनिवारक प्रायश्चित्त-स्वरूप सरस्वतीदेवताक इष्टि का निर्वाप (अनुष्ठान) करे'। प्रायः शब्द पाप का तथा चित्त शब्द उसके परिशोधन का वाचक है। इसलिये कहा है कि "प्रायः पापं विजानीयात् चित्तं तस्य विशोधनम्"। जो व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन नहीं किया है, वह अपशब्द का प्रयोग कर सकता है और जिसने व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन किया है, वह अपशब्दों का परित्याग करके साधु शब्द का प्रयोग करता है। अतः उसको प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नहीं होती। वह पुरुष भी प्रायश्चित्तीय नहीं होता। इसलिये प्रायश्चित्तीय न होने के लिये व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

दशम्यां पुत्रस्य—

याज्ञिकाः पठन्ति—"दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवद् आद्यन्तरन्तःस्थमभिनिष्ठान्तं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा। कृतं नाम कुर्यान्न तद्धितान्तमिति। न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

याज्ञिकों का कहना है कि पुत्रादि के जन्म लेने पर दशमी अर्थात् दश दिन के पश्चात् उत्पन्न पुत्र का नामकरण संस्कार करना चाहिए। 'दशम्याम्' पद के प्रयोग से 'दशमी में' यह अर्थ होना चाहिए; परन्तु दश दिन तक जननाशौच रहता है। इसलिये दश दिन तक नामकरण संस्कार प्राप्त नहीं है। पुत्रादि के नाम के प्रारम्भ में घोष प्रयत्न से युक्त आदि का वर्ण होना चाहिए, मध्य में अन्तःस्थ वर्ण होना चाहिए। अन्त में निष्ठाप्रत्यय का प्रयोग होना चाहिए। नाम दो अक्षर अथवा चार अक्षर का हो। एवं वृद्धसंज्ञक न हो तथा पिता, पितामहादि के अनुसार हो, ऐसा नाम अत्यन्त प्रतिष्ठित होता है। नाम कृत्प्रत्ययान्त होना चाहिए, तद्धितप्रत्ययान्त नहीं। व्याकरण-शास्त्र के अध्ययन के विना कृदन्तत्व या तद्धितान्तत्व का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः कृदन्तादि के ज्ञान के लिये व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। यह भी ध्यान देना चाहिए कि नाम देवतादि तथा मित्रादि में प्रतिष्ठित हो, देवता भिन्न तथा शत्रु आदि में नहीं।

सुदेवो असि—

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥ (ऋ० सं० ८।६९।१२)

सप्तसिन्धवः सप्तविभक्तयः। काकुर्जिह्वा सास्मिन् उद्यत इति काकुदं तालु। सूर्मिः स्थूला लोहप्रतिमेति।

बार्हस्पत्य प्रगाथ में 'सुदेवो असि' के द्वारा वरुण की स्तुति की गयी है। हे वरुण! तू सुदेव अर्थात् सत्यदेव हो। कारण यह है कि तुम्हारे तालु को प्राप्त करके सात समुद्र रूप सात विभक्तियाँ प्रवाहित होती हैं। काकु जिह्वा को कहते हैं और

वह जिसमें टकराती है, उसको काकुद कहते हैं। जब जिह्वा तालु में टकराती है, तब वर्णों का उच्चारण होता है। सात विभक्तियाँ ही सात सिन्धु = नदी या सागर स्थानीय हैं। जैसे छिद्र-युक्ता लोहमयी सुशोभन मूर्त्ति के भीतर अग्नि प्रवेश करके मूर्त्ति के मलों को नष्ट करके मूर्त्ति को अत्यन्त शुद्ध कर देना है, वैसे ही तालुप्रदेश में प्रकाशित होकर सातों विभक्तियों से युक्त शब्द शरीर-जन्य पापों को दूर कर देता है। लोक में भी देखा जाता है कि मल से रहित वस्तु प्रकाशमान होकर सुशोभित होता है, उसी प्रकार साधु-शब्द के प्रयोग से पापरुप मलों को विनष्ट हो जाने के कारण वरुण देवता और वैयाकरण मनुष्य भी प्रकाशयुक्त होते हैं। अतः वे दोनों सत्यदेवता को प्राप्त कर लेते हैं। वैयाकरणों में सत्यदेवता के द्वारा वरुण के सादृश्य का प्रतिपादन करने के कारण वरुण के साथ ही वैयाकरण को भी स्वर्गप्राप्ति होती है। वरुण देवता हैं, अतः वे स्वर्ग में निवास करते हैं। वरुण के समान वैयाकरण को भी स्वर्गवासिता प्राप्त हो—इसलिये व्याकरण-शास्त्र का अवश्य अध्ययन करना चाहिए।

एवं 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इत्यादिवार्त्तिकोक्तानि अत्रापि प्रयोजनानि अनुसन्धेयानि।

नैयायिकादि कुछ आचार्य शब्द को अनित्य मानते हैं और वैयाकरण आदि शब्द को नित्य मानते हैं। भाष्यकार ने दोनों पक्षों में व्याकरण-शास्त्र की आवश्यकता बतलायी है। ऐसी परिस्थिति में प्रश्न हुआ कि महर्षि पाणिनि का सूत्र किस पक्ष के अनुसार प्रवृत्त हुआ है? समाधान दिया गया कि शब्द, अर्थ और दोनों के सम्बन्ध को नित्य मान कर ही पाणिनि-सूत्र प्रवृत्त हुए हैं। यही उपर्युक्त वार्त्तिक का अर्थ है। शब्दों का प्रयोग लोकसिद्ध है तथापि व्याकरण-शास्त्र के ज्ञानपूर्वक उसके प्रयोग से धर्म होता है। शब्दों को नित्य मानने पर भी शास्त्र के द्वारा धर्म का नियमन होता है। शब्दों को नित्य होने पर भी धर्म-प्राप्ति के लिए व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार इस प्रसंग में 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इत्यादि वार्त्तिकों से प्रतिपादित प्रयोजनों का अनुसन्धान करना चाहिए। शब्दों के नित्यत्वानित्यत्व-रूप उभयपक्ष में व्याकरणशास्त्र का अवश्य अध्ययन करना चाहिए।

॥ निरुक्ताङ्ग-निरूपणम् ॥

अथ निरुक्तप्रयोजनमुच्यते। अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्। गौः, ग्मा, ज्मा, क्ष्मा, क्षा क्षमेत्यारभ्य वसवः, वाजिनः, देवपत्न्यो देवपत्न्य इत्यन्तो यः पदानां समाम्नायः समाम्नातस्तस्मिन् ग्रन्थे पदार्थावबोधाय परापेक्षा न विद्यते। एतावन्ति पृथिवीनामान्येतावन्ति हिरण्यनामानीत्येवं तत्र तत्र विस्पष्टमभिहितत्वात्।

व्याकरण-शास्त्र के निरुपण के पश्चात् निरुक्त का प्रयोजन बतलाते हैं। जिसमें अर्थज्ञान के लिये व्याकरण आदि शास्त्रों से निरपेक्ष पद-समूह का प्रतिपादन है, उसी को निरुक्त कहते हैं। गौ, ग्मा, ज्या, क्ष्मा, क्षा, क्षमा आदि से प्रारम्भ करके, वसु, वाजी, देवपत्नी पर्यन्त जो पदों का समाम्नाय (समूह) श्रुत है। उसमें अर्थज्ञान के लिए दूसरे शास्त्रों की अपेक्षा नहीं है। कारण यह है कि एतावत् = इतने पर्यन्त पृथिवी के नाम हैं, इतने तक हिरण्य के नाम हैं—इस प्रकार तत्तत् स्थलों में स्पष्ट रूप से बतलाया गया है।

तदेतन्निरुक्तं त्रिकाण्डम्। तच्च अनुक्रमणिकाभाष्ये दर्शितम्—

'आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमं तथा।
तृतीयं दैवतश्चेति समाम्नायस्त्रिधा स्थितः॥
गौराद्यापारपर्यन्तमाद्यं नैघण्टुकं मतम्।
जहाद्युल्वमृबीसान्तं नैगमं सम्प्रचक्षते॥
अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं देवताकाण्डमुच्यते॥
अग्न्यादिदेवी ऊर्जाहुत्यन्तः क्षितिगतो गणः।
वाय्वादयो भगान्ताः स्युरन्तरिक्षस्थदेवताः॥
सूर्यादिदेवपत्न्यन्ता द्युस्थाना देवतेति।
गौरादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नायमधीयते॥' इति।

यह निरुक्त तीन काण्डों से युक्त है अर्थात् इसमें तीन काण्ड हैं। यह अनुक्रमणिकभाष्य में प्रदर्शित है—पहला नैघण्टुक काण्ड, दूसरा नैगम काण्ड और तीसरा दैवत काण्ड है। इस प्रकार तीन काण्डों में यह समाम्नाय विभक्त है। 'गौ' आदि

शब्दों से प्रारम्भ करके 'आपार' पर्यन्त नैघण्टुक काण्ड कहलाता है। 'जहा' से प्रारम्भ करके 'उल्वमृब्रीसान्त' नैगम काण्ड कहलाता है। 'अग्नि' शब्द से लेकर "देवपत्नी" शब्द तक देवताकाण्ड कहा जाता है। अग्नि से लेकर देवी आर्जाहुती तक भूलोक के देव-समूह हैं। 'वायु' से 'भग' पर्यन्त अन्तरिक्ष लोक के निवासी देवता हैं। 'सूर्य से 'देवपत्नी' पर्यन्त द्युलोक में रहने वाले देव-गण हैं। 'गौ' शब्द से लेकर 'देवपत्नी' पर्यन्त शब्द-समाम्नाय का अध्ययन किया जाता है।

एकार्थवाचिनां पर्यायशब्दानां सङ्घो यत्र प्रायेणोपदिश्यते, तत्र निघण्टुशब्दः प्रसिद्धः। तादृशेषु अमरसिंहवैजयन्तीहलायुधादिषु दश निघण्टव इति व्यवहारात्। एवमत्रापि पर्यायशब्दसङ्घोपदेशात् आद्य-काण्डस्य नैघण्टुकत्वम्। तस्मिन् काण्डे त्रयोऽध्यायाः। तेषु प्रथमे पृथिव्यादिलोकदिक्कालादिद्रव्यविषयाणि नामानि। द्वितीये मनुष्यतदव-यवादिद्रव्यविषयाणि। तृतीये तदुभयद्रव्यगतवहुत्व-ह्रस्वत्वादिधर्म-विषयाणि।

जिसमें प्रायः एकार्थ-वाचक पर्याय-शब्दों के समूह उपदिष्ट हैं, उसीमें निघण्टु शब्द प्रसिद्ध है अर्थात् उसीको निघन्टु कहते हैं; उसी प्रकार के अमरसिंह, वैजयन्ती, हलायुध आदि के ग्रन्थों को उद्देश्य करके दश निघण्टु हैं, ऐसा व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार इस (निघण्टु) ग्रन्थ में पर्याय शब्दों के समुदाय का उपदेश होने के कारण पहले काण्ड को 'नैघण्टुक' काण्ड कहते हैं। उस नैघण्टुक काण्ड में तीन अध्याय हैं। उनके प्रथम अध्याय में पृथिवी आदि लोक, दिक् तथा काल आदि द्रव्य-विषयक नाम हैं। द्वितीय अध्याय में मनुष्य, उसके अवयव आदि द्रव्य-विषयक नाम हैं। तृतीय अध्याय में उन दोनों द्रव्यों में रहने वाले बहुत्व ह्रस्वत्व आदि धर्म-विषयक नाम पठित हैं।

निगमशब्दो वेदवाची, यास्केन तत्र तत्रापि निगमो भवतीत्येवं वेदवाक्यानामवतारितत्वात्। तस्मिन्निगम एव प्रायेण वर्त्तमानानां शब्दानां चतुर्थाध्यायरूपे द्वितीयस्मिन् काण्डे उपदिष्टत्वात् तस्य काण्डस्य नैगमत्वम्।

पञ्चमाध्यायरूपस्य तृतीयकाण्डस्य दैवतत्वं विस्पष्टम् ।

निगम शब्द वेद का वाचक है; क्योंकि यास्क ने तत्तत्स्थलों में 'तत्रापि निगमो भवति' कहकर वेद-वाक्यों को ही उदाहरण रूप से प्रस्तुत किया है। उस (निगम काण्ड) में प्रायः वेदों में प्रयुक्त शब्दों का ही चतुर्थाध्याय रूप दूसरे काण्ड में उपदेश होने के कारण उसको नैगम काण्ड कहते हैं।

पञ्चम अध्याय रूप तीसरे काण्ड का दैवतत्व अत्यन्त स्पष्ट है; क्योंकि उसमें देवताओं के नामों का ही विचार है। अतः उसको दैवत काण्ड कहना स्वाभाविक है।

पञ्चाध्यायरूपकाण्डत्रयात्मके एतस्मिन् ग्रन्थे परनिरपेक्षतया पदार्थस्योक्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम्। तद्व्याख्यानञ्च 'समाम्नायः समाम्नातः' इत्यारभ्य 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवती' त्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे। तदपि निरुक्तमित्युच्यते, एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्थास्तत्र निःशेषेण उच्यन्त इति व्युत्पत्तेः। तत्र हि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति प्रतिज्ञाय उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्तीति निपातस्वरूपं निरुच्य एवमुदाहृतम्—नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभयमन्वध्यायं 'नेन्द्रं देवमंसत' इति प्रतिषेधार्थीय इति, 'दुर्मदासो न सुराया' मित्युपमार्थीय' (नि० १।१।४) इति च। तच्च लोके केवलप्रतिषेधार्थीयस्यापि नकारस्य वेदे प्रतिषेधोपमालक्षणोभयार्थोदाहरणमस्मिन् ग्रन्थेऽवगम्यते।

पाँच अध्याय तथा तीन काण्डों से युक्त इस ग्रन्थ में दूसरे व्याकरण आदि की अपेक्षा से रहित पदार्थों का कथन करने के कारण यह निरुक्त कहलाता है। महर्षि यास्क ने इस निरुक्त ग्रन्थ का 'सामाम्नायः समाम्नातः' से प्रारम्भ करके 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यम्' इत्यादि पर्यन्त बारह अध्यायों के द्वारा व्याख्यान का निर्माण किया अर्थात् बारह अध्यायों में उसकी व्याख्या की है। एक-एक पदों के सम्भावित अवयवार्थों (प्रकृति-प्रत्यय) का निःशेष रूप से कथन किया गया है—इसी व्युत्पत्ति के आधार पर वह व्याख्यान भी निरुक्त ही कहा जाता है। उसमें नाम, आख्यात,

उपसर्ग तथा निपात रूप चार प्रकार के पद हैं—ऐसी प्रतिज्ञा करके कहा कि उच्चावच (ऊँचे-नीचे) अर्थों में गिरते हैं अर्थात् ऊँचे-नीचे अनेक अर्थों का प्रतिपादन करते हैं; अतः वे निपात कहलाते हैं। इस प्रकार उसके स्वरूप का निर्वचन करके उदाहरण दिया कि 'न' यह निपात लौकिक भाषा में प्रतिषेध अर्थ का वाचक है किन्तु वेद में दोनों अर्थात् निषेध और उपमा अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे—'नेन्द्रम्' इत्यादि पद-घटक 'न' निपात निषेध अर्थ का वाचक है और 'दुर्मदासो न' इत्यादि वाक्य-घटक 'न' निपात उपमा-रूप अर्थ का वाचक है। लोक में केवल निषेधार्थक नकार का भी वेद में प्रतिषेध और उपमा रूप दोनों अर्थों का उदाहरण इस ग्रन्थ में देखा जाता है। इस ग्रन्थ में दोनों अर्थों का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

एवं ग्रन्थकारेण उक्तास्तत्तत्पदनिर्वचनविशेषास्तत्तन्मन्त्रव्याख्यानावसरे एव अस्माभिरुदाहरिष्यन्ते। न च निर्वचनानां निर्मूलत्वं शङ्कनीयम्, एतद्व्युत्पत्त्यर्थमेव ब्राह्मणेषु पदनिर्वचनानां केषाञ्चिदुक्तत्वात् 'तदाहुतीनामाहुतित्वम्' इति, (ऐत० ब्रा० १।१।२) 'तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते' (ऐत० आ० २।४।३) इति, यदप्रथयत् तत् पृथिव्याः पृथिवीत्वम्' (तै० ब्रा० १।१।३।६-७) इति च। ग्रन्थकारोऽपि तत्र तत्र स्वोक्तनिर्वचनमूलभूतब्राह्मणानि उदाहरिष्यति। केषाञ्चिन्निर्वचनानां व्याकरणबलेन सिद्धावपि न सर्वेषां सिद्धिरस्ति। अतएव ग्रन्थकार आह—'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यें स्वार्थसाधकञ्च' (नि० १।१५) इति। तस्माद् वेदार्थाववोधाय उपयुक्तं निरुक्तम्।

आचार्य सायण कहते हैं कि इस प्रकार ग्रन्थकार के द्वारा प्रतिपादित उन-उन पदों के निर्वचन-विशेषों का उन-उन मन्त्रों के व्याख्यान के समय उदाहरण रुप से प्रस्तुत करेंगे। जिन मन्त्रों में जिन पदों का निर्वचन बतलाया गया है, उन्हीं मन्त्रों की व्याख्या के अवसर पर उन निर्वचनों को समुपस्थित किया जायेगा। इन निर्वचनों को निर्मूल=निराधार या अप्रामाणिक नहीं समझना चाहिए; क्योंकि इस तरह की व्युत्पत्ति को दिखलाने के लिये ही ब्राह्मण-ग्रन्थों में कुछ पदों का

निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। जैसे—ऐतरेय ब्राह्मण में कहा कि 'वही आहुति का आहुतित्व है'। उसी के आरण्यक में कहा कि 'वह इदन्द्र होते हुए इन्द्र कहलाता है'। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा कि 'जो विस्तार करता है, वही पृथिवी का पृथिवीत्व है' इत्यादि। ग्रन्थकार भी स्वप्रतिपादित निर्वचनों के मूलभूत ब्राह्मणों को उदाहरण रूप से प्रदर्शित करते हैं। कुछ निर्वचनों को व्याकरण के बल से सिद्ध हो जाने पर भी सभी निर्वचनों की सिद्धि उससे नहीं हो पाती। इसीलिये ग्रन्थकार ने कहा है कि इसलिये यह निरुक्त-ग्रन्थ नामक विद्यास्थान व्याकरणशास्त्र का परिपूरक तथा वेदार्थ-ज्ञान का साधक है। वेदार्थ का सम्यक् बोध कराना ही इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। इसलिये वेदार्थ-ज्ञान के लिये निरुक्त-शास्त्र का समुपयोग है।

॥ छन्दोग्रन्थ-प्रयोजन-प्रदर्शनम् ॥

तथा छन्दोग्रन्थोऽपि उपयुज्यते, छन्दोविशेषाणां तत्र तत्र विहितत्वात्। 'तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि प्रातरनुवाकेऽनूच्यन्ते' (तै० ब्रा० १।५।१२।१) इति हि आम्नातम्। गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपंक्तित्रिष्टुब्जगतीत्येतानि सप्त छन्दांसि। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। ततोऽपि चतुर्भिरक्षरैरधिका अष्टाविंशत्यक्षरा उष्णिक्। एवमुत्तरोत्तराधिका अनुष्टुबादयोऽवगन्तव्याः। तथाऽन्यत्रापि श्रूयते—'गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्यादध्यात्, त्रिष्टुब्भी राजन्यस्य, जगतीभिर्वैश्यस्य' (तै० वा० १।१।९।६—७) इति। तत्र मगणयगणादिसाध्यो गायत्र्यादिविवेकश्छन्दोग्रन्थमन्तरेण न सुविज्ञेयः। किञ्च 'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति, वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति; गर्त्तं वा पद्यति, प्र वा मीयते पापीयान् भवति' (का० १।१) इति। तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यादिति श्रूयते : तस्मात् तद्वेदनाय छन्दोग्रन्थ उपयुज्यते।

निरुक्त आदि अङ्गों के समान वेदार्थ-ज्ञान के लिए छन्दःशास्त्र का भी उपयोग है; क्योंकि तत्तत्स्थलों में छन्दविशेष का विधान किया गया है। जैसे—तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि 'प्रातरनुवाक में क्रमशः, चार-चार अक्षरों के आधिक्य से युक्त सात छन्दों का उच्चारण (पाठ) होना चाहिए'। गायत्री, उष्णिक्,

अनुष्टुप्, वृहती, पंक्ति, त्रिष्टुभ् तथा जगती ये सात छन्द होते हैं। चौबीस अक्षरों से युक्त 'गायत्री' नामक छन्द होता है। उससे भी चार अक्षर अधिक अर्थात् अट्ठाईस अक्षरों से युक्त 'उष्णिक्' छन्द होता है। इस प्रकार अनुष्टुप् आदि छन्दों में उत्तरोत्त र चार-चार अक्षरों की वृद्धि होती जाती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी कहा है कि 'ब्राह्मण गायत्री छन्द से, क्षत्रिय त्रिष्टुभ् छन्द से तथा वैश्य जगती छन्द से अग्न्याधान करे।' उसमें मगण, यगण आदि के द्वारा सिद्ध होने वाले गायत्री आदि छन्दों का ज्ञान छन्दोग्रन्थ के विना अच्छी तरह से होना सम्भव नहीं है। दूसरी बात है कि उसकी उपयोगिता भी बतलाया है कि 'जो मन्त्रों के ऋषि, छन्द तथा देवता के ज्ञान के विना ही यज्ञ कराता है, अध्यापन करता है, वह स्थाणु के समान हो जाता है, गर्त्त (गड्ढा) में गिरता है, विनष्ट हो जाता है अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होता है, अत्यन्त पापी होता है। इसलिये प्रत्येक मन्त्रों में इन सबों का ज्ञान अवश्य करे। इसके द्वारा भी छन्द की आवश्यकता बतलायी गयी है। इसलिये उन छन्दों के ज्ञान के लिये छन्दोग्रन्थ का उपयोग होता है। अतः छन्दः शास्त्र भी आवश्यक है।

॥ ज्योतिषस्य प्रयोजनादिनिर्देशः ॥

ज्योतिषस्य प्रयोजनं तस्मिन्नेव ग्रन्थे विहितम्—'यज्ञकालार्थसिद्धये' (वेदाङ्ग ज्यो० ३) इति। कालविशेषविधयश्च श्रूयन्ते—'सम्वत्सरमेतद् व्रतं चरेत्' (तै० आ० १।३२।१) सम्वत्सरमुख्यं भृत्वा' (तै० सं० ५।६।५।१) इत्येवमादयः संवत्सरविधयः। 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत, (तै० ब्रा० १।१।२।६-७) इत्याद्या ऋतुविधयः। 'मासि मासि सत्रपृष्ठानि उपयन्ति' 'मासि मासि अतिग्राह्या गृह्यन्ते' (तै० सं० ७।५।७५) इत्याद्या मासविधयः। 'यं कामयेत वसीयान् स्यादिति तं पूर्वपक्षे याजयेत्' (तै० सं० २।२।३।१) इत्याद्याः पक्षविधयः। 'एकाष्टकायां दीक्षेरन्', 'फल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्' (तै० सं० ७।४।८।१) इत्याद्यास्तिथिविधयः। 'प्रातर्जुहोति', सायं जुहोति' , तै० ब्रा० २।१।२) इत्याद्याः प्रातःकालादिविधयः। 'कृत्ति-

कास्वग्निमादधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।१) इत्याद्या नक्षत्रविधयः। अतः कालविशेषानवगमयितुं ज्योतिषमुपयुज्यते।

ज्योतिषशास्त्र का प्रयोजन वेदाङ्गज्योतिष में ही बतलाया है—'यज्ञों के कालों की सिद्धि के लिये ज्योतिषशास्त्र है।' कालविशेष-प्रयुक्त विधियाँ सुनी जाती हैं। जैसे—'संवत्सरपर्यन्त इस व्रत का आचरण (अनुष्ठान) करे', 'मुख्यरूप से संवत्सरपर्यन्त धारण करके' इत्यादि में संवत्सर-प्रयुक्त विधियाँ श्रुत हैं। 'ब्राह्मण वसन्तकाल में अग्न्याधान करे, क्षत्रिय ग्रीष्म काल में तथा वैश्य शरद् काल में अग्न्याधान करे—इत्यादि में ऋतु-प्रयुक्त विधियाँ हैं। 'प्रत्येक मासों में सत्रपृष्ठ प्राप्त होते हैं', 'प्रत्येक मासों में अतिग्राह्यों का ग्रहण किया जाता है'—इत्यादि में मास-प्रयुक्त विधियाँ हैं। 'जिसको चाहे कि वह धनवान् हो, उसका पूर्वपक्ष में याग करावे' इत्यादि में पक्ष-प्रयुक्त विधि प्रतिपादित है। 'एकाष्टका में दीक्षा ग्रहण करे' फल्गुनी पूर्णमास में दीक्षा ग्रहण करे' इत्यादि तिथि-प्रयुक्त विधियाँ सुनी जाती हैं। 'प्रातःकाल हवन करे, 'सायंकाल हवन करे' इत्यादि में प्रातः कालादि का विधान है। 'कृत्तिका आदि नक्षत्रों में अग्न्याधान करे' इत्यादि नक्षत्र-प्रयुक्त विधियाँ हैं। इसलिये कालविशेष के बोध के लिये ज्योतिशास्त्र का उपयोग है।

एतेषाञ्च वेदार्थोपकारिणां षण्णां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्वं शिक्षायामेव-मुदीरितम्—

'छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते'॥

(पा० शि० ४१-४२) इति।

वेदार्थ-ज्ञान के उपयोगी इन छः ग्रन्थों का वेदाङ्गत्व शिक्षा-ग्रन्थ में ही कहा गया है—

छन्द वेदपुरुष के पैर हैं, कल्प उनके हाथ हैं। ज्योतिषशास्त्र का अयन ही

इनके नेत्र हैं और निरुक्त को श्रोत्र कहा जाता है। शिक्षा वेदपुरुष की नासिका है और व्याकरणशास्त्र मुख है। इसलिये अङ्गों के सहित वेदों का अध्ययन करके ही ब्रह्मलोक में पूजित होता है, अङ्ग-विकल अध्ययन करके नहीं।

॥ पुराणादीनां वेदार्थज्ञानोपयोगित्वम् ॥

षडङ्गवत् पुराणादीनामपि वेदार्थज्ञानोपयोगो याज्ञवल्क्येन स्मर्यते-

'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश' ॥

(या० स्मृ० १।३) इति।

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति' ॥

(म० भा० १।१।२६७) इति।

इत्यन्यत्रापि स्मर्यते।

ऐतरेयतैत्तिरीयकाठकादिशाखासूक्तानि हरिश्चन्द्रनाचिकेताद्युपाख्यानानि-धर्मब्रह्मावबोधोपयुक्तानि तेषु-तेषु इतिहासग्रन्थेषु स्पष्टीकृतानि। उपनिषदुक्ताः सृष्टिस्थितिलयादयो ब्राह्मपाद्मवैष्णवादिपुराणेषु स्पष्टीकृताः—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितञ्चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्' ॥

(वि० पु० ३।६।२५) इति।

इति सृष्ट्यादेः पुराणप्रतिपाद्यत्वावगमात्।

जिस प्रकार शिक्षा आदि छः अङ्ग वेदार्थ-ज्ञान के उपयोगी हैं, उसी प्रकार पुराण आदि भी वेदार्थ-ज्ञान के उपयोगी हैं। योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने अपने स्मृति में कहा है कि 'पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, तथा शिक्षा आदि छः अङ्गों से युक्त चारों वेद—ये चौदह विद्या और धर्म के स्थान अर्थात् अधिष्ठान हैं।

श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है कि इतिहास और पुराणों के द्वारा वेदों के अर्थों को समुपबृंहित करना चाहिए। वेद अल्पश्रुत व्यक्ति से डरता है कि यह (अल्पश्रुत) मुझको हरण करेगा अर्थात् अज्ञानवश मेरे समुचित अर्थ को अनर्थ में परिणत कर देगा। ऐतरेय, तैत्तिरीय तथा काठक आदि शाखाओं में प्रतिपादित हरिश्चन्द्र एवं नाचिकेत आदि के उपाख्यानों (कथानकों) को भी धर्म तथा ब्रह्मज्ञान के उपयोगी बतलाया गया है। ये बातें तत्तत् इतिहास-ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हैं। उपनिषत्प्रतिपादित सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय भी ब्राह्म, पाद्म एवं वैष्णव आदि पुराणों में स्पष्ट रूप से बतलाये गये हैं—जिसमें सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित प्रतिपादित है, उन्हीं को पुराण कहते हैं। इन पाँच पदार्थों का प्रतिपादन ही पुराण का स्वरूप है। इससे सृष्टि आदि का पुराण-प्रतिपाद्यत्व ज्ञात होता है।

न्यायशास्त्रे प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तादीनां षोडशपदार्थानां निरूपणात्। तदनुसारेणेदं वाक्यमस्मिन्नर्थे प्रमाणं भवति नेतरदिति निर्णयः कर्त्तुं शक्यते। पूर्वोत्तरमीमांसयोर्वेदार्थोपयोगोऽतिस्पष्ट एव। मन्वत्रिविष्णुहारीतादिप्रोक्तासु स्मृतिषु वेदोक्तसन्ध्यावन्दनादिविधयः प्रपञ्चिताः। 'तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्र्याभिमन्त्रिता आप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति (तै० आ० २।२) इत्यादिकः सन्ध्यावन्दनविधिः। 'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते' (तै० आ० २।१०) इत्यादिको महायज्ञविधिः। एवं विध्यन्तराणि द्रष्टव्यानि। उक्त-प्रकारेण पुराणादीनां वेदार्थज्ञानोपयोगाद् विद्यास्थानत्वं युक्तम्।

न्यायशास्त्र में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन तथा दृष्टान्त आदि सोलह पदार्थों का निरूपण किया गया है। अतः न्यायशास्त्र के अनुसार 'यह वाक्य इस अर्थ में प्रमाण होता है, दूसरा वाक्य नहीं'—इस प्रकार अर्थ का निर्णय कर सकते हैं। इससे वैदिक वाक्यों के प्रामाण्य का निर्णय होता है। पूर्वमीमांसा और उत्तर-मीमांसा की वेदार्थ-ज्ञान के प्रति उपयोगिता अत्यन्त स्पष्ट ही है; क्योंकि साक्षात् वैदिक वाक्यों का ही पूर्वोत्तर पक्ष के उपस्थापन के द्वारा विचार प्रस्तुत किया

गया है। वेद प्रतिपादित सन्ध्यावन्दनादि विधियों का मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत आदि के द्वारा रचित स्मृतियों में विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। जैसे—'ये ब्रह्मवादी लोग सन्ध्या के समय पूर्वाभिमुख होकर गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित जल को ऊपर फेंकते हैं' इत्यादि सन्ध्यावन्दन-विधि हैं। 'ये पाँच महायज्ञों का अनुष्ठान सतत (प्रतिदिन) करते हैं' इत्यादि पञ्चमहायज्ञों के विधायक वाक्य हैं। इसी प्रकार दूसरी विधियों को भी समझना चाहिए। पूर्व-प्रतिपादित रीति से वेदार्थ-ज्ञान के उपयोगी होने के कारण पुराण आदि की विद्यास्थानता समुचित ही है।

॥ वेदविद्याग्रहणेऽधिकारिविशेषनिरूपणम् ॥

एतैः पुराणादिभिश्चतुर्दशभिर्विद्यास्थानैरुपबृंहिताया विद्याया ग्रहणेऽधिकारिविशेषः शाखान्तरगतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैरुपदर्शितः। तांश्च मन्त्रान् यास्क उदाजहार (नि० २।४) इति।

तत्रायं प्रथमो मन्त्र :—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।

असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥ इति ॥

विद्याभिमानिनी देवता ब्राह्मणमुपदेष्टारमाचार्यमाजगाम। आगत्य एवं प्रार्थयामास। हे ब्राह्मण ! मामनधिकारिणेऽनुपदिश्य पालय। तवाऽहं निधिवत् पुरुषार्थहेतुरस्मि। तादृश्यां मयि मदुपदेष्टरि त्वयि च योऽसूयां करोति, यश्च आर्जवेन विद्यां नाभ्यस्यति, योऽपि स्थानाचमनाद्याचारनियतो न भवति, तादृशेभ्यः शिष्याभासेभ्यो मां न ब्रूयाः। तथा सति त्वद्हृदये स्थित्वा फलप्रदा भवेयम्।

इन पुराण आदि चौदह विद्यास्थानों के द्वारा समुपबृंहित वेद-विद्या के ग्रहण में अधिकारिविशेष का ही अधिकार है—यह दूसरी शाखाओं में पठित चार मन्त्रों के द्वारा प्रदर्शित किया है। महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त-ग्रन्थ में उन मन्त्रों को उदाहरण रूप से समुपस्थित किया है।

उसका यह पहला मन्त्र है—

विद्या ब्राह्मण के पास आयी और प्रार्थना की कि तुम मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हारी निधि हूँ। तुम मुझको निन्दा करने वाले, कुटिल स्वभाव वाले तथा असंयमी शिष्य को न दो। ऐसा करने पर मैं तुम्हारे पास शक्तिशालिनी बनकर रहूँगी। ग्रन्थकार इसी का भाव स्पष्ट करते हैं—विद्या के अभिमानिनी देवता उपदेश करने वाले ब्राह्मण अर्थात् आचार्य के पास आयी और आकर इस प्रकार प्रार्थना की। हे ब्राह्मण ! अनधिकारी को मेरा उपदेश न करके रक्षा करो। मैं तुम्हारे निधि के समान पुरुषार्थों का हेतु हूँ। उस प्रकार की मेरी और मेरे उपदेश करने वाले तुम्हारी जो निन्दा करता हैं, जो सरलता-पूर्वक विद्या का अभ्यास नहीं करता है और जो स्नान, आचमन आदि आचार से रहित हो; उस प्रकार के शिष्य न होते हुए भी शिष्य के समान भासित होने वाले असच्छिष्य के लिये मेरा प्रवचन न करो अर्थात् न पढ़ाओ। ऐसा करने पर मैं तुम्हारे हृदय में स्थिरता-पूर्वक रहकर सम्यक् फलप्रदान करने वाली बन जाऊँगी।

अथ द्वितीयो मन्त्र :—

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरञ्च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ॥ इति ॥

पूर्वस्मिन् मन्त्रे आचार्यस्य नियममभिधाय अस्मिन् मन्त्रे शिष्यस्य नियमोऽभिधीयते। वितथमनृतमपुरुषार्थभूतं लौकिकं वाक्यम्; तद्विपरीतं सत्यं वेदवाक्यमवितथम्। तादृशेन वाक्येन य आचार्यः शिष्यस्य कर्णावातृणत्ति सर्वतस्तर्दनं पूरणं करोति। उपसर्गवशादौचित्याच्च तृणत्तिधातोरर्थान्तिरे वृत्तिः। सर्वदा वेदं यः श्रावयतीत्यर्थः। किं कुर्वन् ? अदुःखं कुर्वन्। मन्दप्रज्ञस्य माणवकस्य आदावर्धर्चमृचं वा ग्रहीतुमशक्तस्य यथा दुखं न भवति तथा पदं पादैकदेशं वा ग्राह्यन्। किञ्च अमृतं सम्प्रयच्छन्। अमृतत्वस्य देवजन्मनो मोक्षस्य वा प्रापकत्वादमृतं वेदार्थः, तस्य प्रदानं कुर्वन्। तं तादृशमाचार्यं सच्छिशष्यो मुख्यमातापितृरूपं मन्येत। पूर्वसिद्धौ तु मातापितरावधमस्य मनुष्यशरीरस्य प्रदानादमुख्यौ। तस्मै मुख्यमातापितृरुपाय आचार्याय एकैकमपि द्रोहं न कुर्यात्।

यह दूसरा मन्त्र है—

जो आचार्य अपने शिष्यों के कानों को दुःख न पहुँचाता हुआ तथा अमृत रूप मोक्ष-प्राप्ति के हेतुभूत ज्ञान-प्रदान करता हुआ, सत्य वेद-वाणियों से कानों को परिपूर्ण कर देता है, उस उपदेष्टा आचार्य को माता-पिता समझे और उससे कभी भी द्रोह न करे।

ग्रन्थकार इसी मन्त्र के भाव को स्पष्ट करते हैं—पूर्व मन्त्र में आचार्य के नियम को बतला करके इस द्वितीय मन्त्र में शिष्य के नियम को बतलाते हैं। वितथ = अनृत = मिथ्या अर्थात् अपुरुषार्थभूत लौकिक वाक्य, उसके विपरीत सत्य वेद-वाक्य को अवितथ कहते हैं। जो आचार्य इस प्रकार के सत्य वैदिक-वाक्यों से शिष्य के कानों को परिपूर्ण कर देता है। यहाँ पर उपसर्ग के कारण तथा उचित होने के कारण 'तृणत्ति' धातु की अर्थान्तर (भिन्न अर्थ) में शक्ति मानी गयी है। अभिप्राय है कि गुरु सर्वदा वेद-वाक्यों को सुनाता रहता है। क्या करते हुए? कानों को दुःख न पहुँचाते हुए। अदुःख का प्रकार बतलाते हैं—अधिक ग्रहण करने में असमर्थ मन्द बुद्धि वाले छात्रों को पहले आधी ऋचा या एक ऋचा का या एक पद अथवा मन्त्रों के पादों के एकभाग का ग्रहण कराते हुए अर्थात् शिष्य को जैसे कष्ट न हो, वैसे ही प्रेम से बतलावे।

दूसरी बात है कि अमृत प्रदान करते हुए अर्थात् अमृतभूत देवजन्म या मोक्ष के प्रापक होने के कारण वेदों का अर्थ ही अमृत है, उसको प्रदान करते हुए शिष्य के कानों को परिपूर्ण करें। सच्छिष्य उस प्रकार के आचार्य को मुख्य माता-पिता माने। पूर्व से सिद्ध जन्मदाता माता-पिता अधम मनुष्य-शरीर को देने वाले हैं। अतः वे अमुख्य = अप्रधान = गौण हैं। उस मुख्य माता-पिता रूप आचार्य के प्रति कभी भी द्रोह न करे।

अथ तृतीयो मन्त्र :—

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयस्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥ इति ॥

ये त्वधमा विप्रा गुरुणा अध्यापिताः सन्तो विनयोक्त्या तदीयहित-चिन्तनेन शुश्रूषया वा गुरुं नाद्रियन्त, आदररहितास्ते शिष्याभासा गुरोर्न भोजनीया, अनुभवयोग्या न भवन्ति, न हि तेषु गुरुः कृपां करोति। यथैव गुरुणा ते न पालनीयास्तथैव तानधमान् शिष्यान् तच्छ्रुतं गुरुपदिष्टं वेदवाक्यं न पालयति, फलप्रदं न भवतीत्यर्थः।

यह तीसरा मन्त्र है—

जो पढ़ाये हुए ब्राह्मण वाणी, मन और कर्म के द्वारा गुरु का आदर नहीं करते हैं, जिस प्रकार वे गुरु के कृपा-पात्र नहीं हो पाते अर्थात् गुरु ज्ञान के द्वारा उनका पालन नहीं करता; उसी प्रकार उस गुरु की पढ़ायी विद्या भी उस अधम-शिष्य की रक्षा नहीं करती।

ग्रन्थकार इसी के भाव को स्पष्ट करते हैं—जो ब्राह्मणाधम गुरु से शिक्षा प्राप्त कर लेने पर भी विनय-युक्त वाणियों के द्वारा, उनके हितचिन्तन के द्वारा तथा सेवा आदि के द्वारा गुरु का आदर नहीं करते हैं। आदर न करने वाले वे शिष्य के समान भासित होने वाले गुरु के अनुभव-योग्य नहीं होते अर्थात् उन पर गुरु कृपा नहीं करते। जिस प्रकार वे गुरु के द्वारा पालनीय नहीं होते, उसी प्रकार उन अधम शिष्यों का गुरु के द्वारा उपदिष्ट वेद-वाणी भी पालन नहीं करती अर्थात् फल-प्रदान करने वाली नहीं होती। अतः सदा गुरु का आदर करना चाहिए। भर्तृहरि ने भी कहा है कि 'अनुपासितवृद्धानां विद्या नातिप्रसीदति' इत्यादि।

अथ चतुर्थो मन्त्रः —

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।

यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह;तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥ इति।

हे आचार्य! यमेव मुख्यशिष्यं शुचित्वादिगुणोपेतं जानीयाः, किञ्च यो मुख्यशिष्यस्तुभ्यं कदाचिदपि न द्रुह्येत, तस्मै तु मुख्यशिष्याय त्वदीय-निधिपालकाय हे ब्रह्मन्! वेदरूपां मां विद्यां ब्रूयाः। इत्थं विद्यादेवतया प्रार्थितत्वादाचार्येण मुख्यशिष्याय वेदविद्या उपदेष्टव्या।

तदर्थमृग्वेदोऽस्माभिः षडङ्गानुसारेण व्याख्यायते।

यह चौथा मन्त्र है—

हे आचार्य! आप जिस शिष्य को पवित्र, प्रमाद-रहित, मेधायुक्त तथा ब्रह्मचर्य को पालन करने वाला समझें और जो आप से कभी एक बार भी द्रोह न करे, उस निधि के पालन करने वाले सच्छिष्य को मुझे प्रदान करें अर्थात् वेद को पढ़ावें, दूसरे असच्छिष्य को नहीं।

ग्रन्थकार इसका भाव स्पष्ट करते हैं—विद्या कहती है कि हे आचार्य! जिस मुख्य शिष्य को पवित्रता आदि गुणों से युक्त समझें और जो उन सद्गुणों से सम्पन्न मुख्यशिष्य तुम्हारे प्रति कभी भी द्रोह न करे। उस तुम्हारे निधि को पालन करने वाले मुख्यशिष्य के लिये मुझे वेद-वाणी को दें अर्थात् पढ़ावें, अन्यथा नहीं। इस प्रकार विद्या के अभिमानिनी देवता के द्वारा प्रार्थित होने के कारण आचार्य मुख्यशिष्य के लिये ही वेद-विद्या का उपदेश करे। उस वेद-विद्या के ज्ञान के लिये वेद के छहों अङ्गों के अनुसार मेरे (सायणाचार्य) द्वारा वेद की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है।